हिन्दी के आदि कालीन काव्य रूपों का अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी. फिल् उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

अनुसन्धाती

मीता सक्सेना

एम० ए० हिन्दी, राजनीति शास्त्र, बी० एड०, शोध छात्रा इलाहाबाद

विश्वविद्यालय इलाहाबाद

निर्देशिका

डॉ० शैल पाण्डेय

वरिष्ठ प्रवक्ता हिन्दी विभाग, इलाहाबाद-विश्वविद्यालय

हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

अक्टूबर 1993

पूज्य माता-पिता को समर्पित

आत्म निवेदन

मैं अपना शोध - प्रबन्ध प्रस्तुत करने में आज अपार हर्ष का अनुभव कर रही हूँ । कोई भी कार्य जो बहुत ही उत्साह से प्रारम्भ किया जाय, कार्य की समाप्ति तक उत्साह का वही प्रारूप बना रहे, यह सब समय और परिस्थितियों पर निर्भर करता है । मेरे शोध - कार्य की इस यात्रा में भी कई पड़ाव आये, पर लगन और कठिन परिश्रम रूपी बैसाखियों से मैंने सभी पड़ावों को सफलतापूर्वक पार किया और अन्त में परिणाम पक्ष में, आशानुकूल रहा ।

जहाँ तक प्रस्तुत शोध के सम्बन्ध में आभार - प्रदर्शन तथा कृतज्ञता ज्ञापन का प्रश्न है, तो सर्वप्रथम मैं अपने माता-पिता के प्रति अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे शोध - कार्य करने के लिए प्रेरणा, प्रोत्साहन तथा सहयोग का मजबूत सम्बल प्रदान किया । साथ ही इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अध्यक्ष पद पर आसीन डा० राजेन्द्र वर्मा की हार्दिक आभारी हूँ जिन्होंने मुझे उचित विषय के चयन में सहायता प्रदान की और शोध - कार्य करने की अनुमति प्रदान की, जिस पर मैं रुचिनुकूल कार्य कर सकी । शोध कार्य की निर्देशिका परम - विदुषी डा० प्रेम पाण्डेय (वरिष्ठ प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद) की अनुकूल सद्भावनाओं एवम् निर्देशन के परिणाम स्वरूप मैंने यह लक्ष्य प्राप्त किया, उनके उदार सहयोग, सक्रिय सहायता, अमूल्य निर्देशन एवम् आशीर्वाद के बिना मैं इस शोध - कार्य

की पूर्ति की कल्पना भी नहीं कर सकती थी । उनके अनुग्रह की मैं विनम्र हृदय से आभार प्रकट करती हूँ ।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, हिन्दुस्तान ऐकेडमी, केन्द्रीय पुस्तकालय इलाहाबाद तथा इलाहाबाद के समस्त पुस्तकालयों से मुझे पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई है । मैं इन पुस्तकालयों के कर्मचारियों तथा अधिकारियों की कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने शोध - कार्य पूर्ण होने में पुस्तकों का अभाव दूर किया । इसके अतिरिक्त मैं अपनी छोटी बहन रीता के पूर्ण सहयोग के प्रति कृतज्ञता का ज्ञापन देना उसके प्रति तुच्छ औपचारिकता समझती हूँ, इसलिए मैं कहूँगी उसका सहयोग मेरे जीवन में अविस्मरणीय है । साथ ही अपने प्रिय अनुजों अनिल, सुनील, रंजन के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने पग - पग पर प्रेरणा तथा अपूर्व सहायता प्रदान की ।

अपनी सहेलियों तथा सहयोगियों - बबली, सावित्री, अनीता, ज्योत्स्ना, कल्पना, ममता, प्रेम शंकर पाठक अनुराग तथा राज नारायण पाण्डेय आदि की सत् प्रेरणाओं एवम् सद्भावनाएँ सर्वथा अविस्मरणीय हैं ।

शोध प्रबन्ध के स्वच्छ व सुन्दर टंकण प्रक्रिया में चन्द्र शेखर अरोरा एवम् रवीन्द्र के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने बड़ी तत्परता एवम् सावधानी से टंकण कार्य निर्बाध प्रगति से सम्पन्न किया ।

तथापि यन्त्रगत विवशता के कारण जो अशुद्धियाँ रह गई हैं, मैं उसके लि

विबुध - चरणों में भूयोभूय: क्षमा प्रार्थी हूँ ।

अन्तत: इस प्रबन्ध की परिपूर्ति में सहयोग तथा प्रोत्साहन करने वाले उन सभी व्यक्तियों के प्रति कृतज्ञता निवेदन करती हूँ ।

भवनिष्ठ,

मीता सक्सेना

﴾ कु0 मीता सक्सेना ﴿

५.९.९३

दिनांक:

भूमिका

हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक काल "आदिकाल" अपने गर्भ में उस समय के अपार साहित्य को समाये हुए है । इसी "आदिकालीन काव्य रूपों का अध्ययन" विषय को मैंने अपने शोध - कार्य के लिए चुना है । इसमें आदिकाल की पृष्ठभूमि का राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक दृष्टिकोण से अवलोकन करते हुए आदिकाल के काल-विभाजन तथा नामकरण पर दृष्टि डाली है । आदिकाल का सम्पूर्ण साहित्य उपलब्ध न होने के कारण साहित्य की प्रामाणिकता का प्रश्न, साहित्य की कसौटी के मापदण्ड की समस्या, हिन्दी भाषा के आदि रूप का निश्चित होना आदि समस्यायें उत्पन्न होती हैं । विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखे गये प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थों का सम्यक विवेचन करते हुए आदिकाल का समय मोटे तौर पर 10 वीं से 15 वीं शताब्दी तक माना है । आदिकाल में मिलने वाले अधिकांश काव्य रूपों की झलक 10 वीं शताब्दी से पहले मिलने लगी थी, परन्तु उसकी स्पष्ट पृष्ठभूमि 10 वीं शताब्दी में ही तैयार हो पायी थी, जिसकी विस्तृत व विकसित परम्परा परवर्ती समय में देखने को मिलती है परन्तु हमने 15 वीं शताब्दी का समय आदिकाल की सीमावधि के लिए चुना है जो काव्य-रूपों की दृष्टि से उचित है, क्योंकि 10 वीं से 15 वीं शताब्दी के मध्य ही हमें आदिकालीन काव्य-रूपों की महत्वपूर्ण रचनाएँ प्राप्त हुई हैं । जहाँ तक नामकरण का प्रश्न है तो द्विवेदी जी

द्वारा दिया गया नाम "आदिकाल" ही प्रयुक्त हो रहा है, वही बहुत उपयोगी भी है ।

आदिकाल में प्राकृत अपभ्रंश परम्परा से जो काव्य रूप आए उनमें रासक, चरित काव्य, फागु, वेलि, मंगल, कथा - काव्य, चर्चरी आदि प्रमुख हैं । राजस्थान की लौकिक पृष्ठभूमि पर मानव जीवन की वैविध्य-पूर्ण साहित्यिक परम्पराओं से भी अनेक काव्य रूपों का उद्भव एवम् विकास हुआ है जो आदिकाल की अनमोल निधि है। इसमें प्रमुख काव्य रूप हैं - ख्यात, बात, विगत, वंशावली, रासो, विलास, पीढ़ी, प्रकाश, रूपक तथा वचनिका । इस काल के काव्य - रूपों का स्वरूप छन्द प्रधान, विषय प्रधान भी है । इसे राग, कथा, उपासना, इतिहास, संख्या आदि नामों से भी अभिभूत किया गया है । ये काव्य रूप खण्ड-काव्य, महाकाव्य, एकार्थ काव्य, कथा - काव्य तथा प्रबन्ध काव्य रूपों में भी वर्गीकृत किये जा सकते हैं । परन्तु शैली और शिल्प के आधार पर वर्गीकरण करना बहुत सही नहीं प्रतीत होता है । आदिकालीन साहित्य में विशाल संख्या में प्राप्त काव्य रूप अत्यन्त व्यापक विषम स्थिति उत्पन्न कर देते हैं । एक ओर काव्य प्रवृत्ति का ध्यान रखना पड़ता है दूसरी ओर काव्य रूप के स्वरूप का । विभिन्न काव्य रूप भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों में प्राप्त होते हैं, जैसे "रास" शीर्षक रचनाओं को लें, तो धार्मिक काव्य में भी मिलेंगे; उपदेश मूलक, श्रृंगार परक तथा प्रशस्ति मूलक वीर रसात्मक भी हैं । इसी प्रकार फागु संज्ञक रचनाएँ चरित प्रधान, श्रृंगार प्रधान,

तथा धार्मिक उपदेश मूलक हैं । बावनी शीर्षक रचनाएं भी धार्मिक, लौकिक पृष्ठभूमि की रचनाएं हैं । बेलि संज्ञक रचनाएं लौकिक बेलि आदि साहित्य, जैन बेलि साहित्य तथा ऐतिहासिक बेलि आदि रचनाएं हैं । आदिकाल में हमें कुछ प्रमुख काव्य रूप - रास, फागु, बेलि बावनी, चर्चरी, मंगल काव्य, षड्ऋतु और बारहमासा तथा पवाड़ा पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं, जिसकी स्पष्ट विकसित परम्परा है ।

आदिकाल की सामग्री - प्रामाणिक, अप्रामाणिक तथा नवोपलब्ध का जाल सा बिछा हुआ है । इस जाल को सुलझाने तथा हटाने के लिए हमने उन्हीं रचनाओं को लिया है, जो आदिकाल की सीमावधि 10 वीं से 15 वीं शताब्दी के अन्तर्गत हिन्दी की प्रामाणिक साहित्यिक रचनायें हैं । इस प्रकार 10 वीं से 15 वीं शताब्दी के 500 वर्षों के आदि-कालीन साहित्य के काव्य रूपों को प्रकाश में लाने का प्रयास किया है । इसके अतिरिक्त तीन प्रकार की उन रचनाओं को भी शोध कार्य में लिया है - जो अपभ्रंश की रचनायें हैं, परन्तु उनमें हिन्दी का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा था । दूसरे प्रकार की वे रचनाएं हैं जो आदिकाल की सीमावधि के बाद या पहले की रचना है परन्तु वह साहित्यिकता से परिपूर्ण ख्याति प्राप्त रचनायें हैं । तीसरे प्रकार की वे रचनायें हैं, जो प्रामाणिकता तथा अप्रामाणिकता के विवादास्पद रूप से निकलने का प्रयास कर रही हैं, जिसमें पृथ्वीराज रासो प्रमुख है । आदिकाल में एक ही काल-खण्ड की रचनाओं में विभिन्न काव्य-प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं इसके अतिरिक्त कुछ स्फुट साहित्य भी प्राप्त होता है । अध्ययन की सुविधा के लिए

आदिकाल के काव्य रूपों को प्रवृत्तियों के अनुसार वर्गीकृत किया जा सकता है । धार्मिक आध्यात्मिक काव्य - सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य, जैन साहित्य, सूफी तथा सन्त काव्यों के रूप में मिलता है । प्रशस्तिमूलक चरित काव्य तो अधिकांशतः राजस्थान में रचे गये । स्वतन्त्रता पूर्व राजस्थान अनेक छोटे-छोटे खण्डों में बँटा था इसकी गौरवपूर्ण परम्परा रही है । इस विशाल राज्य का साहित्य, संगीत तथा कला को समृद्ध करने में विशेष योगदान देता है । यहाँ के वीरों, कलाकारों, सन्तों, साहित्यकारों की परम्परा विशेष उल्लेखनीय है । राजस्थान के संतों पर गोरखनाथ आदि प्राचीन सन्तों की रचनाओं का प्रभाव रहा । इसलिए उन्होंने हिन्दी, राजस्थानी मिश्रित भाषा में साहित्य निर्माण किया । इसे "सधुक्कड़ी भाषा" कहते हैं । 11वीं शताब्दी तक आते-आते अपभ्रंश भाषा दो रूपों में विभक्त हो गयी । पहला रूप व्याकरण के नियमों में बँधकर स्थिर हो गया, पर दूसरा रूप बराबर विकसित होता रहा, जिसमें कालांतर में तीन उपभेद - नागर, उप नागर और ब्राचड़, इसी नागर अपभ्रंश जिसका जन्म शौर सेनी प्राकृत से हुआ, मुख्य है । इसी नागर अपभ्रंश से राजस्थानी भाषा का जन्म हुआ इसी के साहित्यिक रूप का नाम डिंगल है जो पश्चिमी राजस्थानी के लिए प्रयुक्त होता है और पिंगल शब्द का प्रयोग ब्रजमिश्रित राजस्थानी के लिए था जो शौरसेनी अपभ्रंश के अधिक निकट है ।

श्रृंगारिक तथा रोमांचक काव्य की श्रृंखला में प्रेम कथा काव्यों के रूप अधिक मात्रा में मिलते हैं । कुछ श्रृंगारिक काव्य ऐसे हैं जिसमें धार्मिक भावना को मुख्य ध्येय में रख कर इसकी रचना की गई । पूर्णतया श्रृंगारिक काव्य की अन्त में शान्त रस में परिणति होती है, जो रचना का मुख्य उद्देश्य होता है । व कवि अपने ध्येय की पूर्ति करता है। इस तरह के काव्य धार्मिक भावना से ओत-प्रोत हैं । इसके अलावा कुछ विशुद्ध लौकिक श्रृंगारिक काव्य हैं, जो शुद्ध मनोरंजनार्थ लिखे गये व जिनका गीत व नृत्य के रूप में प्रयोग हुआ है । इन श्रृंगारिक काव्यों में श्रृंगार के संयोग व वियोग दोनों पक्षों का सफल चित्रण, नायिकाओं के सौन्दर्य वर्णन में नख-शिख वर्णन, षट्ऋतु एवम् बारहमासा का वर्णन भी मिलता है । श्रृंगारिक व रोमांचक काव्य की यह प्रवृत्ति आगे चल कर उत्तर मध्यकाल में और अधिक विकसित हुई, जिसके कारण हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस युग का नामकरण "श्रृंगार काल" के रूप में किया गया ।

स्फुट साहित्य शीर्षक से भी आदिकाल रिक्त नहीं है । इसमें खड़ी बोली, दक्खिनी हिन्दी का पर्याप्त साहित्य मिलता है । दक्खिनी के काव्यों में ख्वाजा बन्दे नवाज गेसू दराज का काव्य मुख्य है तथा उत्तरी भारत की खड़ी बोली की रचनाओं में कुतुब शतक रचना तथा अमीर खुसरो का काव्य उल्लेखनीय है । साथ ही मसऊद कवि शेख फरीद्दीन शकर गंजी और शेख शर्फुद्दीन बू अली कलन्दर आदि की कविताओं का पता चलता है ।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध ग्रंथ में हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल "आदिकाल" की सम्पूर्ण साहित्य सामग्री का विवेचन करते हुए उस युग के साहित्य के काव्य - रूपों का विवेचन प्रवृत्तियों के आधार पर किया गया है। इस शोध के लेखन में जिन मान्य विद्वानों की रचनाओं से सहायता सुलभ हुई मैं उन सबकी हृदय से आभारी हूँ।

मीता सक्सेना
इलाहाबाद

5 सितम्बर, 1993

अनुक्रम

4- <u>धार्मिक आध्यात्मिक काव्य</u> :- §क§ सिद्ध साहित्य -
सरहपा, शबरपा, लुइपा, दारिकपा, डोम्बीपा,
कुक्कुरिपा, मीनपा, कण्हपा, वीणपा, भुसुकपा,शान्तिपा ।

§ख§ नाथ साहित्य - नाथों का समय, नाथों की संख्या तथा पंथ, वेशभूषा, साधना प्रणाली, मत्स्येन्द्रनाथ या मच्छन्दरनाथ, जालन्धर नाथ, गोरखनाथ की हिन्दी रचनाएँ, गोरखनाथ का परवर्ती हिन्दी साहित्य पर प्रभाव, भर्तृहरि, चौरंगीनाथ ।

§ग§ जैन साहित्य - प्रबन्ध काव्य - स्वयंभुदेव, पुष्पदन्त, पद्मकीर्ति, माइल्ल धवल, उपदेशात्मक काव्य - आचार्य देवसेन, जिनदत्त सूरी रहस्यवादी काव्य - योगीन्दु मुनि, लक्ष्मीचन्द, मुनि राम सिंह, हिन्दी साहित्येतिहास में जैन साहित्य का स्थान ।

§घ§ सूफी एवम् सन्त काव्य - §अ§ सन्त काव्य - दक्षिण भारत की सन्त परम्परा - आलवार भक्त, आचार्य, आचार्य नाथमुनि, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, विष्णु स्वामी, मानभाव सम्प्रदाय, महाराष्ट्र के सन्त - वारकरी सम्प्रदाय, उत्तर भारत की सन्त परम्परा - जयदेव, नामदेव, सधना, त्रिलोचन, संतवेनी, सन्त लल्ला, रामानन्द सेन, पीपा

अध्याय - 1

हिन्दी साहित्य के आदिकाल की पृष्ठभूमि

काल-विभाजन व नामकरण

हिन्दी साहित्य के दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के आरम्भिक रचनाकाल को इतिहासकारों ने आदिकाल कहा है। इन चार सौ वर्षों के अन्तर्गत एक ही समय तथा परिस्थितियों में लिखी गई हिन्दी की शताधिक रचनाओं में इतनी अधिक विभिन्नता है, जो किसी के लिए भी कौतूहल का विषय बन सकता है। हिन्दी साहित्य का यह उद्भव काल या आरम्भिक काल अत्यन्त विवादास्पद होते हुए भी स्वयं में अत्याधिक महत्वपूर्ण विषय रहा, जिसमें विभिन्नता चतुर्मुखी रूप से दृष्टि-गोचर हो रही थी। इस काल में एक ओर संस्कृत के प्रतिभाशाली विद्वान उत्पन्न हुए, इन विद्वानों ने अलंकृत काव्य परम्परामन्य पद्धतियों के अनुसार अपने काव्य का सृजन किया। उनकी ये रचनाएँ अलंकृत काव्य परम्परा के सर्वश्रेष्ठ शिखर पर पहुँच गई थीं।

दूसरी और इससे अत्यन्त पृथक अपभ्रंश के महान कवि हुए, जिन्होंने उस समय की प्रचलित देशी भाषाओं अर्थात् जनपदीय विभाषाओं के माध्यम से अत्यन्त सरल शैली में अपने मार्मिक हृदय स्पर्शी मनोभावों को प्रकट किया। इसके साथ-ही-साथ बौद्ध, सिद्ध, जैन, सन्त और अनेक धर्म प्रवर्तक प्रतिभाशाली विद्वानों का उद्भव भी इसी काल में हुआ। इन्हीं विभिन्नताओं को देखकर डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस काल को "भारतीय विचारों का मंथन काल तथा स्वतोव्याघातों का युग कहा है।"

इन विभिन्नताओं के रूप ने धर्म, संस्कृति, साहित्य, दर्शन और समाज आदि सभी क्षेत्रों में मुखरित होकर उस काल में क्रान्ति उपस्थित की। यही नहीं लगभग सभी देशी भाषाओं का उद्भव-विकास-प्रगति में सहयोग प्रदान करने का दायित्व आदिकाल को ही है। भाषा विकास की दृष्टि से तो इसका महत्व अनन्य है, क्यों कि कोई भाषा या बोली अनायास ही नहीं उपजती। साहित्य समाज का दर्पण है समाज की जैसी परिस्थितियाँ-स्थितियाँ होती है तदनुसार साहित्य व कला का रूप निर्धारित

होता है । किसी भाषा के बीजारोपण से लेकर अंकुरित होने तथा पल्लवित व पुष्पित होने तक की एक लम्बी विकास की प्रक्रिया की आवश्यकता होती है । इसी प्रक्रिया के परिणाम-स्वरूप हम हिन्दी को इस काल में अपने संकुचित दायरे से ऊपर उठकर एक स्वतन्त्र व्यापक बोली के रूप में साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश करता हुआ देखते हैं । आरम्भ में वह सहअस्तित्व की सी नीति अपनाती हुई दिखाई पड़ती है । वैसे तो हिन्दी का विकास प्राकृतो अपभ्रंशों से होता हुआ संस्कृत से हुआ है, अपभ्रंश भाषा व हिन्दी के मध्य भी एक संक्रांति कालीन भाषा की बात कही जाती है, यह भाषा अवहट्ठ या पुरानी हिन्दी है । यद्यपि अपभ्रंश अपने मूल रूप में 15वीं शताब्दी तक साहित्य की भाषा के पद पर आसीन रही, तथापि हिन्दी का प्राचीन रूप "चन्दवरदाई" के समय से मिलने लगा है । "चन्द" से पूर्व हेमचन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण में जो उदाहरण दिये हैं, उनसे ज्ञात होता है कि हेमचन्द्र के समय से पूर्व हिन्दी का विकास हो गया होगा । सन् 1877 ई0 में "पिशेल" ने हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत

व्याकरण का सुसंपादित संस्करण निकाला था, जो उनका अत्यन्त सराहनीय प्रयास था । इस पुस्तक के अन्त में प्राकृतों से भिन्न अपभ्रंश भाषा का व्याकरण प्रस्तुत किया गया है । इसके अतिरिक्त अपभ्रंश के पदों के उदाहरण के लिए अपभ्रंश के कुछ पद्य, जिसमें अधिकांशतया दोहे हैं, उद्धृत किये गये हैं ।

इससे ज्ञात होता है कि हेमचन्द्र के समय से पूर्व ही हिन्दी का विकास आरम्भ हो चुका होगा । जो बाद में "चन्द" के समय तक आते-आते स्थिर होने लगा था ।

इस दृष्टि से हिन्दी का आदिकाल 10 वीं शताब्दी विक्रमी से माना जा सकता है इसी समय के रचित अपभ्रंश साहित्य में देशी शब्दों का प्रयोग अत्यधिक होने लगा, जिसके परिणामस्वरूप हेमचन्द्र जी ने उन्हें देशी "नाममाला" में संग्रह करना उचित समझा । हिन्दी शब्दों की इसी अधिकता को लक्ष्य करके महापंडित राहुल सांकृत्यायन और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जैसे विद्वानों ने इस भाषा को पुरानी हिन्दी के नाम से सम्बोधित किया है ।

अतः हम कह सकते हैं कि 1000 वीं ई0 के लगभग साहित्य में हिन्दी का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में होने लगा था। इसी-लिए हिन्दी का विकास इसी समय से ही मानना चाहिए।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य का आरम्भ संवत् 1015 से माना है तथा अन्य विद्वान् भी लगभग इसी समय को हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक काल मानते हैं।

हिन्दी साहित्य के साथ - साथ चलकर ही हम हिन्दी भाषा के विकास क्रम को देख सकते हैं, - क्योंकि इससे पूर्व हिन्दी का कोई भी ऐसा प्रमाण नहीं मिलता है जो कि हिन्दी के स्पष्ट रूप को परिलक्षित करे। डा0 धीरेन्द्र वर्मा ने हिन्दी साहित्य के आदिकाल को प्राचीन काल नाम देते हुए 1000 ई0 से 1500 ई0 तक माना है, जब अपभ्रंश और प्राकृतों का प्रभाव हिन्दी भाषा पर आरूढ़ था। इसके साथ ही हिन्दी की बोलियों का कोई निश्चित स्वरूप नहीं स्पष्ट हो पाया था।

अत: आदिकाल के साहित्य के लिए अवहट्ठ या पुरानी हिन्दी ही व्यवहृत होती थी। भाषा के विकास के लिए भाषा वैज्ञानिक एक सामान्य सिद्धान्त मानते हैं। इस सिद्धान्तानुसार जब एक भाषा अत्यधिक प्रयोग के कारण बहुत प्रचलित हो जाती है, और उसमें पर्याप्त मात्रा में साहित्य सर्जना हो चुकी होती है तो वैयाकरणों का ध्यान उस भाषा पर जाता है और वे उसे व्याकरणबद्ध कर देते हैं। व्याकरणबद्ध हो जाने पर साधारण जनता द्वारा उन नियमों का निर्वाह करना कठिन हो जाता है और वे उन नियमों से बचने का प्रयास करते हैं और उस भाषा का विकास अवरुद्ध हो जाता है। इसी प्रक्रिया में बोल-चाल की भाषा के रूप में परिवर्तन हो जाता है और यही बोलचाल की भाषा कालान्तर में नई भाषा का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। यही सिद्धांत अपभ्रंशों पर भी लागू हुआ। प्राकृतों में साहित्य निर्मित होने लगा तो उसे भी व्याकरण द्वारा बाँध दिया गया तो जनता बोलचाल के नवीन रूप को अपनाने लगी। इस नवीन बोलचाल की भाषा को प्राकृत के पण्डितों ने अपभ्रंश नाम दिया, क्यों कि वह उनके

व्याकरण विरुद्ध अपभ्रष्ट या बिगड़ी हुई भाषा थी । अपभ्रंश के उपरान्त हिन्दी भाषा का उद्भव इसी सिद्धान्त के आधार पर हुआ ।

इस काल को भली-भाँति समझने और परखने हेतु इसकी पृष्ठभूमि और तत्सम्बन्धी विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों का निरीक्षण करना होगा ।

राजनीतिक परिस्थिति

हिन्दी साहित्य के लगभग प्रारम्भिक काल में भारतीय राजनीतिक जीवन के विशृङ्खल होने का इतिहास प्रारम्भ हो जाता है । इस कालावधि के राजनीतिक घटनाओं का प्रभाव हिन्दी साहित्य की भाषा और भाव दोनों में ही स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है । प्राचीन इतिहास में उत्तर भारत के थानेश्वर का सम्राट हर्षवर्धन का साम्राज्य अन्तिम भारतीय साम्राज्य था, साथ ही उसका अन्तिम महान सम्राट हर्षवर्धन ही था । हर्षवर्धन के समय से ही यवन वाहिनियों के आक्रमण आरम्भ हो गये थे, धीरे-धीरे इन यवन वाहिनियों का वेग बढ़ता चला गया । हर्षवर्धन ने दृढ़ता तथा वीरता से उसका सामना

उसकी प्रतिरोध करने की शक्ति दिन प्रतिदिन क्षीण होने लगी, जिसके परिणामस्वरूप उसका सुख-समृद्धि से परिपूर्ण विशाल वर्धन साम्राज्य भी लड़खड़ा उठा और 647 ई0 में महान् सम्राट हर्षवर्धन की मृत्यु हो गयी । उसकी मृत्यु के उपरान्त भारत की संगठित सत्ता खण्ड-खण्ड हो गई, जिससे देश की शक्ति भी छिन्न-भिन्न हो गयी और किसी का एकाधिपत्य न रहा और अनेक छोटे-छोटे राज्यों का अभ्युदय हुआ जैसे गुर्जर §पश्चिमी राजस्थान और मालवा§, गुप्त §मगध§, तोमर, राठौर, चौहान, चालुक्य, चन्देल आदि-परन्तु यह राज्य आपस में ही लड़भिड़ कर अपनी शक्ति का ह्रास करने लगे । दिन-प्रतिदिन युद्धों की ज्वाला और अधिक प्रज्जवलित होने लगी, युद्धों के कारण थे - शासकों का मिथ्याभिमान, दूसरे सामन्त की सुन्दरी का अपहरण अथवा कभी-कभी मनोरंजन या शौर्य प्रदर्शन मात्र ।

उत्तर भारत में उस समय मुख्य आठ सत्ता केन्द्र थे -

§1§ काश्मीर प्रथम सत्ता केन्द्र था काश्मीर में ही कारकोट में

उत्पल और लोहर वंश का प्रभुत्व रहा । कन्नौज द्वितीय सत्ता केन्द्र था जहाँ सातवीं आठवीं शताब्दी में प्रतिहार वंशीय क्षत्रियों का राज्य था । इस वंश का शक्तिशाली राज्य यशोवर्मन था ग्यारहवीं शताब्दी में कन्नौज काशी के गहरवार राजा चन्द्रदेव के अधिकार में आ गया था । जयचन्द इस वंश का अन्तिम सम्राट था । अजमेर तृतीय तथा दिल्ली चतुर्थ उत्तर भारत के सत्ता केन्द्र थे, जहाँ पर चौहान वंश का प्रभुत्व छाया हुआ था । पृथ्वीराज चौहान इस वंश का अन्तिम प्रभावशाली शासक था । जिसने सन् 1191 ई0 में तराइन के प्रथम युद्ध में मुहम्मद गोरी को पराजित किया, तथा सन् 1192 ई0 में तराइन के द्वितीय युद्ध में मुहम्मद गोरी द्वारा ही स्वयं पराजित हुआ । पाँचवाँ सत्ता केन्द्र था बुन्देलखंड, जहाँ पर चन्देल वंश का राज्य था । मदनवर्मन, परमाल आदि इस वंश के प्रसिद्ध शासक हुए । छठवाँ सत्ता केन्द्र था मालवा, जहाँ पर परमार वंशीय क्षत्रियों का शासन था । मुंज और भोज इस वंश के प्रभावशाली शासक थे । जिनके दरबार में धनपाल, पद्मगुप्त, धनंजय धनिक जैसे आदि विद्वान रहते थे । ये शासक

शस्त्र और शास्त्र दोनों के अनुरागी थे जिसमें इन्हें महारथ हासिल थी । गुजरात सातवां सत्ता केन्द्र था जहाँ पर सोलंकी वंश का शासन था । शौर्य और विद्वता में यह वंश किसी से कम नहीं था । कुमार पाल और सिद्धराज इस वंश के सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त शासक थे । जिनकी शौर्य गाथायें आज भी प्रसिद्ध हैं । प्रसिद्ध जैन कवि और वैयाकरण हेमचन्द्र इन्हीं के दरबार की शोभा था । कर्ण इस वंश का अन्तिम शासक था, जिसे अलाउद्दीन के सेनानायकों ने पराजित किया था । आठवां मुख्य सत्ता केन्द्र था ग्वालियर ।

इन प्रमुख सत्ता केन्द्रों के अतिरिक्त अन्य और भी छोटी-छोटी सत्तायें थीं । अत: उत्तर भारत में वर्द्धन साम्राज्य की समाप्ति के उपरान्त जो कलह और विघटन की प्रवृत्ति का आरम्भ हुआ, वह सर्वथा विनाश की ओर अग्रसर होती रही । जिसके परिणामस्वरूप उस समय भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करने में सामान्तवादी प्रथा काफी प्रभावी रही । सामान्तवादी प्रथा को प्रोत्साहन मध्ययुगीन अराजकतापूर्ण परिस्थितियों से भी प्राप्त हुआ । जनता भी सामन्तवादियों का

मुख देखने लगी, और उसका अपने देश तथा साम्राज्य के प्रति मोह कम हो गया । तत्पश्चात् सैनिक शक्ति क्षीण होने लगी और देश अनेक राज्यों में बँटकर एकरूपता और संगठन विहीन हो कर सामने आया । सामान्तगण अपने हित तथा स्वार्थों में लिप्त थे, जिसको प्राप्त करने के लिए अत्यधिक क्रूर तथा अतातायी बन जाते थे, और जनता के प्रति अपने कर्त्तव्यों पर जरा भी ध्यान नही देते थे । इसके अतिरिक्त वे प्रान्तीयता और स्थानीयता की भावना को प्रबल करते गये । इस राजनीतिक अराजकता पूर्ण स्थिति में जनता इतनी द्रवित तथा उदासीन हो गयी थी कि राजवंशों के परिवर्तन भी इनकी उदासी को लेशमात्र भी दूर करने में प्रभावी सिद्ध नहीं हुए । जनता अपनी सुरक्षा और जीविका तक ही सीमित रह गयी, यही कारण था कि उन्होंने विदेशी राजवंशों को सहर्ष स्वीकार किया ।

भारतवर्ष की भेद-भाव, गृह कलेश, और जर्जर अवस्था में इस्लाम धर्म सामनता का उद्घोष करता हुआ आया साथ ही लाया शस्त्रों की अपार शक्ति । सामनता के उद्घोष ने भारतीय

उद्घोष की छाँह में राहत की साँस लेने लगी साथ ही ऊपर उठने के स्वप्न भी देखने लगी। इस्लाम के समानता के मन्त्र ने रूढ़ियों और परम्पराओं को हिला के रख दिया।

इस्लामी समाज एक नई शक्ति और स्फूर्ति से परिपूर्ण था। इतना ही नहीं इस शक्ति और स्फूर्ति का संचार उसने बर्बर समझी जाने वाली जातियों में भी किया तथा उनमें नेतृत्व की लालसा को जागृत किया। भारतवर्ष ने जिसे दबा रखा था, इस्लाम के आगमन से वह उठ खड़े हुए और आशा की ज्योति उनकी आँखों में चमक उठी। अत: धीरे-धीरे भारतवर्ष अपने ही कारण अपनी चेतना विलीन करता जा रहा था। परिणामस्वरूप उत्तर भारत का बहुत बड़ा भाग इस्लामी झण्डे के नीचे आ गया था। इसी समय भारत की उत्तरी सीमा पर मुसलमानों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे। इन आक्रमणों का आरम्भ आठवीं शताब्दी से होता है। भारत को सर्वप्रथम अरबों के आक्रमणों का सामना करना पड़ा इसके उपरान्त युद्धों का सिलसिला चलता रहा। अरबों के

उपरान्त तुर्कों से गोरों ३गोर३ से भी सम्पर्क हुआ । अरबों से तो दक्षिण भारत का व्यापारिक सम्बन्ध तो बहुत पहले से था, किन्तु सातवीं शताब्दी से सिन्धु प्रदेश पर अरबों के आक्रमण प्रारम्भ हो गए थे, इनमें सबसे भयंकर आक्रमण सन् 712 ई0 में मुहम्मद बिन कासिम का था । इस आक्रमण के दौरान उसने असंख्य निरीह जनता को तलवार के घाट उतार दिया । उसमें स्त्री - पुरुष, बूढ़े, बच्चे सभी सम्मिलित थे । साथ ही भारतीय सभ्यता और संस्कृति के धरोहरों और अगणित मन्दिरों को ध्वंस कर दिया । सहस्त्रों हिन्दुओं को इस्लाम धर्म का अनुयायी बनाया और यहाँ की अपार सम्पत्ति को प्राप्त करने में सफल हुआ । अरब अभियान के 300 वर्षों के बाद तुर्कों के आक्रमण भारत पर हुए । अरब केवल लुटेरे थे उनके आक्रमणों का मुख्य उद्देश्य भारत की शक्ति को क्षीण करना तथा लूट की यहाँ की सम्पत्ति से अपने खजाने को भरना था । परन्तु तुर्कों के उद्देश्य इनसे भिन्न थे वे केवल लुटेरे ही नहीं थे वे भारत पर शासन करना भी चाहते थे ।

अतः तुर्क केवल लूटने के उद्देश्य से नहीं आये वरन् वे यहाँ पूरे देश को इस्लाम का अनुयायी बनाने का स्वप्न लेकर आये थे। प्रथम तुर्क सुबुक्तगीन जिसने सन् 986 - 87 में भारत पर आक्रमण किया। किन्तु उसके पुत्र मुहम्मद गजनवी के आक्रमण अत्यधिक भयानक तथा विनाशकारी थे। जिससे जनता को तन, मन, धन तीनों रूपों में अपार क्षति हुई। उसमें आक्रमण करने की अपूर्व लालसा थी उसने सन् 1000 से 1026 ई0 के मध्य मे सत्रह बार भारत पर आक्रमण किया। इन आक्रमणों के द्वारा उसने सीमा प्रान्त, मीरानगर, लाहौर, नगरकोट, थानेश्वर, कन्नौज, कालिंजर, सोमनाथ, आदि के शासकों को पराजित कर इन स्थानों को अपने अधीन कर लिया। उसको इन स्थानों से हीरा जवाहरात, सोना चाँदी तथा अतुल सम्पत्ति प्राप्त हुई।

तुर्कों के अभियान में गजनी आक्रमण के उपरान्त गोरों के शासकों के आक्रमण प्रारम्भ हुए। जिसमें मुहम्मद गोरी के आक्रमण सर्वाधिक प्रभावकारी थे। उसी ने दिल्ली के अपार शौर्य से युक्त सम्राट पृथ्वीराज चौहान और कन्नौज के राठौर जयचन्द्र को परास्त किया। उसके इस अभियान को कुतुबुद्दीन ऐबक ने और अग्रसर किया।

इस प्रकार कुछ ही वर्षों में अजमेर, ग्वालियर, कालिंजर, महोबा, चिलर और बंगाल सभी विदेशी आक्रमणकारियों के अधीनस्थ हो गये । चौदहवीं शताब्दी तक आते - आते लगभग समस्त उत्तर भारत विदेशियों के हाथ में चला गया । केवल राजस्थान जो कि वीर राजपूतों से भरा हुआ था, वहीं के कुछ नरेश स्वतन्त्रता के लिए जूझते रहे । परन्तु ये सामूहिक तथा संगठित होकर युद्ध नहीं करते थे जिससे उनके व्यक्तिगत तथा एकाकी प्रयास निरर्थक रहे । उनमें एकता का अभाव था, नहीं तो उनकी शक्ति काफी सुदृढ़ होती, वे समस्त राष्ट्र को एक रूप मानकर नहीं चलते थे, उनमें संघ तथा सहयोग की भावना का अभाव था । उनकी निष्ठा अंचल विशेष तक ही सीमित थी । जिसका भरपूर फायदा आक्रमणकारियों ने उठाया । और उन्हें भी कभी सम्मिलित शक्ति का सामना नहीं करना पड़ा । वे बहुत ही सुगमता पूर्वक एक - एक पर आक्रमण करते गये और उस राज्य की सीमा को अपने राज्य की सीमा में समाहित करते हुए विशाल इस्लाम साम्राज्य की स्थापना करते चले गये । आक्रमणों का यह सिलसिला पन्द्रहवीं शताब्दी ईसवी तक चलता रहा

जिसमें भारतीय इतिहास की राजनीतिक परिस्थिति के अन्तर्गत हिन्दू सत्ता के धीरे - धीरे विनाश तथा इस्लाम सत्ता के धीरे - धीरे उदय होने की दारुण कहानी है ।

यही वह समय था जिसमें उस मन:स्थिति को जन्म दिया, जिसमें कोई भी एक प्रवृत्ति साहित्य में प्रधान रूप में नहीं रह सकी ।

यवन शक्तियों के आक्रमणों का प्रभाव प्रमुख रूप से पश्चिम और मध्य प्रदेश पर ही पड़ा था । इन्हीं क्षेत्रों में जनता सबसे अधिक युद्धों, अत्याचारों और शोषणों से विशेष रूप से त्रस्त रही, और यही वह क्षेत्र था जहाँ हिन्दी भाषा का विकास हो रहा था यही कारण था कि इस काल का समस्त हिन्दी साहित्य आक्रमण और युद्धों के प्रभावों की मन:स्थिति का परिणाम है ।

आदिकाल के इन युद्धों से लिप्त जीवन में कभी भी एकरूपता नहीं रही । एक तरफ विदेशियों के अत्यधिक भयावह आक्रमण तथा अत्याचार हुए दूसरी तरफ अपने देश के राजाओं के शोषण, अत्याचार, मिथ्याभिमान, का क्रम भी निरन्तर बढ़ता

गया । वे पशुबल और आतंक का सहारा लेते और जनता के कल्याण की बात को विस्मृत कर देते थे, वे आपस में युद्ध करते और जनता असुरक्षा महसूस करती और भ्रमित हो उठती ।
पृथ्वीराज चौहान, जयचन्द्र, परमार्दिदेव की पारस्परिक लड़ाइयों ने ही अन्तहीन कहानियों को जन्म दिया । फलत: इन परिस्थितियों में जनता का एक वर्ग ऐसा भी था जो साहस और वीरता के साथ जीवन यापन करना चाहता था । परन्तु दूसरा वर्ग ऐसा भी था जो इस विनाशलीला को देखकर क्षुब्ध हो उठा उसकी आँखें भीग गयीं तथा हृदय द्रवित हो गया जिसके परिणामस्वरूप वह इस संसार से हटकर उस लोक की सोचने लगा था । वह युग एक प्रकार से विदेशी आक्रमणों, देशव्यापी अराजकता, गृहकलह, विद्रोहों और युद्धों का काल था । इस वातावरण से प्रभावित होकर एक तरफ कवि आध्यात्मिक जीवन में विचरण करने की सोचता था तो दूसरी तरफ अन्त समय तक जीवन के सभी रसों को भोग कर लेने के पक्ष में था । इसके विपरीत एक अन्य वर्ग ऐसा भी था जो शौर्य और पराक्रम के गीत गाकर अनुपम गौरव से गौरवान्वित होकर जीना चाहता था जो

कि आदिकाल की राजनीतिक परिस्थितियों की एक अद्भुत देन है ।

इस काल के विभिन्न पारस्परिक या विदेशी आक्रमण-कारियों से हुए युद्धों के मूल में किसी नारी को प्रधान कारण मान लिया गया था, जिसके परिणामस्वरूप स्त्री-भोग, हठयोग से लेकर आध्यात्मिक पलायन और उपदेशों से लिप्त साहित्य का सृजन हुआ तो दूसरी ओर साहित्य रचना के मूल में ईश्वर की लोक कल्याणकारी सत्ता में अटूट विश्वास करने, युद्धों से लिप्त जीवन जीने और संसार को सरसता प्रदान करने की भावना भी सन्निहित हुई ।

इस प्रकार भारतीय इतिहास की राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव उस क्षेत्र के साहित्य पर भरपूर पड़ा । सम्राट हर्षवर्द्धन के दरबार में संस्कृत के कवियों तथा पण्डितों की भरमार थी । अपभ्रंश भाषा और ब्रज भाषा का अस्तित्व बहुत ही क्षीण अवस्था में था । उसे धर्म, राज्य, लोक आदि किसी से भी प्रोत्साहन प्राप्त नहीं था । इसके विपरीत संस्कृत के कवियों को पूर्ण सहयोग तथा प्रोत्साहन प्राप्त था । डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में - "वे बाहर से बुला-बुलाकर अनेक ब्राह्मण - वंशों को

दान देकर काशी में बसा रहे थे संस्कृत को उन्होंने बहुत प्रोत्साहन दिया ।" [1]

परन्तु जब धीरे - धीरे राजपूतों की राजधानियाँ स्थापित होती गयीं, तो लोक भाषा का सम्मान भी बढ़ने लगा और उसे भी सहयोग तथा प्रोत्साहन मिलने लगा । परन्तु मध्यप्रदेश में लोक-भाषा की स्थिति वही बनी रही, वहाँ प्रतिहार और गाहड़वार राजा वैदिक भावना से लिप्त बने हुए थे । अत: "गाहड़वालों के शासनकाल में समूचा हिन्दी भाषी क्षेत्र स्मार्त-मतानुयायी था ।"

इस प्रकार लोक - भाषा जो राजनीतिक परिस्थितियों से घिरी हुई थी, उसे अपने विकास का उचित वातावरण नहीं मिल सका । जो कवि धार्मिक भावना से अनुप्राणित होकर काव्य रचना करते थे, वे स्वच्छन्द होकर काव्य साधना करते थे । परन्तु जो कवि राजाश्रित होते थे, वह अपने राजा को प्रसन्न करने के लिए सर्वश्रेष्ठ योद्धा सिद्ध करने के लिए काव्य रचना करते थे। दूसरी तरफ जो कवि धर्म और राजाश्रय से मुक्त

होकर काव्य का सृजन करते थे, ऐसे कवियों के विकास के लिए उचित वातावरण नहीं था । यही कारण था कि इस समय का अधिकांश साहित्य धार्मिकता से ओत-प्रोत था । इस समय हमें साहित्य के दो प्रधान रूप ही दृष्टिगोचर हुए हैं, प्रथम धार्मिकता से लिप्त साहित्य तथा दूसरी तरफ राज कवि द्वारा अपने-अपने आश्रयदाता को सर्वश्रेष्ठ योद्धा सिद्ध करने के लिए अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णनों से युक्त साहित्य । यह दो प्रधान रूप ही उस कालावधि में सर्वाधिक विकसित हुए जो प्रशंसा और प्रोत्साहन के पात्र बने । जो साहित्य इससे पृथक तथा स्वच्छन्द था, वह जनता को प्रभावित नहीं कर सका, जिस कारण उसे प्रशंसा, प्रोत्साहन तथा विकास से वंचित रहना पड़ा ।

धार्मिक परिस्थितियाँ

आदिकाल की धार्मिक परिस्थितियाँ भी राजनीतिक परिस्थितियों के समान अराजकता पूर्ण थीं । यद्यपि ईसा की छठीं शताब्दी तक देश में धार्मिक वातावरण शान्त था उस समय विभिन्न सम्प्रदायों में सामंजस्य स्थापित होने लगा था साथ ही वैदिक यज्ञ, मूर्तिपूजा तथा जैनधर्म एवम् बौद्ध धर्म की उपासना पद्धतियाँ बिना किसी हस्तक्षेप के समान रूप से एक साथ प्रवाहमय थी, परन्तु यह निस्तब्धता, स्वच्छन्दता तथा सुव्यवस्था कुछ ही

समय तक स्थिर रह सकी और इस युग की शान्ति सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ होने के साथ ही भंग होने लगी । धार्मिक क्षेत्र में उथल-पुथल के युग का आरम्भ हो गया, साथ ही धार्मिक परिस्थितियों में परिवर्तन होने लगा परन्तु इस परिवर्तन का रूख 12 वीं शताब्दी तक संस्कृति के मूलभूत सिद्धान्तों को विशेष रूप से प्रभावित न कर सका वरन उसके वाह्य रूप को प्रभावित किया, जिसका कारण राजपूतों के अधिपत्य का परिणाम था ।

धर्म भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग है, धर्म सम्मत मार्ग पर चल कर ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है ऐसा भारतीयों का विश्वास है । हर्षवर्धन ने अपने शासन काल में बौद्ध धर्म को राज्य का संरक्षण प्रदान किया था । उसकी छत्र छाया में बौद्ध धर्म पुष्प की भाँति खिल कर अपनी सुगन्ध से सभी को आन्दोलित करता रहा था ।

इसके साथ ही उस समय ब्राह्मण धर्म के अन्तर्गत पौराणिकता के प्रति जन कल्याण की आस्था उपज रही थी और ब्राह्मण धर्म भी विभिन्न शाखाओं में विभक्त हो रहा था, जिसमें

शैव मत, वैष्णव मत और शाक्त आदि प्रमुख हैं, साथ ही ये शाखायें धार्मिक और दार्शनिक सम्प्रदायों के रूप में विखण्डित हो रही थीं ।

यह काल भारतीयों के जीवन में विभिन्न धार्मिक मत मतान्तरों के प्रचार का युग था । मूर्तिपूजा, आत्म-पीड़न के माध्यम से जनता मोक्ष प्राप्ति की आशा से आशान्वित थीं । इतना ही पर्याप्त नहीं था, वृक्षों और सर्पों को धर्म का प्रधान रूप मान कर उसकी पूजा का प्रचलन था, जो कि धार्मिक भावना का अद्भुत रूप था ।

भारतीय संस्कृति की महत्वपूर्ण विशेषता है - अनेकता में अन्तर्निहित एकता, इस पर भारतीयों ने सदैव बल दिया है, जो उसकी समन्वयात्मक प्रवृत्ति का द्योतक है । इस सब के बावजूद भी यहाँ विभिन्न धार्मिक परम्पराओं से शिथिलता और मत वैभिन्य उत्पन्न होता है ।

आदिकाल के हिन्दी साहित्य के प्रदेश और उसकी सीमाओं के आस-पास विभिन्न धर्म, मत, साधना के रूप और सिद्धान्तों का जमघट था जिसमें जैन धर्म, बौद्ध धर्म के व्रजयानी रूप,

तान्त्रिक मत, रसेश्वर साधना, उमा महेश्वर योग साधना, सोमसिद्धान्त, वामाचार, सिद्ध और नाथ पंथ, शैव मत, वैष्णव मत, शाक्तमत आदि विद्यमान थे । इन धर्मों के प्रमुख सम्प्रदायों में परस्पर वैमनस्य, प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वन्द्वता उच्च कोटि में विद्यमान थी । जनता में परस्पर सौहार्द और सद्भावना का अभाव था । सभी सम्प्रदाय राज्याश्रय प्राप्त कर दूसरे धर्मों को दबाने में लगे रहते थे, इसके परिणाम स्वरूप देश का विकास अवरुद्ध हो गया था । जनता भ्रमित हो उठी थी तथा राष्ट्रीय शक्ति का ह्रास होने लगा । और धर्म मनुष्य की सामाजिक और राजनीतिक मुक्ति के साधन बनने के स्थान पर विच्छेद भाव को प्रज्जवलित करने के प्रधान साधन बन गये थे । आन्तरिक विद्वेष से देश की जर्जर अवस्था होती जा रही थी तथा उसमें इतिहास से टकराने वाले संकल्प का भी ह्रास हो गया था ।

बौद्ध धर्म का उदय हिन्दू धर्म के प्रतिपक्षी धर्म के रूप में हुआ था । इसके प्रवर्तक गौतम बुद्ध थे । बुद्ध के महान व्यक्तित्व के कारण राजा और प्रजा सभी उनके धर्म के अनुयायी हो गये । बौद्ध धर्म अत्यन्त लोकप्रिय हुआ और राज्याश्रय प्राप्त करके

विकसित हुआ । गौतम बुद्ध के उपदेश का मूल प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धान्त है जिसका अर्थ है - संसार की प्रत्येक वस्तु कार्य और कारण पर आश्रित होती है । दुःख की समस्या बौद्ध धर्म की मूल समस्या है । इसके निराकरण और निरोध हो जाने से मुख्य लक्ष्य निर्वाण की प्राप्ति होती है ।

आदि काल के आरम्भ में ही बौद्ध धर्म हीन यान और महायान की विकासावस्था को प्राप्त कर चुका था और एक नवीन दिशा की ओर अग्रसर था । जिसमें मन्त्र यान और वज्रयान के लक्षण उभरने लगे थे । "हीन यान" का अर्थ है - निकृष्ट हीन या निम्न मार्ग । इस शब्द का प्रयोग महायानियों ने अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए किया । हीन यान बौद्ध धर्म की प्राचीन धारा से सम्बद्ध था । यह कट्टर पंथियों का सम्प्रदाय था । इसमें गृहस्थों के लिए स्थान न था । हीनयानी पवित्रता, सदाचार, नियम पालन पर बल देते थे । व्यक्तिगत साधना पर जोर देते हुए उन्होंने बुद्धोपासना का विरोध किया है । हीन यानियों ने बौद्ध दर्शन और शिक्षा को उसी रूप में रखने का भरसक प्रयत्न किया और वैयक्तिक निर्वाण पर जोर दिया ।

महायान का शाब्दिक अर्थ है – उत्कृष्ट मार्ग

महायान के सिद्धान्त अत्यन्त आकर्षक थे। इसी कारण यह हीनयान की अपेक्षा शीघ्र ही अत्यन्त लोकप्रिय हो गया। राज्याश्रय प्राप्त करने के उपरान्त इसने जन साधारण को प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया। इस सम्प्रदाय का प्रमुख लक्ष्य था सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके संसार के सभी मनुष्यों को दु:ख मुक्त करना। महायान ने अनेक प्राचीन परम्पराओं का पुन: मूल्यांकन किया। महायान शाखा ब्रह्मण धर्म के समान उसमें मूर्ति पूजा और अवतारवाद की भावना को प्रश्रय मिला। कालान्तर में इस सम्प्रदाय में तन्त्र-मन्त्र का जोर हो गया। जन साधारण में देवी देवताओं के प्रति आस्था थी। मन्त्र धारण करना पूर्णता का प्रतीक बना। बौद्ध धर्म में विभिन्न आडम्बरों भूत-प्रेत, इन्द्रजाल, हठयोग, वशीकरण, पंच मकार का प्रवेश हो गया। जिससे दिनोदिन उसका स्वरूप विकृत होता गया। यही तान्त्रिक बौद्ध धर्म कालान्तर में वज्रयान कहलाया। महायान का वज्रयानी रूप सरहपा द्वारा सम्पादित माना जाता है। इसके पश्चात स्थिति यहीं तक स्थिर न रही वरन् इस वज्रयान में भी अनेक मत प्रकट हुए। इसके एक रूप में योग को मान्यता मिली।

सिद्धों के साथ ही नाथों या अवधूतों का नाम लिया जाता था। सिद्धों की वाममार्गी योग प्रधान योग साधना के विरोध में आदिकाल में नाथ पंथियों की हठयोग की साधना आरम्भ हुई। इस मत के प्रवर्तक स्वयं आदि नाथ या शिव माने जाते हैं। इनके बाद मत्स्येन्द्र नाथ व गोरख नाथ का नाम आता है। नाथ पंथ सिद्धों की ही परम्परा का विकसित रूप है, नाथ पंथ का चरमोत्कर्ष 12 वीं से 14 वीं शताब्दी के अन्त में माना जाता है प्राय: सिद्धों व नाथों को एक ही नाम से पुकारा जाता था। इसका कारण यह है कि मत्स्येन्द्र नाथ व गोरख नाथ की गिनती सिद्धों में की जाती है। इस सम्प्रदाय में सिद्धि-साधन योग साधन में निर्विकल्प आनन्दानुभव के साथ ही पंच मकारों व श्री सुन्दरी साधना को स्थान मिला। नाथ वेदों में विश्वास नहीं रखते थे। ये भोग विलास के विरोधी थे। इन्होंने हठयोग का उपदेश दिया। हठ योगियों के सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति ग्रंथ के अनुसार "ह" का अर्थ है सूर्य व "ठ" का चन्द्र इन दोनो का योग ही हठयोग है। हठयोग के अन्तर्गत कुण्डलिनी जागृत करने पर बल दिया

है, कुण्डलिनी जागृत होने पर षट चक्रों को पार करती हुई शिव से जा मिलती है यही आनंद है। आदिकाल में उत्तर भारत की जनता पर नाथ पंथियों का विशेष प्रभाव था। लोगों में तंत्र मंत्र में विश्वास बढ़ गया था। योगियों के दर्शन मात्र से सांसारिक कष्टों का निवारण हो जाएगा ऐसी भावना उत्पन्न हो गई थी। आगे चल कर अनेक नाथों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। जैन धर्म अति प्राचीन धर्म है कतिपय विद्वानों की धारणा है कि जैन धर्म प्रागैतिहासिक है। वे इसका सम्बन्ध मोहन-जोदड़ो से प्राप्त योगि मूर्ति के साथ जोड़ते हैं। कुछ विद्वान ऋग्वेद में वर्णित तपस्वियों और जैन श्रवणों में सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इस धर्म के प्रवर्तक महावीर थे। बौद्ध धर्म की भांति जैन धर्म की मुख्य समस्या दु:ख और दु:ख निरोध है। यह धर्म निवृत्तिमार्गी था। जैन धर्म ने सैद्धान्तिक दृष्टि से ब्राह्मण धर्म के वेदवाद, यज्ञवाद और जातिवाद का विरोध किया। जैन धर्म परम अहिंसावादी था, आगे चलकर यह श्वेताम्बर और दिगम्बर दो शाखाओं में विभक्त हो गया था। सातवीं शताब्दी से ही जैन धर्म सम्मान पाने लगा था। जिस प्रकार पौराणिक

हिन्दू धर्म तथा बौद्ध धर्म राज्याश्रय प्राप्त थे, उसी प्रकार जैन धर्म भी राज्याश्रय प्राप्त था । आदिकाल के समय तक जैन धर्म लगभग समस्त भारत वर्ष में फैल गया था, परन्तु इसका मुख्य प्रभाव क्षेत्र पश्चिमी भारत था । जैन मत के साथ शैव मत भी गतिमय रहा जो आगे चल कर एक-दूसरे का प्रतिद्वन्दी सिद्ध हुआ और आगे बढ़ने की होड़ में आपस में टकराने लगा । ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में गुजरात और राजपूताने में इस धर्म का अधिक प्रभाव था । गुजरात के चालुक्य (सोलंकी) वंशी राजा सिद्धराज (1094 - 1143) तथा उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल (1134 - 1171) जैन धर्म के प्रति भारी श्रद्धा रखते थे । कुमारपाल ने तो अपने पैतृक शैव धर्म को परित्याग कर जैन धर्म ग्रहण किया था । बारहवीं शताब्दी में जब वैष्णव आन्दोलन ने जोर पकड़ा तो जैन मत के समर्थकों का प्रभाव क्षीण होने लगा "सोमनाथ मंदिर पर किये गये आक्रमण एवं महमूद की सफलता से जहाँ एक ओर शैव एवं जैन संघर्ष की सूचना मिलती है वहाँ उससे मंदिरों में बढ़े हुए विलास एवं धन संग्रह का भी परदा खुलता है ।"[1]

1- हिन्दी साहित्य का इतिहास - डा० नगेन्द्र पृष्ठ 72

जैन धर्म की छवि धीरे-धीरे गिरने लगी थी उसने भी बौद्धो के वामाचार को अपने आश्रमों में स्थान दे दिया था। परन्तु अन्य धर्मों के कुप्रभावों से यह अलग ही रहा मुस्लिम आक्रमणों के समय भी जैन धर्म को बहुत कम क्षति उठानी पड़ी तथा मुस्लिम काल में भी यह धर्म चलता रहा जैन धर्म पौराणिक आख्यानों को नवीन रूप से प्रस्तुत करके जनता का विश्वास जीतना चाहता था और धीरे-2 पौराणिक सिद्धान्तों में ढलता जा रहा था। उसने जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए वैष्णवों की धार्मिक कथाओं को परिवर्तित करके प्रस्तुत किया, जिससे यह सिद्ध हो सके की जैन धर्म अति प्राचीनकाल से अस्तित्व में है। "इस प्रकार नास्तिकता-आस्तिकता का आवरण ओढ़कर जनता में भ्रान्त वातावरण बना रही थी। वैष्णव के राम और कृष्ण, जिन्होनें पौरूष में विश्वास करके युद्ध को भी धर्म का अंग सिद्ध किया था, जैन धर्म की दीक्षा लेते हुए दिखाये जाने लगे थे।"[1] उपर्युक्त कारणों

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास - डा0 नगेन्द्र पृ0-72

के होते हुए भी जैन धर्म नवीन दिशा की ओर अग्रसर था तथा इसके प्रचार-प्रसार के प्रयत्न निरन्तर चल रहे थे ।

शैवमत – शैवमत भारत में अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आ रहा था । "सातवीं-आठवीं शताब्दी में भारत के अधिकांश भाग में शैवमत के प्राबल्य के प्रमाण मिलते है । कौल, कापालिक, पाशुपत, महाकाल आदि अनेके सम्प्रदायों के रूप में शैव-साधना लोकप्रिय हो रही थी । मांधता, उज्जैन, नासिक, एलौरा, नागनाथ आदि स्थानों पर लिंगों की स्थापना हो चुकी थी अबू जैद अल हसन सिराधी तथा अबुल फरज मुहम्मद इब्न इशाक अल नादिम आदि अरब यात्रियों ने कापालिको और पाशुपतों के प्रभाव का बड़ा रोचक वर्णन किया है ।" [1] उस समय के अधिकांश शासक शैवमतावलम्बी थे या शैवमत से प्रभावित थे इन्होंने शैवमत के प्रचार तथा प्रसार में भी सहायता प्रदान की । मत का व्यापक प्रसार इस रूप में भी मिलता है कि शैव मन्दिर उत्तर में कश्मीर से लेकर सुदूर दक्षिण तक फैले हुए थे । "मध्य देश के गाहड़वार

राजा स्मृति थे तथा मालवा के राजा वैदिक धर्म के समर्थक थे। गंगा और नर्मदा के अन्तराल में कलचुरि वंश शैव मत के प्रचार में लगा हुआ था। इस वंश के प्रतापी राजा कर्ण के प्रभाव से काशी शैव साधना का केन्द्र बनी"[1] शैव मत का प्रतिद्वन्दी मत जैन मत था जिसमें परस्पर आगे निकलने की होड़ लगी रहती थी। बारहवीं शताब्दी में जब वैष्णव आन्दोलन में गति आयी तो शैव आन्दोलन भी पीछे नहीं रहा । उसने भी नया रूप लिया । स्मृति मतानुयायी भी धीरे-2 शैव मत की ओर झुकने लगे । इस प्रकार उत्तर भारत में शैवमत पर बौद्ध, वैदिक मतों का व्यापक प्रभाव पड़ा जिससे शैव मत एक नवीन दिशा की ओर मुड़ा जिसका कारण जनता को चौरासी लाख योनियों में भटकने का भय दिखाकर निरुत्साहित करना था । धार्मिक स्थानों का ह्रास हो चला था । हिन्दू मन्दिर भी बौद्ध विहारो की तरह व्यभिचार, आडम्बर, धन लोलुपता से ग्रस्त हो गये थे । इस प्रकार इस मत ने अनेक रूप धारण किये और अन्त में बौद्ध धर्म के अस्तित्व को समाप्त करने में सहायक

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास - डा0 नगेन्द्र - पृ0 71

सिद्ध हुआ इसके उपरान्त शिव और शक्ति का घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हुआ जिसके परिणामस्वरूप शाक्तमत का प्रचार हुआ । इस प्रकार आदिकाल की धार्मिक परिस्थितियाँ अत्यन्त उथल-पुथल और परिवर्तन से युक्त कष्टमय थीं । जनता का जीवन के मूल्यों से विश्वास उठ गया था । सभी धर्मों का अविर्भाव तिरोहित हो गया था । यह कहना कठिन था कि किसी भी धर्म का मूल रूप क्या है ? वैदिक-अवैदिक मतावलम्बियों में मतभेद चलता रहता था । कि "यह संघर्ष न केवल बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, वैष्णव आदि आन्दोलनों तक ही सीमित नहीं था, अपितु शक्ति, सर्प, चन्द, ब्रह्मा, इन्द्र, अग्नि, स्कन्द, गणेश, यम, कुबेर, आदि अनेक देवी देवताओं के नाम पर पन्थों का जन्म होता है"[1] धार्मिक क्षेत्र की इस विषम स्थिति और उग्र विरोध ने सनातन धर्म के विचारकों को कुछ अतिरिक्त सोचने की प्रेरणा दी । धर्म तथा ईश्वर की मान्यताओं में परिवर्तन आया साथ ही इसका नया स्वरूप प्रस्फुटित करने के लिए दक्षिण भारत से एक दार्शनिक विचारधारा का आगमन हुआ जिसके प्रचारक

---

[1] हिन्दी साहित्य का उद्भव काल - डा0 वासुदेव सिंह पृ0-27

शंकराचार्य थे, जिन्होंने अपने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया और उत्तर भारत को नवीन विचार धारा रूपी अमृत से नवीन जीवन प्रदान किया और इन अमृत कलशों की संख्या बढ़ती ही गयी। रामानुज, निम्बार्क, आदि आचार्यों ने ज्ञान और शान्ति से लिप्त आध्यात्मिकता का नया मार्ग खोजा जिसका प्रभाव 15 वीं शताब्दी के पूर्व अधिक स्पष्ट नहीं हो सका।

देश की धार्मिक अशान्ति की इस अग्नि को और अधिक प्रज्जवलित करने का काम किया इस्लाम धर्म ने जो भारत की पश्चिमोत्तर सीमा से बाहर से आया था, जिससे स्थिति और भी जटिल हो गयी। जनता सामंजस्य स्थापित नहीं कर पा रही थी कुछ लोग त्रस्त होकर इस्लाम धर्म के अनुयायी हो गये थे, अधिकांश लोग वेदविहित और ब्राह्मण धर्म में मिल गए, कुछ लोग ऐसे थे जो किसी के साथ सामंजस्य स्थापित न कर सके। इस प्रकार सम्पूर्ण देश अनेक धार्मिक प्रतिस्पर्धी धार्मिक दलों में विभाजित हो गया/इसी समय नाथ पंथ ने अपने योग मार्ग द्वारा अन्तिम प्रकार के अनेक सम्प्रदायों का संगठन करना प्रारम्भ किया

और सफलता भी प्राप्त की । वस्तुत: आदिकाल की धार्मिक परिस्थितियाँ अच्छी नहीं थी जिसका कारण विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, उप सम्प्रदायों के कारण अत्यन्त विषम तथा असन्तुलित होता था । जनता द्रवित हो उठी थी उसे सभी ओर से गहरी निराशा हो गयी थी उन्हें नये स्पष्ट मार्ग की आवश्यकता थी जो उनके आहत मन पर राहत का कार्य कर सके । शंकर के अद्वैतवाद रामानुज, निम्बार्क व नाथ पंथ के योगी तथा सन्त कवियों ने जनता की इस पीड़ा को समझा तथा खण्डन-मण्डन हठयोग वीरता एवम् श्रृंगारिकता से युक्त साहित्य का सृजन किया ।

सामाजिक परिस्थिति

पूर्वोक्त राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ इतनी अधिक अस्त-व्यस्त थीं, जिससे देश की सामाजिक परिस्थितियाँ भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकीं । अत: यह युग सामाजिक रूप से भी अव्यवस्थित था । राजागण परस्पर और विदेशियों से लड़ते रहते थे । जनता की उन्हें कोई चिन्ता नहीं थी । उनका अपना व्यक्तिगत सम्मान और अधिकार ही उनकी

चिन्ता का विषय बने हुए थे न कि वह प्रजा की सुख-सुविधा का ध्यान रखने में समय व्यर्थ करते । युद्धों के समय जनता ही सर्वाधिक शोषण तथा अत्याचार का शिकार होती थी । इस स्थिति के निदान के लिए वह ईश्वर की शरण की ओर दौड़ती थी, तो उसे सर्वत्र भ्रम और असहायता की स्थिति का सामना करना पड़ता था ।

अत: युद्धों की निरन्तरता राजागणों और शासन व्यवस्था को जीर्ण-शीर्ण करते जा रहे थे । परिणाम स्वरूप जनता शासन तथा धर्म दोनों ओर से निराश्रित होती जा रही थी ।

सामाजिक अव्यवस्था का एक प्रमुख कारण तत्कालीन भारतीय समाज में जाति-पाँत के रूप में विद्यमान था, जिसके बंधन धीरे-धीरे कठोर होते जा रहे थे । साहित्य के प्राथमिक काल में चार प्रधान वर्ण - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नाम में विद्यमान थे । यद्यपि जन्म के अनुसार जाति का निर्धारण करना समाज द्वारा मान्य स्वीकार किया जा चुका था । किन्तु समाज और

भी अन्य अनेक वर्णों जातियों और उपजातियों में विभक्त हो गया था । समाज कर्म पर आधारित चार वर्णों में विभक्त अन्य जातियों और वंशों को अपने में समाविष्ट करने में समर्थ न हो सका । जन्म से ही वर्ण को अपरिवर्तनीय मान लेने के परिणाम स्वरूप समाज अनेकों खण्डों में बँट गया था, जिसके द्वारा समाज अपना अस्तित्व कुछ अंशों में भले ही सुरक्षित रखने में सफल हुआ हो, परन्तु इससे विघटनकारी शक्तियों को प्रोत्साहन मिला और समाज का आन्तरिक ढाँचा खोखला हो गया । समाज में वर्णित विभिन्न वर्णों के कर्तव्य और अधिकार निर्धारित थे । इस युग में ब्राह्मण का स्थान काफी ऊँचा था । वे धर्म कर्म में शिक्षा-दीक्षा में शासन आदि में समाज का पथ-प्रदर्शन करते थे । इसके विपरीत अशिक्षित, अधर्माचरणकृत ब्राह्मण का आदर घट जाता था । क्षत्रियों को भी समाज में ऊँचा स्थान प्राप्त था, और वे ब्राह्मणों की समता में खड़े होने का दावा करते थे । क्षात्र धर्म था - राजनीति, युद्ध करना, प्रजा और अनाथों की रक्षा करना । राजपूतों अर्थात् क्षत्रियों की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए टाड महोदय ने लिखा है कि - "अदम्य उत्साह, राजभक्ति, देशप्रेम, वैमनस्य आदि

गुण इनमें विद्यमान थे ।" उक्त विद्वान राजपूतों के कुछ गुणों से बहुत प्रभावित हुआ था और उसने ही इन जोरदार शब्दों में प्रकाश डाला है - समाज में क्षत्रियों का स्थान ऊँचा होने के प्रमुख कारणों मे राजनीतिक सत्ता का उसके हाथ में होना प्रमुख था ।"

वैश्यों का कार्यक्षेत्र आर्थिक था जिसमें कृषिक कार्य, उद्योग करना तो था ही परन्तु इससे हटकर वे अब वाणिज्य व्यापार में लग गये थे ।

शूद्रों की स्थिति निम्न थी । इनका कार्य तीनों वर्गों की सेवा करना था । जैन, बौद्ध, वैष्णव आदि विभिन्न सम्प्रदायों ने इसके स्तर को ऊँचा उठाने के लिए शुद्धिवाद और कृच्छाचार के अनुष्ठानों का आयोजन किया । लेकिन फिर भी शूद्रों की स्थिति में कोई भी सुधार नहीं हुआ और उनकी स्थिति पहले से भी निम्न हो गयी । इतना ही पर्याप्त नहीं था वरन् अस्पृश्य और अन्त्यज जातियों की संख्या में भारी मात्रा में वृद्धि होती जा रही थी, तथा शूद्र-चाण्डाल, डोम, चमार, नट, भाट

अभोरी, बन्जारा तथा भट्टारक आदि उपजातियों में विभक्त हो गये। तत्कालीन भारतीय समाज छोटी-छोटी इकाइयों में विभक्त हो गया था, जाति की संकीर्णता, कठोरता तथा विखण्डता से जनता का सामाजिक आदर्श और सामाजिक दृष्टिकोण विलुप्त हो गया। समाज संकीर्णता की बेड़ी में जकड़ गया था, जिसके परिणाम स्वरूप इस व्यापक स्थिति का उच्च वर्ग ने काफी लाभ प्राप्त किया। यह उच्च वर्ग भोग करने का अधिकारी था एवं निम्न वर्ग के लोग श्रम व सेवा करने के लिए संसार में आये थे। अतः उच्च वर्ग द्वारा निम्न वर्ग का शोषण हो रहा था। इसके साथ ही खान-पान, विवाह सम्बन्ध आदि में स्वच्छन्दता समाप्त हो गई, इतना ही नहीं सामाजिक विखण्डता चरमसीमा पर पहुँच गई थी। स्वयं ब्राह्मणों में जाति भेद और परस्पर प्रतिबन्ध उत्पन्न हो गये थे। ११वीं शताब्दी में जब अल्बेरूनी भारत में आया तो उसने हिन्दुओं को विभिन्न जन्म गत, स्थान-गत, व्यवसाय गत, सम्प्रदाय गत और वंश गतजातियों और उप जातियों में बँटा हुआ पाया। जिसके परिणामस्वरूप उन्हें परस्पर

संगठित होने तथा सहानुभूति पूर्ण व्यवहार करने का समय ही नहीं मिल पाया था ।

आदि काल में वर्ण व्यवस्था के साथ ही आश्रम व्यवस्था का रूप भी विकृत हो गया था । भारतीय मनीषा ने सम्पूर्ण जीवन को चार भागों में विभक्त किया था ये विभाग ही आश्रम के नाम से अभिहित हुए थे, ये चार आश्रम हैं - ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास, जिन पर क्रमशः चलते हुए मानव जीवन के चार महान पुरुषार्थों - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का आधार बनाया था । परन्तु इस काल में आश्रम व्यवस्था की श्रेष्ठता तथा उत्थान के स्थान पर दिखावा मात्र ही रह गया था । आश्रम व्यवस्था को खोखला बनाने में सबसे अधिक योगदान जैन एवम् बौद्ध आन्दोलनों का रहा क्योंकि इसके मतानु-यायी आश्रम व्यवस्था में व्याप्त कर्म के महत्व की अवहेलना करते थे । उनके मतानुसार आश्रम व्यवस्था में कर्म की कोई आवश्यकता नहीं थी । इस स्थिति को तो व्यक्ति इच्छानुसार श्रमण या परिव्राजक का रूप प्राप्त कर सकता है । जिसके परिणाम स्वरूप

देश में अज्ञानी साधू-सन्यासियों की संख्या में तीव्र वृद्धि हुई । अतः आदिकाल में आश्रम व्यवस्था का महत्व अत्यधिक घट गया था और जो आश्रम व्यवस्था के महत्व को कम करने में सहायक सिद्ध हुए ।

आदिकाल में पारिवारिक व्यवस्था सम्मिलित पितृसत्तात्मक और पितृस्थानीय रूपों में व्याप्त थी । परिवार के सभी सदस्यों के धार्मिक, सामाजिक,आर्थिक कर्तव्यों का निर्धारण कर दिया जाता था । इसके अतिरिक्त सन्तान के कुछ नैतिक कर्तव्यों का भी निर्धारण किया जाता था, जिसका कठोरता पूर्वक पालन भी कराया जाता था । पति-पत्नी को समानाधिकार प्राप्त थे, परन्तु पति का नियंत्रण पत्नी पर रहता था, सम्पत्ति पर भी स्त्रियों को कोई भी अधिकार नहीं था । वह केवल "स्त्रीधन" की ही एकाधिकारिणी थीं ।

आदिकाल में स्मृतियों में गिनाए गये ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्रजापत्य, गांधर्व, असुर, पिशाच और राक्षस ये आठ प्रकार

के विवाह सैद्धान्तिक रूप से मान्य थे, किन्तु समाज में ब्रह्म विवाह ही अधिक प्रचलित था, परन्तु राक्षस और गान्धर्व विवाह का भी प्र-चलन क्षत्रियों में था । निम्न वर्णों में आसुर विवाह का अधिक प्रचलन था । स्वयंवर प्रथा उत्कृष्ट और उच्च वर्मों के राजकुलों तक ही सीमित रह गई थी । मुसलमानों के आक्रमणों के पश्चात् विवाह का रूप और भी विकृत होता गया था । बाल विवाह और प्रतिलोम विवाह इसी समय प्रचलित हो गया था । बाल विवाह के प्रचलित होने पर स्त्री की सामाजिक स्थिति परिवर्तित हो गई और उसे पितृ कुल - श्वसुर कुल दोनों के अनेक प्रतिबन्धों और नियमों के अन्तर्गत जीवन यापन करना पड़ता था । स्त्री शिक्षा का भी ह्रास हो रहा था । सती प्रथा इस समय में समाज का भयंकर अभिशाप थी । फलत: सामान्य जाति की नारी के लिए पुरुष का जीवन और मृत्यु दोनों ही भयंकर अभिशाप की घटना बन जाया करते थे । मुसलमानों के आगमन के पश्चात पर्दा प्रथा को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया जाने लगा था । अत: इस युग में स्त्री की स्थिति अच्छी नहीं थी । वह मात्र भोग की ही वस्तु रह गई थी उसका क्रय-विक्रय और अपहरण निरन्तर होता

रहता था और विधवा विवाह निषेध था ।

इस युग में सामान्य जन के लिए शिक्षा की कोई भी व्यवस्था नहीं थी, जिस कारण अधिकांश जनता अज्ञान के अंधकार में लिप्त थी । साम्प्रदायिक तनाव का रूप समाज में चरम सीमा में व्याप्त था । इसलिए श्रेष्ठ जनों ने ऐसी व्यवस्था स्थापित की थी कि सामान्य जन साहित्य और शास्त्र से अभिन्न रहे ।

इस काल में समाज में सभी वर्गों में अनेकों प्रकार के उत्सव और वस्त्राभूषणों के प्रति लगाव था । इस समय आखेट, मल्ल युद्ध, घुड़सवारी, द्यूतक्रीड़ा, संगीत-नृत्य, आदि मनोरंजन के साधन थे । कवियों को भी यथोचित सम्मान दिया जाता था । क्षत्रियों में मदिरापान भोग और अफीम खाने का प्रचलन था । शाक्तों और शैवों के अतिरिक्त सभीलोग खान-पान के सम्बन्ध में सात्विकता का पालन करते थे ।

आदिकाल के उपर्युक्त सामाजिक विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में संगठित सामाजिक व्यवस्था की कल्पना

नहीं की जा सकती है । धार्मिक अराजकता की झोली में पनपता हुआ सामाजिक जीवन आडम्बर पूर्ण आवरण ओढ़ता जा रहा था । ब्राह्मण वर्ग पूज्या तथा श्रेष्ठ अवश्य समझे जाते थे, परन्तु उनकी श्रेष्ठता का ह्रास होने लगा था । समाज में राजपूत क्षत्रियों का अस्तित्व स्थापित होने लगा था । राजपूत वीर, साहसी, शक्तिशाली, उदार थे । राजपूतों की स्त्रियों में भी इन्हीं गुणों का प्राधान्य था । उनके साहस और शौर्य की गाथाएँ संसार प्रसिद्ध हैं । किन्तु वे अपने जरा से सम्मान के लिए छोटी-छोटी बातों को जीवन और मरण का प्रश्न बना कर आपस में लड़ा करते थे । वे अपने इन युद्धों में राष्ट्रहित को भूल जाते थे, परन्तु कुछ क्षत्रिय अवश्य थे जिनमें राष्ट्रीय भावना थी । जिसमें वीसल देव, राणा सांगा, आदि प्रमुख हैं । समाज जाति-पाँति, गोत्र आदि के झगड़े में इतना अधिक लिप्त था कि उसे संगठित होने की भावना का कभी विचार ही नहीं आया ।

इसी युग में अंधविश्वासों की तीव्रता से वृद्धि हुई सम्पूर्ण जनता का ध्यान साधू सन्यासियों के शापों और वरदानों

की ओर रहने लगा था, जिसके कारण गृहस्थों पर योगियों का भयंकर आतंक व्याप्त हो गया और वे भयभीत रहने लगे । इसके साथ ही जीवन यापन के साधन अप्राप्त होते जा रहे थे तथा जनता निर्धनता के घेरे में दयनीय स्थिति को प्राप्त होती जा रही थी । धार्मिक कर्म काण्डों से युद्ध तथा महामारियों को टालने का प्रयास करते थे । परन्तु वे सफल नहीं होते थे । इस काल की विषमता से व्याप्त सामाजिक परिस्थितियों में जीने वाली जनता ऐसे भाव की खोज में निरन्तर लगी रहती थी जो सान्त्वना देकर मानसिक शांति प्रदान कर सकें । अतः इस विकट सामाजिक परिस्थितियों में ही आदिकालीन हिन्दी कवियों को जनता की इस स्थिति के अनुसार साहित्य सृजन सामग्री को एकत्रित करना पड़ा ।

काल विभाजन

काल विभाजन साहित्य के इतिहास की महत्वपूर्ण आवश्यकता है । साहित्य समाज की चेतना से ही जीवन प्राप्त करता है, जो जनता की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक

और सांस्कृतिक परिस्थितियों के माध्यम से मानव जीवन के सुख-दुःख, हर्ष विषाद, आकर्षण-विकर्षण के ताने-बाने से बुना जाता है । यह पूर्णरूपेण मानवाश्रित व केन्द्रित है । यही कारण है कि किसी भी देश के साहित्य का इतिहास वहाँ की जनता की निरन्तर परिवर्तित होती हुई भिन्न-भिन्न विचार धाराओं का इतिहास हुआ करता है ।

मानव जीवन सदैव गतिशील रहता है । इसी कारण वश समाज की परिस्थितियाँ विभिन्न विचारधाराओं से परिचालित होने के कारण सदैव नूतनता का आवरण धारण करती रहती हैं । अतः ज्यों-ज्यों समाज की परिस्थितियों के आचार विचार परिवर्तित होते हैं तो उसमें निवास करने वाले साहित्यकार के मनोभावों में भी भिन्नता आ जाती है । और यही परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है । इस परिवर्तन का सृष्टा वही होता है, जो समाज की स्थितियों, परिस्थितियों, समस्याओं, विचारों से प्रभावित होता है तथा मनोभावों से परिचित होता है । इसी प्रभाव का प्रमुख रूप साहित्य है । यही कारण है कि साहित्य का, युग की मुख्य

प्रवृत्तियों से गहरा सम्बन्ध होता है । वह समाज की प्रतिच्छाया बनकर साहित्य में अवतरित होती है । कोई एक साहित्यिक प्रवृत्ति जो एक निश्चित समय में किसी समाज व देश में प्रचलित रहती है, उसके परिवर्तित हो जाने पर वह प्रवृत्ति परिवर्तित समय के साहित्य में मुख्य रूप से नहीं दिखाई देती । यही कारण है नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियाँ अपने पूर्ववर्ती साहित्य की प्रवृत्तियों से सम्बन्धित होते हुए भी उनका स्वरूप उनसे भिन्न होता है । इसलिए निरन्तर गतिमान साहित्य की इस धारा में हमेशा विभिन्न परिवर्तन होते रहते हैं और हिन्दी साहित्य के हजारों वर्ष से अधिक समय की विकास परम्परा को सम्यक् रूपेण समझने हेतु साहित्य को निश्चित काल खण्डों में बाँट लेते हैं । इसी विभाजन को काल विभाजन कहते हैं । अतः साहित्य का काल विभाजन विभिन्न समयों में प्रचलित पृथक साहित्यिक प्रवृत्तियों का एक आलेख होता है । प्रस्तुत किए हैं । -- "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य

के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है । आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है । जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक सामाजिक, साम्प्रदायिक व धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है । अत: कारण स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है । इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य का विवेचन करने में यह बात ध्यान में रखनी होगी कि किसी विशेष समय में लोगों में रुचि विशेष का संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार हुआ ।"[1]

सामान्यत: काल विभाजन ऐतिहासिक काल क्रम के अनुसार, शासक और उनके शासन काल के अनुसार, राष्ट्रीय सामाजिक अथवा सांस्कृतिक घटना व आन्दोलन के आधारों पर, साहित्यिक प्रवृत्ति के अनुसार, साहित्यिक नेता व उसके प्रभाव के आधारपर,

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ संख्या-1

लोक नायक व उसके प्रभाव काल के अनुसार माने गये हैं ।

"इतिहास में हम मुख्यत: देश ‡ Space ‡ के स्थान पर काल ‡ Time ‡ का अध्ययन करते हैं । अत: अध्ययन की सुव्यवस्था के लिए उसे विभिन्न काल खण्डों में बाँट लेना सुविधा जनक व उपयोगी होता है ।"[1]

इस प्रकार अध्ययन की सुविधा हेतु साहित्येतिहास को विभिन्न काल खण्डों में वर्गीकृत किया गया है । साहित्य के इतिहास को समग्र रूपेण दर्शन करने हेतु उसके विभिन्न अवयवों का निरीक्षण परीक्षण करना होता है । जब हम किसी वस्तु का अवलोकन करते हुए उसकी वास्तविकता का दर्शन करते हैं / वहाँ सम्पूर्ण दर्शन है और उसके अंगों को पृथक मानकर उसके विभिन्न खण्डों का निरीक्षण करना खण्ड दर्शन है, लेकिन उसको उस वस्तु का ही अंग मानना "पूर्ण" दर्शन" है । और यही आसान तरीका है, क्योंकि साहित्य का इतिहास इतना विशद एवम् व्यापक

---

1. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास- डा० गणपति चन्द्र गुप्त पृष्ठ संख्या-111

है कि उसके समग्र रूप का दर्शन एक साथ नहीं किया जा सकता । साहित्य की प्रवाह मय धारा में हम तभी गोता लगा सकते हैं, जबकि हम उसके क्रमिक विकास, महत्वपूर्ण अवस्थाओं, रूप, दिशाएं तथा उस युग की चेतना का सम्पूर्ण दर्शन करें, जो कि विभिन्न काल खण्डों में समय-समय पर परिवर्तित एवम् परिमार्जित होती रहती है । और यही उसी काल की महत्वपूर्ण आधारशिला है । "डा० गणपति चन्द्र गुप्त" जी ने काल खण्डों के महत्व को स्वीकारते हुए लिखा है । - "साहित्य अन्तर्निहित चेतना के क्रमिक विकास, उसकी परम्पराओं के उत्थान पतन एवम् उसकी प्रवृत्तियों के दिशा- परिवर्तन आदि के काल क्रम को स्पष्ट करना ही काल विभाजन का लक्ष्य होता है । अन्यथा उसकी कोई उपयोगिता नहीं ।" [1]

अन्तर्निहित चेतना को साहित्य के खोजने के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने भी लिखा है -- शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप में भी जो

---

1. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास - गणपति चन्द्रगुप्त पृष्ठ संख्या- 111

परिवर्तन होते आए हैं, जिन -जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्य धारा की भिन्न-भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं, उन सबके सम्यक् निरूपण एवम् उनकी दृष्टि से किए हुए सुसंगत काल विभाजन के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता है । "[1]

अत: उपर्युक्त तथ्यों से काल -विभाजन का विभिन्न कारण दृष्टिगोचर होते हैं जिसमें अध्ययन की सुविधा हेतु, विभिन्न प्रवृत्तियों के परिवर्तन की जानकारी, तथा साहित्य की अन्तर्निहित चैतन्यता के क्रमानुसार विकास के ज्ञान के हेतु आदि प्रमुख हैं जो साहित्य के इतिहास को विभिन्न कालों में विभाजित करके , उसके रूप को मुखरित करने में सहायक सिद्ध होते हैं । इसके साथ ही काल विभाजन के विभिन्न आधारों को भी विद्वानों ने आवश्यक बतलाया है । पुरुषोत्तम प्रसाद आसोपा ने अपनी पुस्तक "आदिकाल की भूमिका" में विद्वानों द्वारा बतलाये गये काल विभाजन के

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्र शुक्ल - प्रथम संस्करण का वक्तव्य - पृ०सं०-1

आधारों के निम्न रूप सिद्ध किये है" जो इस प्रकार है —

1. विशेष समय में लोगों की रुचि विशेष का पोषण और संचार कैसे होता है?

2. अलग-अलग कालों की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ क्या है?

3. काल-विशेष की सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, प्रवृत्तियों का इतिहास के सन्दर्भ में विकास किस प्रकार हुआ है?

4. काल विशेष में विशुद्ध साहित्यिक मापदण्ड क्या है? [1]

अत: प्रवृत्तियों के स्वच्छन्द विकास को मान्यता देना ही ऐतिहासिक सत्य है इसलिए साहित्येतिहासकार अपने द्वारा निर्मित काल -विभाजन के साँचे को ध्यान में रखते हुए भी उसके कसाव को यान्त्रिकता की सीमा तक ले जाने के खतरे से जितना अलग रहेगा, उतना ही वह साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकास और मूल्यांकन में अधिक सक्षम और सफल सिद्ध होगा । अत: साहित्येतिहासकार एक सीमा के अन्तर्गत ही वैज्ञानिकता

---

1. आदिकाल की भूमिका - पुरुषोत्तम प्रसाद आसोपा, पृष्ठ-48

का निर्वाह करने के लिए स्वच्छन्द है ।

काल-विभाजन के आधारों की विवेचना के उपरान्त काल विभाजन का इतिहास प्रस्तुत किया जा रहा है जो क्रमानुसार इस प्रकार है :—

हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक इतिहास लिखने का श्रेय प्रथम वर्ग के अन्तर्गत फ्रांसिसी विद्वान गार्सां-दा-तासी और मौलवी करीमुद्दीन और शिवसिंह सेंगर के इतिहास आते हैं । सर्वप्रथम तासी ने "इस्त्वार-द-ला-लितरेच्यूर एन्दुई ऐंदुस्तानी" नाम इतिहास ग्रंथ 1839 में लिखा । जिसमें हिन्दी और उर्दू के अनेक कवियों का विवरण वर्णक्रमानुसार दिया गया है । इसका प्रथम भाग 1839 में तथा द्वितीय 1847 में प्रकाशित हुआ था । इसका दूसरा संस्करण 1871 में प्रकाशित हुआ जो तीन भागों में विभक्त था । और इसमें पर्याप्त संशोधन भी किया गया है । गार्सां-द-तासी के इतिहास ग्रंथ का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमें ऐतिहासिक विवेचना नहीं की गई है व साहित्यिक प्रवृत्तियों

व काल विभाजन के विषय में लेखक मौन है ।

वही हिन्दी काव्य का सर्वप्रथम इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयास तासी जी का महानतम् कार्य है । भारत का न होकर एक विदेशी द्वारा यहाँ के साहित्य के इतिहास को प्रस्तुत करने का प्रयास स्वयं में कम महत्वपूर्ण नहीं है । वैसे भी किसी भी क्षेत्र में किये गये आरम्भिक एवम् प्राथमिक प्रयास का महत्व इस तथ्य में नहीं कि उसने कितनी उपलब्धि अर्जित की वरन् उसकी महत्ता एक नई दिशा के प्रवेश द्वार में अग्रसर होने की दृष्टि से ही माना जाता है । हिन्दी सहित्येतिहास लेखन की परम्परा में यद्यपि तासी जी के इतिहास में अनेक त्रुटियों व कमियों के होते हुए भी उन्हें इतिहास प्रवर्तक के रूप में गौरवासन प्रदान करना ही उचित है ।

गार्सा - द - तासी के बाद मौलवी करीमुद्दीन ने सन् 1848 में तब्कका तसुअर नामक ग्रंथ लिखा जिसमें हिन्दी के कवियों की संख्या कुछ अधिक मिलती है किन्तु काल विभाजन के सम्बन्ध में लेखक ने कोई प्रयास नहीं किया । हिन्दी के कवियों

का वृत संग्रह करने का प्रथम महत्वपूर्ण प्रशंसनीय कार्य शिव सिंह सेंगर ने किया । उनकी कृति जो सन् 1883 में "शिव सिंह सरोज" नाम से प्रकाश में आया । इसमें लगभग हिन्दी के एक हजार कवियों का संकलन किया गया है । साथ ही उनका संक्षिप्त परिचय एवम् साहित्यिक परिचय भी दिया है किन्तु क्रम यहाँ भी अकारादि ही है तथा काल विभाजन का यहाँ पर भी कोई उल्लेख नहीं किया गया है । अत: इन विद्वानों के ग्रंथों में ऐतिहासिक विवेचना का सर्वथा अभाव है । परन्तु सामग्री संकलन पर्याप्त मात्रा में हुआ है । जिसमें कविवृत संग्रह अत्यधिक महत्वपूर्ण है ।

हिन्दी साहित्य का द्वितीय वर्ग वर्गीकरण की प्रवृत्ति से आरम्भ होता है । इसके अन्तर्गत निम्न साहित्यकारों के ग्रंथ आते हैं :-

1. मार्डन वर्नीक्यूलर लिट्रेचर ऑव हिन्दोस्तान
(सर जार्ज ए० ग्रियर्सन सन् 1889)

इसमें 952 कवियों का काव्य संग्रह एवम् परिचय है ।

2. मिश्र बन्धु विनोद (मिश्र बन्धु 1913, 2250 पृ०
चार भाग)

3. ए स्केच ऑफ हिन्दी लिट्रेचर §एडविन ग्रीव्ज 1917§

4. ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दी लिट्रेचर §एफ॰एफ॰के॰ 1920§

जिसमें ग्रियर्सन तथा मिश्र बन्धु के इतिहास ग्रंथों का वर्गीकरण की दृष्टि से उल्लेखनीय महत्व है । डा० ग्रियर्सन का इतिहास ग्रंथ सर्वप्रथम ऐसा इतिहास ग्रंथ है जिसमें काल विभाजन का निरूपण किया गया है । ग्रियर्सन ने हिन्दी साहित्य का आरम्भ 700 ई० से माना है । तथा साहित्य सामग्री को 11 कालों में विभक्त किया ।

1. चारण काल §700 - 1300 ई०§
2. पन्द्रहवीं शताब्दी का पुनर्जागरण
3. जायसी की प्रेम कविता
4. ब्रज का कृष्ण सम्प्रदाय §1500 - 1600 ई०§
5. मुगल दरबार
6. तुलसी दास
7. रीति काव्य
8. तुलसी दास के अन्य परवर्ती
9. अठारहवीं शताब्दी
10. कम्पनी के शासन काल में हिन्दुस्तान
11. महारानी विक्टोरिया के शासन में हिन्दुस्तान

डा0 ग्रियर्सन द्वारा 11 काल खण्डों में विभक्त ग्रन्थ वस्तुत: ये सभी काल-खण्ड अलग-अलग अध्याय के शीर्षक से प्रतीत होते हैं कालों के शीर्षक नहीं । ग्रियर्सन महोदय ने अपने ग्रन्थ में काल विभाजन के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए लिखा है कि - उन्होंने समस्त सामग्री को जहाँ तक सम्भव हुआ काल क्रम के अनुसार ही रखने का प्रयास किया है । और इसी आधार पर ग्रन्थ को काल खण्डों में विभक्त किया है व प्रत्येक अध्याय एक काल खण्ड को सूचित करता है । डा0 ग्रियर्सन ने अध्याय के अन्त में उस काल खण्डों के गौण कवियों का उल्लेख भी किया है । भिन्न-भिन्न कालों की काव्य प्रवृत्तियों की विवेचना के साथ उससे सम्बन्धित सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक परिस्थितियों एवम् उन श्रोतों का भी उल्लेख करने का प्रयास किया है, जिससे उन्हें प्रेरणा की प्राप्ति हुई है । इसके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के विकास की धाराओं का निर्धारण चारणकाव्य, धार्मिक काव्य, प्रेम काव्य, दरबारी काव्य आदि के रूप में विभक्त किया है । जो ग्रियर्सन की महत्ता को दर्शाता है ।

19 वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में डा० ग्रियर्सन की अद्भुत प्रतिभा शक्ति एवम् गहन अध्ययन-शीलता का परिचय उनके प्रथम इतिहास के युग विभाजन, पृष्ठभूमि निर्देश, सामान्य प्रवृत्ति निरूपण और मूल्यांकन की दृष्टि से पर्याप्त यश अर्जित करने के बावजूद डा० ग्रियर्सन के ग्रंथ में महत्व पूर्ण दोष इस बात में दृष्टव्य होता है, कि उन्होंने समूची 14 वीं शताब्दी को काल विभाजन के समय एकदम पृथक कर दिया है, जो कि साहित्येतिहास के विकास क्रम में रिक्त स्थान बना देता है। इसके अतिरिक्त उनके काल खण्डों के नामकरण की पृष्ठभूमि स्पष्ट नहीं है। और एक काल के रूप में निरूपित किया गया है। अतः इस काल विभाजन में वैज्ञानिकता का सर्वथा अभाव है।

वर्गीकरण की परम्परा का दूसरा महत्वपूर्ण ग्रंथ मिश्र बन्धुओं का "मिश्र बन्धु विनोद" है जो चार भागों में विभक्त है, जिसके प्रथम तीन का प्रकाशन 1913 ई० में हुआ व इसके 21 वर्ष बाद 1934 में इसके चतुर्थ भाग का प्रकाश हुआ। मिश्र बन्धुओं ने अपने ग्रंथ को मनोवैज्ञानिक विश्लेषण सहित प्रस्तुत किया है। साथ

ही इस बात का भरसक प्रयास किया है कि उनका ग्रन्थ परिपूर्णता एवम् सुव्यवस्था से पूर्ण हो । इसलिए इन्होंने इस इतिहास ग्रंथ में जहाँ एक ओर 4591 कवियों व लेखकों का विवरण दिया है वहीं दूसरी ओर इसे आठ से अधिक काल खण्डों में वर्गीकृत करने का प्रयास किया है । इस सम्बन्ध में मिश्र बन्धुओं को अपने पूर्ववर्ती साहित्येतिहासकारों से अधिक सफलता प्राप्त हुई है । उन्होंने अपने इतिहास ग्रंथ में आरम्भिक काल, मध्यकाल, आधुनिक काल आदि नाम दिये हैं और इनके भी कई उपभेद किये हैं जो इस प्रकार है --

पूर्वारम्भिक काल (सं0 700 - 1343)
उत्तरारम्भिक काल (सं0 1344 - 1444)
पूर्व माध्यमिक काल (सं0 1445 - 1560)
प्रौढ़ माध्यमिक काल (सं0 1561 - 1690)
पूर्वालंकृत काल (सं0 1691 - 1789)
अज्ञात काल (प्राय: उत्तरालंकृत काल एवं परिवर्तन काल के पूर्व)
परिवर्तन काल (सं0 1390 - 1925)
वर्तमान काल (सं0 1926 -)

मिश्र बन्धुओं ने प्रथम बार साहित्यिक प्रवृत्तियों का विवेचन किया है । लेकिन वे विभाजन प्रवृत्ति गत न कर सके । उनके विभाजन के आधार भी निश्चित नहीं हैं । उन्होंने आदि प्रकरण में वीरगाथा काल के साथ सभी प्रकार की रचनाएँ सम्मिलित कर ली है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने मिश्र बन्धुओं के इस प्रयत्न को अप्रमाणिक एवम् गम्भीर अध्ययन व चिन्तन से रहित माना है व अव्यवस्था की आलोचना की है । फिर भी काल विभाजन के क्षेत्र में जितनी सफलता मिश्र जी ने अर्जित की उतनी उनसे पूर्ववर्ती किसी भी इतिहासकार को नहीं प्राप्त हुई । मिश्र जी ने ही सर्वप्रथम कवियों के विवरण तथा साहित्य के विभिन्न अंगों पर साथ-साथ पर्याप्त उल्लेख किया है । इतना ही नहीं उन्होंने कुछ अज्ञात कवियों को भी दृष्टि प्रदान की है तथा उनके साहित्यिक महत्व को भी स्पष्ट करने का भरसक प्रयास किया है। लेकिन काव्य समीक्षा के समय मिश्र जी परम्परा वादी हो गये । उन्होंने परम्परागत पद्धति सिद्धान्तों को ही अपनाया है । अतः आधुनिक समालोचना की कसौटी पर मिश्र जी का ग्रंथ उतना सही नहीं उतरता है । परन्तु इतिहास लेखन की पूर्व परम्परा का

अग्रसर करने में निसंदेह इनका महत्वपूर्ण योगदान है ।

मिश्र बन्धुओं के बाद अंग्रेजी में दो छोटे-छोटे इतिहास ग्रंथ लिखे गये, उनमें एक है -- "एडविन ग्रीब्ज" का "ए स्केच ऑव हिन्दी लिट्रेचर" दूसरा "एफ0ई0के0 का "ए हिस्ट्री ऑव हिन्दी लिट्रेचर" यद्यपि इनमें काल विभाजन एवम् नामकरण का प्रयत्न दिखाई पड़ता है, किन्तु ये ग्रियर्सन से ही अत्यधिक प्रभावित हैं । अत: इनमें कोई नवीनता नहीं ।

सन् 1929 में हिन्दी साहित्य लेखन का तीसरा वर्ग-विश्लेषण की प्रवृत्ति से आचार्य राम चन्द्र शुक्ल से प्रारम्भ होता है । उन्होंने अपना दृष्टिकोण निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया है -- "शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप में जो-जो परिवर्तन होते हैंआए हैं, जिन-जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्य धारा की भिन्न-भिन्न शाखायें फूटती रहती हैं, उन सबके सम्यक् निरूपण तथा उसकी दृष्टि से किए हुए सुसंगत काल विभाजन के बिना साहित्य का सच्चा अध्ययन कठिन दिखलाई पड़ता है

आचार्य शुक्ल जी द्वारा रचित "हिन्दी साहित्य का इतिहास" साहित्येतिहास परम्परा में उच्च आसन पर विराजमान है, जो मूलत: नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित "हिन्दी शब्द-सागर की भूमिका के रूप में लिखा गया था, जिसे आगे चलकर परिवर्द्धित एवं विवेचन के द्वारा पृथक पुस्तक के रूप में अस्तित्व में आया। इस ग्रंथ के आरम्भ में नहीं शुक्ल जी ने जनता की चित्तवृत्ति के संचित प्रतिबिम्ब को साहित्य मानते हुए स्वयं उद्घोषित किया है — "जब प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही "साहित्य का इतिहास" कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।"

अतः शुक्ल जी ने इस अभाव की पूर्ति का संकल्प लेकर शिक्षित जन समूह की परिवर्तित हुई प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल विभाग व रचना का उपक्रम किया है । शुक्ल जी का यह हिन्दी साहित्य का एक वैज्ञानिक सुविचारित काल विभाजन है । शुक्ल जी के द्वारा हिन्दी साहित्य के 900 वर्षों के इतिहास को चार कालों में विभक्त किया गया है जो इस प्रकार हैं :-

1· आदिकाल (वीरगाथा काल, संवत 1050-1375)
2· पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल, संवत् 1375-1600)
3· उत्तर मध्यकाल (रीति काल, संवत् 1600-1900)
4· आधुनिक काल (गद्य काल संवत् 1900 1984)

इस प्रकार शुक्ल जी ने सर्वप्रथम साहित्य को काल विभाजन की एक मजबूत नींव पर खड़ा किया, जो कि आज तक साहित्येतिहासकारों के कुछ हेर-फेर के बाद भी उन्हीं के द्वारा प्रस्तुत काल विभाजन ही स्वीकार हुआ है । यद्यपि शुक्ल जी के काल विभाजन के समय उपयुक्त साहित्य सामग्री का अभाव था, परन्तु इस अभाव की अवस्था में भी काल विभाजन का इतना ठोस

आधार प्रस्तुत करना शुक्ल जी की अद्भुत प्रतिभा शक्ति, गहन अध्ययनशीलता तथा कठोर परिश्रम का प्रतिफल है ।

साहित्य सामग्री की अल्पता के कारण ही शुक्ल जी द्वारा वीर गाथा काल के अन्तर्गत गिनाए गये ग्रंथ आगे चलकर कुछ नोटिस मात्र और कुछ परवर्ती सिद्ध हुए तथा कुछ की प्रमाणिकता संदिग्ध मानी गयी ।

अतः आचार्य शुक्ल जी का इतिहास साहित्य के प्रवृत्तिमूलक एवम् वैज्ञानिक अध्ययन को लेकर चलायमान है । उन्होंने गवेषणा के द्वारा जिस विशाल भण्डार का अध्ययन किया, मनन किया, उस पर अपने चिन्तन का आवरण डाल कर प्रवृत्ति मूलक इतिहास प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया । इसके साथ ही शुक्ल जी ने प्रवृत्तियों की आधारशिला पर ही काल विभाजन का निरूपण किया । यद्यपि परवर्ती साहित्येतिहास निर्माताओं ने शुक्ल जी के स्थूल ढाँचे को अपनाया है, परन्तु उनके काल विभाजन के आधार को नहीं माना और अन्य भिन्न-भिन्न रूपों में प्रस्तुतीकरण किया है ।

शुक्ल जी के बाद हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की एक धारा सी प्रवाहित होने लगी, जिसमें काल विभाजन की दृष्टि से निम्न इतिहास ग्रंथ आते हैं :-

§1§ डा० रमाशंकर शुक्ल रसाल - हिन्दी साहित्य का इतिहास §सन् 1931§

§2§ डा० राम कुमार वर्मा - हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास §सन् 1938§

§3§ डा० गणपति चंद्र गुप्त - हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास

§4§ डा० राम खिलावन पाण्डेय - हिन्दी साहित्य का नया इतिहास

रसाल जी साहित्येतिहास के काल विभाजन में नवीनता के पक्षधर थे। उन्होंने काल विभाजन नवीनता की आधार शिला पर इस प्रकार किया है :-

§1§ बाल्यावस्था § 1000 - 1400 §

§2§ किशोरावस्था § 1400 - 1600 §

§3§ युवावस्था § 1600-1900 §

§4§ वृद्धावस्था § 1900 - अब तक§

रसाल जी ने साहित्य की अवस्था की तुलना व्यक्ति की अवस्था से की है, और उसके तीन भेद भी कर दिए हैं। उनकी पद्धति के अनुसार हिन्दी की वृद्धावस्था चल रही है व लगभग सौ दो सौ वर्षों में "मृत्यु काल" भी आ जाएगा। वस्तुतः इस प्रकार का काल विभाजन अत्यधिक बचकाना और हास्यास्पद लगता है। रसाल जी ने आदिकाल को "जय काल" भी कहा है, यह उतना ही त्रुटिपूर्ण है जितना की वीरगाथा काल कहना।

डा० राम कुमार वर्मा आचार्य द्विवेदी के साथ ही हिन्दी साहित्य लेखन के क्षेत्र में अवतरित हुए। वर्मा जी ने 693 ई० से 1693 ई० तक की कालावधि को अपने साहित्येतिहास के काल विभाजन का आधार बनाया है। सम्पूर्ण ग्रंथ में सात प्रकरणों का उल्लेख करते हुए सामान्यतः राम चन्द्र शुक्ल जी के ही वर्गीकरण को अपने काल विभाजन का आधार बनाया है, परन्तु डा० राम कुमार वर्मा ने काल विभाजन में युगों व धाराओं के नामकरण में कुछ परिवर्तन कर उसे सहज रूप प्रदान किया है। इस ग्रंथ में आदिकाल व भक्ति काल का ही विवेचन किया गया है ,जिसके नामकरण

में किंचित परिवर्तन किया गया है । वह इस प्रकार है :-

§1§	संधि काल	संवत् 750 - 1000
§2§	चारण काल	संवत् 1000 - 1375
§3§	भक्ति काल	संवत् 1375 - 1700
§4§	रीति काल	संवत् 1700 - 1900
§5§	आधुनिक काल	संवत् 1900 से अब तक ।

जिसमें आदिकाल को संधि काल और चारण काल नामक दो उप शीर्षकों में विभक्त किया गया है और भक्ति काल को संत काव्य व प्रेम काव्य आदि उप शीर्षकों में विभक्त किया गया है । डा० वर्मा जी ने इस विभाजन का प्रमुख आधार राजनैतिक परिस्थितियों तथा वातावरण आदि के परिवर्तन को माना है । "इस प्रकार हम राजनैतिक-पट, परिवर्तन के साथ साहित्य को निम्न-लिखित पांच भागों में विभाजित करते हैं" डा० वर्मा जी ने अपने ग्रंथ[1] में साहित्य की अपेक्षा राजनीति घटनाओं को अधिक महत्व दिया है । राजनीतिक परिस्थितियाँ हमारे साहित्य की गति-विधियों पर विशेष प्रभाव डालती हैं । यही कारण है कि डा० वर्मा

---

[1] डा राम कुमार वर्मा - हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक

जी का काल विभाजन से डा0 शुक्ल के काल विभाजन से काफी पृथक है । जिसमें प्रमुख रूप से हिन्दी साहित्य की शुरूआत संवत् 2000 के स्थान पर संवत् 750 से की गई है, और इसी आरम्भिक काल को संधि काल कहा है और शुक्ल जी के "वीर गाथा काल" को "चारण काल" कहते हैं । इसके अतिरिक्त डा0 वर्मा जी का काल विभाजन शुक्ल जी के मत से काफी समानता लिए है ।

डा0 वर्मा जी संवत् 750 वि0 से हिन्दी विकास काल की शुरूआत मानने के संबंध में स्वयं लिखते हैं कि - "इस समय से हिन्दी अपभ्रंश ने हिन्दी में परिवर्तित होना प्रारम्भ कर दिया था । इसलिए इसी समय से हिन्दी की शुरूआत माननी चाहिए । और इस समय के साहित्य की भाषा अपभ्रंश की गौरवशालिनी कृतियों के बीच भाषा की वही सरलता दृष्टिगोचर होने लगी थी, जो जनता को स्वभाविक मनोवृत्तियों से प्रेरित होकर अपने को साहित्य विधाओं से मुक्त करती है ।"[1]

अत: इस काल में दो भाषाओं की संधि का इतिहास

---

[1] डा0 राम कुमार वर्मा - हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ 67

होने के कारण इसका नामकरण संधि काल रखा गया । वर्मा जी ने इस काल का आरम्भ सं0 750 से माना है । जबकि दसवीं शती तक अपभ्रंश का परिनिस्ठित रूप प्रयुक्त होता रहा, किन्तु उसके उपरांत उसका झुकाव लोक भाषा की ओर हो गया, जिसे द्विवेदी जी ने अग्रसरीभूत या एडवांस अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी कहा है । संधि कालीन भाषा का रूप भी इसी समय से प्रारम्भ होता है । इससे पूर्व इस भाषा का व्यवहारिक रूप परिलक्षित नहीं होता है । परिनिष्ठित अपभ्रंश का साहित्य जो कि दशवीं शताब्दी के पूर्व का है, उसे हम हिन्दी साहित्य में स्थान नहीं दे सकते । इस दृष्टि से संधि काल का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है । यदि संधि काल का रूप है तो वह दशवीं शताब्दी के उपरान्त ही है । इससे पूर्व इसका स्वरूप परिलक्षित नहीं होता है ।

अत: वर्मा जी के इतिहास की मुख्य विवेचना वर्मा जी ने अपभ्रंश को अधिकांश रचनाओं को हिन्दी में स्थान देकर संधि काल का उल्लेख किया, स्वयंभू को हिन्दी का प्रथम कवि माना है व चारण काल में चारणों द्वारा रचित वीर रसात्मक साहित्य

की कई रचनाओं का उल्लेख किया है, लेकिन"चारण काल" नया नाम नहीं है । डा० ग्रियर्सन ने यह नाम पहले ही दिया था ।

डा० गणपति चन्द्र गुप्त जी ने डा० शुक्ल जी द्वारा स्थापित ढाँचे में आमूलचूल परिवर्तन करके "हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास" लिखने की आवश्यकता का इसलिए अनुभव किया क्योंकि विगत 35-40 वर्षों में हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में पर्याप्त अनुसंधान कार्य हुआ है ४७ जिससे बहुत सी ऐसी नयी सामग्री, नये तथ्य और नये निष्कर्ष प्रकाश में आये हैं जो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के वर्गीकरण, विश्लेषण आदि की प्रवृत्ति से सर्वथा विपरीत पड़ते हैं, जिसमें साहित्येतिहास के काल विभाजनों की प्रतिष्ठा करते हुए उसके आलोक में हिन्दी साहित्य का सर्वथा नवीन ढंग से काल विभाजन प्रस्तुत किया ।

गुप्त जी हिन्दी साहित्य को सांस्कृतिक परम्पराओं एवम् बाह्य परिस्थितियों के आवरण से आच्छादित करना रूचिकर समझते हैं - "वस्तुतः हमारा लक्ष्य सांस्कृतिक परम्पराओं एवम् बाह्य परिस्थितियों के प्रकाश में साहित्य की प्रवृत्तियों का अनुशीलन करना है, अतः काल विभाजन में भी इस तथ्य को ध्यान में रखना उचित होगा ।"

यही कारण है कि गुप्त जी ने सांस्कृतिक परम्पराओं और वाह्य परिस्थितियों को देखते हुए अपने ग्रन्थ में हिन्दी साहित्य का काल विभाजन वैज्ञानिक पद्वति से किया है । गुप्त जी ने हिन्दी साहित्य के क्षेत्र की व्यापकता, विशालता का निरूपण करते हुए तथा उसमें एक ही काल विशेष जो अनेको प्रवृत्तियाँ विभिन्न केन्द्रों के आश्रय पाकर एक साथ ही फल-फूल कर विकसित हो रही थी । उसका अवलोकन गुप्त जी ने भली-भाँति से किया और इसी तथ्य को काल-विभाजन के समय दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया । और सम्पूर्ण साहित्येतिहास लिखते समय भी इसे व्यहारिक रूप प्रदान किया । इसके अतिरिक्त डा० गुप्त जी हिन्दी साहित्य का नवीन वैज्ञानिक काल-विभाजन इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं । यद्यपि इससे पूर्ववर्ती लेखकों द्वारा काल - विभाजन केवल अध्यापकों एवम् विद्यार्थियों को सुविधा प्रदान करने वाला बतलाया है तथा इस प्रयास को एकांगिता और अधूरेपन का सूचक रहा है । गुप्त जी का काल विभाजन इस प्रकार है ---

1· 1184 - 1350 ई० - प्रारम्भिक काल या उन्मेषकाल

2· 1350 - 1857 ई० - मध्यकाल या विकास काल

(क) 1350 - 1500 ई० - पूर्व मध्यकाल या उत्कर्ष काल

§ख§ 1500 - 1600 ई0 - मध्यकाल या चरमोत्कर्षकाल

§ग§ 1600 - 1857 ई0 - उत्तर मध्यकाल या अपकर्षकाल

3. प्रारम्भिक काल §1184-1350ई0§ में केवल दो काव्य - परम्पराओं का प्रवर्तन होता है —

§क§ धार्मिक रासकाव्य - परम्परा §जैन कवियों के रास संज्ञक काव्य §

§ख§ सन्तकाव्य परम्परा §सन्त कवियों का काव्य §

4. मध्यकाल §1350 - 1857 ई0§ में क्रमशः निम्न परम्पराएँ विकसित हुईं —

§क§ सन्त - काव्य परम्परा §ख§ पौराणिक गीति - परम्परा §ग§ पौराणिक प्रबन्ध - काव्य परम्परा §घ§ रसिक भक्ति काव्य - परम्परा	धर्माश्रय में
§क§ मैथिली गीति - परम्परा §ख§ ऐतिहासिक रासकाव्य - परम्परा §ग§ ऐतिहासिक चरित काव्य - परम्परा §घ§ ऐतिहासिक मुक्तक - परम्परा §ङ§ शास्त्रीय मुक्तक परम्परा	राज्याश्रय में

(क) रोमांसिक कथाकाव्य - परम्परा	लोकाश्रय में
(ख) स्वच्छन्द प्रेमकाव्य - परम्परा	

इस प्रकार मध्यकाल में कुल 11 काव्य - परम्पराएं विकसित होकर साथ-साथ प्रवाहित हुई है ।

5. आधुनिकाल (1857 - 1965 ई0) इसे परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार निम्नांकित युग-भेदों में विभक्त किया जा सकता है —

क. भारतेन्दु युग (1857 - 1900 ई0)

ख. द्विवेदी युग (1900- 1920 ई0)

ग. छायावाद - युग (1920 - 1937 ई0)

घ. प्रगतिवाद - युग (1937 - 1945 ई0)

ङ. प्रयोग - युग (1945 - 1965 ई0)

गुप्त जी द्वारा प्रस्तुत हिन्दी साहित्य
का
संशोधित काल - विभाजन
(1184 - 1965ई0) [1]

1184 - 1350 ई0	1350 - 1857 ई0			1857 - 1965 ई0
प्रारंभिक काल	मध्यकाल			आधुनिक काल
	पूर्व-मध्य	मध्य-मध्य	उत्तर-मध्य	
	-1500-	-1600-	- 1857 -	

गुप्त जी का यह काल - विभाजन लम्बा है जिसे कोई भी सहजता से नहीं स्वीकार नहीं कर सकता । क्योंकि साहित्येतिहास का काल - विभाजन अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से किया जाता है, जिसमें उसका लक्ष्य इस युग की विभिन्न परिस्थितियों के सन्दर्भ में उसकी घटनाओं एवम् प्रवृत्तियों के विकास - क्रम को स्पष्ट करना होता है, न कि मौलिकता को दिखलाना । गुप्त जी के काल - विभाजन में मौलिकता को विस्तृत रूप से प्रस्तुत किया गया है जिसके परिणाम स्वरूप उनका काल विभाजन लम्बा, चौड़ा और

1. डा0 गणपतिचन्द्र गुप्त - हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, पृ0 123

गुम्फित हो गया है । जिस कारण उसमें सहजता तथा सुगमता का अभाव हो गया है उसे समझना दुष्कर है, उसके पश्चात् उसे याद रखना तो और भी कठिन है, गुप्त जी ने काल -विभाजन के समय अध्यापक और विद्यार्थियों की सुविधा का कोई ध्यान नही रखा है जबकि इन्हीं को साहित्य इतिहास को देखने समझने तथा याद रखने की आवश्यकता पड़ती है । एक सामान्य पाठक या एक सामान्य आदमी का हिन्दी साहित्य के काल - विभाजन से कोई सम्बन्ध नही होता । इसका सम्बन्ध तो उन्हीं से होता है जो साहित्य के इतिहास को अपनी अत्यन्त सूक्ष्मता तथा गहरी दृष्टि से अवलोकन तथा परीक्षण करते है ।

अत: काल - विभाजन वही सर्वश्रेष्ठ होता है, जो अध्यापकों - विद्यार्थियों के लिए उपयोगी हो, तथा पढ़ने, समझने, याद करने में सुविधाजनक हो । इसकी रिक्तता में काल-विभाजन से कोई भी लाभ नही ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी का काल - विभाजन विद्वानों ने मात्र इसलिए ग्रहण किया कि वह संक्षिप्त और सीधा

सादा था, जिसे समझने और याद करने में कोई कठिनाई नहीं होती है ।

गुप्त जी ने साहित्येतिहास के विकासवादी सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करते हुए उसके आलोक में हिन्दी साहित्य की नूतन व्याख्या प्रस्तुत करने की चेष्टा की । परन्तु उनके द्वारा किये गये साहित्य - सृजन के अनेकों आधारों को तो अस्वीकार किया ही गया, साथ ही उनके काल - विभाजन को भी अस्वीकृत कर दिया गया है । वैसे गुप्त जी अपने हिन्दी साहित्य के संशोधित काल विभाजन में इस विभाजन को उसी रूप में ले आये हैं, जो शुक्ल जी द्वारा प्रस्तुत किया गया है ।

संक्षेप में गुप्त जी का काल - विभाजन अमान्य है, जिसमें वैज्ञानिकता की स्पष्ट विवेचना नहीं हुई है इसी सम्बन्ध में पुरूषोत्तम प्रसाद आसोपा जी ने गुप्त जी के काल - विभाजन को अस्वीकार करते हुए कहा है कि —"वैज्ञानिकता के नाम पर गुप्त जी के मनगढ़न्त विचार ही हैं । अत: स्वंय लेखक को अपने

द्वारा प्रस्तुत काल-विभाजन का पुनर्परीक्षण करना चाहिए ।
और इस बात पर गौर करना चाहिए कि वैज्ञानिक होते हुए भी अब तक उनके ये विचार स्वीकार्य क्यों नहीं हुए ।"[1]

आदिकाल का स्वीकार्य काल विभाजन :- हिन्दी साहित्येतिहास के विद्वानों की इस लम्बी परम्परा में काल विभाजन को भिन्न-भिन्न रूपों, दृष्टियों और पद्धतियों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया । इस परम्परा में आचार्य राम चन्द्र शुक्ल का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है । शुक्ल जी के बाद हिन्दी साहित्य के काल विभाजन के संबंध में जो भी प्रयास किए गये वे अपने में त्रुटि पूर्ण हैं या उनमें स्पष्टता का अभाव है । साथ ही वे इतने अधिक उलझे हुए हैं कि स्वीकार नहीं किए गये हैं जिसके परिणाम स्वरूप आज भी शुक्ल जी द्वारा प्रस्तुत काल विभाजन ही हिन्दी साहित्य का वास्तविक काल विभाजन माना जाता है , यद्यपि शुक्ल जी ने जिन आधारों को साहित्योतिहास के काल विभाजन में अपनाया, उन्हें वे भली-भाँति प्रतिष्ठित नहीं कर सके । अत: उनका काल

---

[1]आदिकाल की भूमिका - पुरूषोत्तम प्रसाद आसोपा, पृ0-56
सूर्य पकाशन मन्दिर बीकानेर ।

विभाजन सर्वथा तर्कसंगत एवम् निर्दोष नहीं है । फिर भी किसी सीमा तक उनके द्वारा प्रस्तुत काल विभाजन अध्ययन सुव्यवस्था की दृष्टि से तथा काल-विभाजन के लक्ष्य अन्तत: इतिहास की विभिन्न परिस्थितियों के सन्दर्भ में उसकी घटनाओं एवम् प्रवृत्तियों के विकास-क्रम को स्पष्ट करने में अन्य साहित्येतिहासकारों के काल विभाजन की अपेक्षा अधिक सर्वश्रेष्ठ तथा मान्य काल विभाग है ।

डा० नगेन्द्र के शब्दों में - "शुक्ल जी ने जिस काल सीमा में कार्य किया था, उसमें कदाचित् यह सम्भव नहीं था कि इतिहास को वह रूप दिया जा सकता जो परवर्ती अनुसंधान से उपलब्ध नूतन तथ्यों और निष्कर्षों के आलोक में सम्भव है । वस्तुत: उस युग की सीमित ज्ञात राशि को लेकर भी उन्होंने उसे जैसा रूप दिया, वह निश्चय ही उनके जैसे व्यक्ति के लिए ही सम्भव था । इतिहास लेखन की ~~की~~ परम्परा में शुक्ल जी का महत्व सदा अक्षुण्ण रहेगा, इसमें संदेह नहीं ।"[1]

---

[1]हिन्दी साहित्य का इतिहास - सम्पादक डा० नगेन्द्र, पृ०-50
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर,

डा० गणपति चन्द्र गुप्त जी ने भी शुक्ल जी के हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा को प्रकाश स्तम्भ बतलाते हुए लिखा है कि - "हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की उपर्युक्त दीर्घ परम्परा में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कार्य उसका वह मध्यवर्ती प्रकाश - स्तम्भ है, जिसके समक्ष सभी पूर्ववर्ती प्रयास आभा-शून्य प्रतीत होते हैं, तो साथ ही परवर्ती प्रयास उसके आलोक से आलोकित हैं।"[1]

इतना ही नहीं नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा सत्रह भागों में आयोजित तथा प्रकाशित "हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास" जो हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण है, इसकी विशाल प्रक्रिया को क्रियान्वित करने में तथा इतिहास के स्थूल ढाँचे के रूप में भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी के काल विभाजन को ही आधार मानकर निरूपित किया गया है, जो हिन्दी साहित्य की सोलह भाषाओं में भी प्रस्तुत किया गया है।

---

[1] हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास - डा० गणपति चन्द्र गुप्त पृ०-134

हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास के सत्रह भाग इस प्रकार है :-

इसके प्रथम भाग मे हिन्दी साहित्य की पीठिका, द्वितीय भाग मे भाषा का विकास, तृतीय भाग मे हिन्दी साहित्य का उदय और विकास (1500 वि0 तक), चतुर्थ भाग मे भक्तिकाल सगुण भक्ति (1500 से 17 00 वि तक), पंचम भाग मे भक्तिकाल, सगुण भक्ति (1500 से 1700 वि0तक), छठे भाग मे श्रृंगारकाल (रीतिबद्ध) 1700 से 1800 वि0 तक, सप्तभाग मे श्रृंगार काल (रीतियुक्त) 1700 से 1900 वि0 तक, अष्टम भाग मे हिन्दी साहित्य का अभ्युत्थान (भारतेन्दु) 1900 से 1950 तक, नवम भाग हिन्दीसाहित्य का परिष्कार (द्विवेदी काल) 1950 से 1975 तक, दशम भाग – हिन्दी साहित्य का उत्कर्षकाल 1974 से 94 वि0 तक, एकादश भाग – हिन्दी साहित्य का उत्कर्षकाल (नाटक) 1974–95 वि0 तक, द्वादश भाग हिन्दी साहित्य का उत्कर्षकाल (उपन्यास, कथा, आख्यायिका) 1975 से 1995 वि0 तक, त्रयोदश भाग – हिन्दी साहित्य का उत्कर्षकाल 1975 से 1995 वि0 तक, चतुर्दश

भाग हिन्दी साहित्य का अद्यतन काल 1995 से 2010 वि0 तक, पंचदश भाग में हिन्दी में शास्त्र तथा विज्ञान, षोडश भाग में हिन्दी का लोक साहित्य तथा सप्तदश भाग हिन्दी का उन्नयन है ।

आज तक किसी भी भाषा के इतिहास में इतनी विशाल प्रक्रिया देखने को नहीं मिलती है । सम्पूर्ण ग्रंथ लेखन में शताधिक लेखकों का सहयोग सम्मिलित हो । प्रत्येक खण्ड अलग-अलग विद्वानो के सम्प-ादन में तथा विभिन्न लेखकों के सहयोग से निरूपित किया गया है, इसके अन्तर्गत हिन्दी साहित्य के विभिन्न युगों की समस्याओं,धाराओं और प्रवृत्तियों का विस्तृत, विवरणपूर्ण एवम् विवेचनात्मक इतिहास प्रस्तुत किया गया है । इस साहित्येतिहास ग्रंथो के अन्तर्गत हिन्दी भाषा और उसके साहित्य की समस्त उपयोगी सामग्री संग्रहीत की गई है । इसके विपरीत इस भव्य इतिहास लेखन की प्रक्रिया में कुछ त्रुटियाँ भी आ गयी हैं । शताधिक लेखकों द्वारा लिखे होने के कारण इसकी मौलिकता नष्ट हो गयी है । हिन्दी साहित्य के प्रत्येक युग तथा उसकी

समस्याओं, धाराओं और प्रवृत्तियों का विवरणपूर्ण, विवेचनात्मक आलोचनात्मक रूप प्रस्तुत किया गया है। किन्तु अनेक लेखकों के द्वारा होने लिखित होने के कारण सर्वमान्य का अभाव हो गया है।

उक्त विवेचन के उपरांत हम आदिकाल का समय मोटे तौर पर 10 वीं से 15 वीं शताब्दी तक मान सकते हैं।

आदिकाल में मिलने वाले अधिकांश काव्य रूपों की झलक 10 वीं शताब्दी से पहले मिलने लगी थी परन्तु उसकी स्पष्ट पृष्ठभूमि 10 वीं शताब्दी में ही तैयार हो पायी थी, जिसकी विस्तृत व विकसित परम्परा परवर्ती समय में देखने को मिलती है परन्तु हमने 15 वीं शताब्दी का समय आदिकाल की सीमावधि के लिए चुना है जो काव्य रूपों की दृष्टि से उचित है क्योंकि 10 वीं से 15 वीं शताब्दी के मध्य ही हमें आदिकालीन काव्य रूपों की महत्वपूर्ण रचनाएँ प्राप्त हुई हैं।

नामकरण

हिन्दी साहित्य के समस्त साहित्य सामग्री को विभिन्न काल खण्डों मे विभक्त करने के पश्चात् उसको विभिन्न नाम प्रदान करना भी एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है, क्योंकि काल विशेष। की प्रवृत्तियों और परिस्थितियों के अनुकूल रक्खा गया नाम उस काल की स्थिति को समझने मे सहयोग प्रदान करता है। इसलिए नाम ऐसा हो जो काल विशेष को साहित्यिक प्रवृत्तियों की स्थिति और परिस्थितियों आदि के अनुकूल हो। यदि नाम अनुपयुक्त होगा तो वह विवाद को जन्म देगा एवम् उस काल - विशेष की प्रवृत्तियों व स्थितियों को समझने मे असुविधा होगी। ऐसा ही कुछ आदिकाल के नामकरण के सम्बन्ध मे हुआ। जिसने विवाद का रूप धारण कर लिया। इसका महत्वपूर्ण कारण था विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत मौलिक कथन की प्रवृत्ति, जिसको तर्क की कसौटी पर नहीं कसा गया। साथ ही नाम के औचित्य को सिद्ध करने की उपेक्षा की जाती रही।

विभिन्न विद्वानों द्वारा इस काल को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा गया । उन्होंने अपने-अपने नामकरण में अनेकों आधारों का सहारा लिया । जिसमें आचार्य राम चन्द्र शुक्ल जी ने सर्वप्रथम काल विशेष के नामकरण के लिए किसी ठोस आधार का सहारा लिया । शुक्ल जी से पूर्व के इतिहासकारों ने बिना किसी स्पष्ट आधार के मनमाने ढंग से काल - खण्डों का नामकरण किया है । डा० ग्रियर्सन ने तो साहित्य सामग्री को ग्यारह काल खण्डों में विभक्त किया है । यह काल खण्ड ग्यारह अध्याय के समान है, तथा अध्यायों के माध्यम से ही नामकरण किया गया है, जो उचित नहीं है । ऐसे ही मिश्र बन्धुओं ने बिना किसी स्पष्ट आधार के हिन्दी साहित्य का काल विभाजन आठ खण्डों में विभक्त करके नामकरण किया है ।

अतः शुक्ल जी ने ही काल विशेष का नामकरण किस आधार पर, कैसे किया जाए, उसके लिए एक रूप-रेखा प्रस्तुत की । शुक्ल जी के नामकरण के दो आधार हैं :-

§1§ प्रवृत्ति की प्रधानता
§2§ ग्रन्थों की प्रसिद्धि

जिन पर उनका नामकरण ही नहीं समस्त इतिहास ग्रंथ समाधारित है परन्तु शुक्ल जी के समय तक ये आधार कुछ ठीक है, आज मात्र इन आधारों को स्वीकार नहीं किया जा सकता । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने शुक्ल जी के "ग्रंथों की प्रसिद्धि के आधार" के स्थान पर "प्रेरणादायक वस्तु के आधार को" स्वीकार किया है, उनके अनुसार - "प्रभाव उत्पादन एवम् प्रेरणा संचारक तत्व ही साहित्यिक काल के नामकरण का उपयुक्त निर्णायक हो सकता है ।"[1]

इसके अलावा कुछ अन्य आधार है जिन्हें डा0 नगेन्द्र ने "हिन्दी साहित्य के इतिहास" तथा पुरूषोत्तम प्रसाद असोपा ने "आदिकाल की भूमिका" नामक पुस्तकों में उन अन्य माध्यमों को प्रस्तुत किया है, जो आज तक साहित्य काल विशेष का नामकरण करने में प्रस्तुत किए जाते हैं । ये इस प्रकार हैं :-

§1§ जाति विशेष के नाम पर नामकरण - इस आधार को अपनाने में डा0 राम कुमार वर्मा प्रमुख हैं, जिन्होंने किसी एक

---

[1]हिन्दी साहित्य का आदिकाल - डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ0 24

जाति विशेष को एक विशिष्ट ढंग की रचनाओं को देख कर हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल को "चारण काल" नाम से पुकारा। डा० वर्मा ने आदिकाल में चारण कवियों की प्रधानता को देखते हुए यह नामकरण किया।

डा० वर्मा जी से पूर्व डा० ग्रियर्सन ने भी अपने साहित्येतिहास ग्रन्थ में हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल को चारण-काल कहा था।

§2§ जब किसी भाषा विशेष में रचनाएँ होने लगती हैं तो उस भाषा विशेष को नामकरण का आधार बना लिया जाता है। जैसे - अपभ्रंश-काल", "पुरानी हिन्दी - काल", इस आधार को अपनाते हुए डा० हरीश ने कहा है - "आदिकाल का नामकरण हम उत्तर अपभ्रंश-काल भी कर सकते हैं। इसी प्रकार डा० राम कुमार वर्मा जी ने दो भाषाओं की सन्धि के काल को "सन्धिकाल" नाम दिया है।"

§3§ व्यक्ति विशेष के नाम को नामकरण का आधार बना लेना भी प्रमुख है। साहित्य में कभी-कभी एक साहित्यकार

डा० हरीश - आदिकालीन हिन्दी साहित्य शोध, साहित्य भवन प्रा० लिमिटेड इलाहाबाद, पृष्ठ - 47

का व्यक्तित्व इतना प्रधान हो जाता है कि उस काल के अन्य साहित्यकार उसी को अपना आदर्श मानकर उसका अनुसरण करने लगते हैं, और वह व्यक्तित्व प्रधान साहित्यकार अपने युग का नेता हो जाता है । तब उस को उस व्यक्ति विशेष के नाम से पुकारा जाता है । जैसे - भारतेन्दु युग, द्विवेदी काल, रवीन्द्र-युग, छायावाद के लिए प्रसुमन काल नाम का प्रयोग किया गया है । जिसका प्रत्येक वर्ण एक कवि का नाम प्रकट करता है -
प्र = प्रसाद, सु= सुमित्रा नन्दन पन्त, म = महादेवी, न= निराला ।

§4§ जब कोई रचना शैली विशिष्टता का आवरण ओढ़ती है तो वह नामकरण का आधार बन जाती है । जैसे - छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, रोमानी काल आदि ।

§5§ नामकरण का एक सीधा सा आधार प्राचीनता तथा अर्वाचीनता भी है । ऐतिहासिक दृष्टि से जो साहित्य प्राचीन हुआ उसे पहले तथा जो आधुनिक हुआ उसे बाद में नामों से अलंकृत किया । जैसे आदिकाल, मध्यकाल, आधुनिक काल ।

§6§ किसी विशिष्ट काल की साहित्यिक रचनाओं के स्तर को देखकर भी नामकरण का आधार बनाया जाता है जैसे - उत्कर्ष-काल, चरमोत्कर्ष-काल, अपकर्ष-काल, अंधाकार कार आदि । डा० गणपति चन्द्र गुप्त जी ने अपने साहित्येतिहास ग्रंथ हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास में इसी आधार पर ऐसा ही नामकरण किया है ।

§7§ शासक और उसके शासन काल तथा धार्मिक सम्प्रदायों के आधार को भी स्वीकारा गया है जैसे - अंग्रेजी साहित्य में इस आधार के माध्यम से नामकरण का प्रचलन अधिक है । जैसे - एलिजाबेथ पीरीयड आदि । इसी आधार पर हिन्दी साहित्य में इसके प्रारम्भ पर ही नामकरण राहुल जी ने किया उन्होंने आदिकाल का नामकरण "सिद्धसामन्त-काल" रखा है । जो उस समय सिद्धान्तों के साथ सामन्तों की प्रधानता को देखने का परिणाम है । डा० ग्रियर्सन ने भी "कम्पनी के शासन में हिन्दुस्तान, महारानी विक्टोरिया के शासन में हिन्दुस्तान", आदि नामों का अपने साहित्योतिहास ग्रंथ में प्रयोग किया है ।

§8§ देश की दशा तथा उसकी राजनैतिक घटनायें भी नामकरण को आधार प्रदान करती हैं । जैसे - स्वातंत्र्योत्तर-काल, उन्नीसवीं सदी का पुनर्जागरण, दो महायुद्धों के मध्य की कविता ।

§9§ समय को खण्डित करके भी नामकरण का प्रारूप देने में आधार प्राप्त होता है, जैसे - बीसवीं सदी का साहित्य, पिछले दशक की हिन्दी कविता ।

§10§ साहित्य की गद्य तथा पद्यात्मकता को भी नामकरण का आधार डा० राम चन्द्र शुक्ल जी ने अपनाया है । उन्होंने आधुनिक काल में गद्य साहित्य का बाहुल्य देखा तो उसे गद्य-काल का नाम दे दिया ।

अतः साहित्येतिहास के विभिन्न कालों के नाम की उपर्युक्त प्रणालियाँ अपनाई गई हैं । जो आज किसी न किसी रूप में स्वीकृत कर ली गई है । परन्तु इन प्रणालियों के आधार आदिकाल के नामकरण के विषय में पर्याप्त नहीं हैं । जिसके परिणामस्वरूप आदिकाल विवादास्पद रूप लिए हुए है ।

आदिकाल का समय अत्यधिक उथल-पुथल का था। जिसमें सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन बहुत ही तितर-बितर था। किसी भी क्षेत्र में स्थायित्व नहीं था। जिस कारण इस समय का साहित्य विभिन्न प्रवृत्तियों में विभक्त हो गया और कोई एक प्रवृत्ति प्रधान रूप नहीं ले सकी। जिसके आधार पर इस काल का उपर्युक्त नामकरण किया जा सके क्योंकि नामकरण के लिए यह आवश्यक है कि वह ऐसा रूप लिए हो, जिसमें उस काल की सम्पूर्ण विशेषताएँ प्रतिबिंबित हो सकें। परन्तु आज तक आदिकाल का कोई भी सर्वमान्य नाम नहीं दिया जा सका है। यद्यपि साहित्येतिहासकार आरम्भ से लेकर अन्त तक इस सम्बन्ध में अपने-अपने मतों को प्रकट करते रहे हैं। इसके अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से भी कुछ नाम सुझाये गये। किन्तु वे भी सर्वमान्य नहीं हो सके इस वैविध्यपूर्ण साहित्य में से कोई वीरत्व को महत्व देता है तो कोई धार्मिकता को, कोई श्रृंगार को प्रमुखता देता है तो कोई मनोरंजन को।

अतः कोई भी नाम आदिकाल की प्रवृत्तियों सहित विशेषताओं को स्पष्ट नहीं कर पाया है।

आदिकाल के नामकरण के सम्बन्ध में विभिन्न साहित्येतिहासकारों तथा विद्वानों ने अपने-अपने मत प्रकट किये हैं, जो इस प्रकार हैं —

हिन्दी साहित्येतिहास लिखने का प्रारम्भ जिन विद्वानों ने किया उन्होंने काल-विभाजन की भाँति नामकरण पर भी कोई ध्यान नहीं दिया । जिसमें फ्रांसीसी विद्वान गार्सा - द - तासी, मौलवी करीमुद्दीन और डा० शिव सिंह सेंगर के साहित्येतिहास उल्लेखनीय हैं ।

गार्सा - द - तासी जी ने अपने इतिहास ग्रन्थ "इस्त्वार द लाल लितरेत्यूर एन्दुई ऐन्दुस्तानी" में हिन्दी और उर्दू कवियों का वृत संग्रहित किया है । इसमें न काल - विभाजन किया गया है न ही नामकरण । इसके उपरान्त मौलवी करीमुद्दीन ने "तजकिरा - ई -शुअराई - हिन्दी" नाम इतिहास ग्रन्थ लिखा । जिसमें प्रथम बार काल - क्रम का ध्यान तो रखा गया, किन्तु काल - विभाजन और नामकरण के सम्बन्ध में लेखक को

लेखनी यहाँ पर भी मौन है । इसके बाद डा० शिव सिंह सेंगर ने अपने "शिव सिंह सरोज" नामक ग्रन्थ लिखा । जिसमें उन्होंने हिन्दी साहित्य के सर्वाधिक कवियों का वृत संग्रह किया, जो उनका सर्वप्रथम महत्वपूर्ण प्रशंसनीय कार्य था । जिसमें लगभग एक हजार कवियों का संकलन किया गया है, साथ ही उनका संक्षिप्त परिचय एवम् साहित्यिक परिचय भी दिया गया है किन्तु यहाँ पर क्रम अकारादि अपनाया गया है इसके साथ ही काल - विभाजन और नामकरण का कोई उल्लेख नहीं किया गया है ।

अतः इन विद्वानों के साहित्येतिहास के अतिरिक्त जो अन्य "भक्तमाल", चौरासी वैष्णवन की वार्ता, "दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता", आदि कतिपय कवि-वृत्त संग्रह ही लिखे गये, जिसमें काल - विभाजन के साथ नामकरण की ओर कोई ध्यान नही दिया गया है ।

वस्तुतः हिन्दी साहित्य को विभिन्न काल-खण्डों में विभक्त करने तथा उन्हें भिन्न-भिन्न नामों से भूषित करने का श्री गणेश डा० ग्रियर्सन के द्वारा हुआ । डा० ग्रियर्सन ने

अपने साहित्येतिहास ग्रन्थ "माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव हिन्दोस्तान" में सर्वप्रथम हिन्दी साहित्य सामग्री को काल खण्डों में विभक्त ही नहीं किया, वरन् उन काल - खण्डों का नामकरण भी किया । इन्होंने आदिकाल के लिए "चारण-काल" नाम प्रयुक्त किया है, किन्तु इस नाम को किस आधार पर चुना, इसके सम्बन्ध में इन्होंने कोई उल्लेख नहीं किया है इसके अतिरिक्त न ही उस समय की चारण रचना या चारण प्रवृत्ति की रचना का कोई उल्लेख किया है । परन्तु इस प्रकार की रचनायें तो 1000 ई० तक ही मिलती है । इस लिए आदिकाल के लिए यह नाम ठीक नहीं है ।

डा० ग्रियर्सन के पश्चात् मिश्र बन्धुओं ने अपने साहित्येतिहास ग्रन्थ मिश्र बन्धु - विनोद में समस्त साहित्य सामग्री को आठ काल - खण्डों में विभक्त करके उसका नामकरण किया । उन्होंने सर्वप्रथम 643 ई० से 1387 ई० तक के समय के आदिकाल लिए पूर्वारम्भिक काल या प्रारम्भिक - काल नाम

प्रयुक्त किया । यह भी मात्र एक संज्ञा है जिसके पीछे किसी पद्धति आधार का उल्लेख नहीं है, जो इस नामकरण को सिद्ध करने में सहायक सिद्ध हो सके उन्होंने जो भी नामकरण किये - पूर्वारम्भिक काल, उत्तरारम्भिक काल, पूर्व माध्यमिक काल, प्रौढ़ माध्यमिक काल, पूर्वालंकृत काल, अज्ञातकाल, परिवर्तन काल और वर्तमान काल, इन सभी में प्राचीनता या अर्वाचीनता के आधार पर साहित्य के काल - खण्डों का नामकरण किया । अर्थात् जो साहित्य इतिहास के प्रारम्भ के समय में पड़ता था उसको सामान्य तरीके से "प्रारम्भिक काल" कह दिया । इससे उनके इस नाम का कोई औचित्य सिद्ध नहीं होता ।

मिश्र बन्धुओं के उपरान्त साहित्येतिहास का काल - विभाग करके, उसके नामकरण के लिए ठोस आधारों का आलम्बन लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने अपने "हिन्दी साहित्य का इतिहास" ग्रन्थ में आदिकाल को वीरगाथा - काल नाम प्रदान किया जिसके आधारों को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने कहा "प्राकृत की अन्तिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिन्दी साहित्य का

आविर्भाव माना जा सकता है ।..... अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी के पदों का सबसे पुराना पता तान्त्रिक और योगमार्गी बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से लगता है । मुंज और भोज के समय (संवत् 1050 के लगभग) में तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य रचनाओं में भी पाया जाता है । अत: हिन्दी साहित्य का आदिकाल संवत् 1050 से लेकर 1375 तक, अर्थात् राजा भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय के कुछ पीछे तक, माना जा सकता है ।..... आदिकाल की इस दीर्घ परम्परा के बीच डेढ़ सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता है - धर्म, नीति, श्रृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएं दोहों में मिलती हैं । इस अनिर्दिष्ट लोक - प्रवृत्ति के उपरांत जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरम्भ होता है तब से हम हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बंधती हुई पाते हैं । राजाश्रित कवि .... अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रम पूर्ण चरितों या गाथाओं का वर्णन करते थे ।

यही प्रबन्ध परम्परा रासों के नाम से पायी जाती है । जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने वीरगाथा काल कहा है ।"[1]

शुक्ल जी के साहित्येतिहास का अवलोकन करने के पश्चात यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने चित्तवृत्तियों के साथ कवि की मनोवृत्तियों के परिवर्तन के आधार पर वीरगाथा काल नाम आदिकाल के लिए प्रयुक्त किया, जिसकी स्थापना संवत् 1050 से 1375 तक मानी है इसके साथ ही शुक्ल जी ने वीरगाथा काल का आधार प्रमुख दो बातों से माना है — §1§ प्रवृत्ति की प्रधानता, §2§ ग्रंथों की प्रसिद्धि।जिस काल के अन्तर्गत किसी विशेष प्रवृत्तिमूलक रचनाओं का प्राचुर्य हो, उसे एक अलग काल के रूप में स्वीकार कर लिया गया और उसका नामकरण भी रचनाओं की विशेष प्रवृत्तियों के अनुसार किया गया उन्हीं के शब्दों में — "यदि किसी काल में चार ढंग की 10 पुस्तकें प्राप्त हैं तो उसकी प्रचुरता कहीं जायेगी यद्यपि अन्य पुस्तकें संख्या में मिलकर 12 हैं ।"[2]

---

[1]आचार्य रामचन्द्र शुक्ल — हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ0 4 - 5

[2]आचार्य राम चन्द्र शुक्ल — हिन्दी साहित्य का इतिहास,पृ0 नागरी प्रचारिणी सभा, काशी पृष्ठ 2 §वक्तव्य§

द्वितीय आधार ग्रंथों की प्रसिद्धि का है ।
किसी काल के अन्तर्गत जिन समान प्रवृत्तियों के प्रमुख ग्रंथ है, उस काल के ग्रंथ उस काल के लक्षण कहे जावेंगे चाहे दूसरे ढंग के अप्रसिद्ध और साधारण कोटि के बहुत से ग्रंथ इधर-उधर कोनों में पड़े मिल जाया करें । [2] यह सच है कि ग्रंथों की प्रसिद्धि भी किसी काल की लोक प्रवृत्ति का परिचय देने में सहायक होती है ।

इन आधारों के माध्यम से शुक्ल जी ने वीरगाथा काल का नामकरण किया है । जिसको तर्कसंगत कहा जा सकता है किन्तु जिस परिधि में इसको रखा गया है वह बहुत ही संकीर्ण हो गयी है । इसके अतिरिक्त एक लम्बे समय तक शुक्ल जी का दिया हुआ वीरगाथा काल नाम आदिकाल के लिए प्रयुक्त होता रहा । आज भी बहुत से विद्वान वीरगाथा काल नाम का ही प्रयोग करते हैं । शुक्ल जी के वीरगाथा काल नामकरण में ऐसे वीर गाथात्मक ग्रंथों की अधिकता मिलती है, जो उस समय पर्याप्त रूप से प्रचलित रहे होंगे ।

---

[2] पृष्ठ 2 {वक्तव्य}

शुक्ल जी ने कुल बारह पुस्तकों के आधार पर नामकरण किया है, जो वीरगाथा काल के प्रमुख ख्याति प्राप्त ग्रंथ हैं उसमें चार अपभ्रंश भाषा के और आठ देश भाषा के ग्रंथ हैं । जो इस प्रकार हैं :-

§1§ अपभ्रंश भाषा - इस भाषा के प्रमुख ग्रंथ हैं :-

1- विजय पाल रासो §नल्लसिंह कृत सं0 1355§
2- हम्मीर रासो §शाङर्गधर कृत सं0 1356§
3- कीर्ति लता
4- कीर्ति पताका §विद्यापति कृत सं0 1407§

§2§ देश्य भाषा - देशी भाषा के प्रमुख ग्रंथ हैं :-

5- खुमान रासो §दलपत विजय सं0 1130-1205§
6- वीसल देव रास §नरपति नाल्ह कृत सं0 1212§
7- पृथ्वी राज रासो §चन्द वरदाई कृत सं0 1225-1249§
8- जय चन्द्र प्रकाश §भट्ट केदार कृत सं0 1225§
9- जयमयंक जस चन्द्रिका §मधुकर कवि कृत सं0 1230§
10- परमाल रासो §आल्हा का मूल रूप, जगनिक कृत सं0 1230§
11- खुसरो की पहेलियाँ §सं0 1340§
12- विद्यापति की पदावली §सं0 1460§

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी की इन बारह रचनाओं में से खुसरो की पहेलियाँ तथा "विद्यापति की पदावली" को छोड़कर नौ रचनाओं को वीरगाथात्मक प्रवृत्ति से युक्त माना गया है अब "बीसलदेव रासो" शेष बचती है जिसे कुछ विद्वान वीरगाथात्मक मानते हैं कुछ श्रृंगारिक बतलाते हैं । उपर्युक्त रचनाओं की वीरगाथात्मक प्रवृत्ति का प्राचुर्य को ध्यान रखते हुए ही सम्भवत: शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल को "वीरगाथा काल" कहा है । शुक्ल जी द्वारा प्रस्तुत इस "वीरगाथाकाल" नाम को बहुत से विद्वानों ने स्वीकार किया, इतना ही नहीं उसे आधार मानकर अध्ययन भी किया । इसके विपक्ष में बहुत से विद्वान ऐसे भी हैं जिन्होंने इस नाम पर आपत्ति की जिसमें डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० हीरालाल जैन, अगर चन्द्र नाहटा, डा० हरिशंकर हरीश, पुरूषोत्तम प्रसाद आसोपा, डा० गणपति चन्द्र गुप्त आदि नाम प्रमुख हैं ।

शुक्ल जी ने इन वीरगाथात्मक रचनाओं के श्रृंखला की प्रथम कड़ी में खुमान रासो को स्थान दिया है जिसकी

रचना तिथि सं0 1180 से 1205 तक माना गया है साथ ही शुक्ल जी ने देश्य भाषा में आने वाली रचनाओं की श्रेणी में भी इसे प्रथम स्थान दिया है । और शुक्ल जी द्वारा इस काल का प्रारम्भ सं0 1050 से माना गया है । और खुमान रासो जिसका रचनाकाल सं0 1205 ठहरता है इन सभी दृष्टियों से "खुमानरासो" वीरगाथाकाल का सर्वप्रथम ग्रंथ ठहरता है ।" तब ये जो 150 वर्ष काल को क्रोड़ में घसोट कर लाए जाते हैं उनको निरर्थक कहना असंगत नहीं परन्तु इसके सम्बन्ध में प्राय: यह कह कर सन्तोष किया जाता है कि बिना विशिष्ट प्रवृत्तियों की रचनाओं के अभाव में किसी काल को विशिष्ट मान लेना ठीक नहीं है । अत: संभवत: शुक्ल जी ने सं0 1050 से लेकर खुमान रासो की रचना के समय का कोई विशेष नाम न देकर उसे वीरगाथा काल में ही उद्भूत कर दिया ।"[1]

उपर्युक्त विवेचन तथा अनुसंधानों के आधार पर "खुमान रासो", "पृथ्वीराज रासो", "परमाल रासो", तथा विजयपाल रासो अप्रमाणिक सिद्ध हो चुके हैं । भट्ट केदार कृत "जयचन्द्र प्रकाश" और

---

[1]आदिकालीन हिन्दी साहित्य शोध - डा0 हरीश पृ0 35

मधुकर कवि रचित "जयमयंक जस चन्द्रिका का उल्लेख मात्र मिलता है, इसके अतिरिक्त हम्मीर रासो भी अनुपलब्ध है, प्राकृत पैंगलम में इसका मात्र एक छन्द मिलता है ।

इस प्रकार शुक्ल जी ने जिन्हें नामकरण के आधार की सामग्री स्वीकारा वह अप्रमाणिक सिद्ध हुई और सभी रासो काव्य वीरगाथात्मक काव्य भी नहीं है । "वीसलदेव" श्रृंगारिक काव्य है और पृथ्वीराज रासो भी प्रेमकाव्य है । जिसमें युद्ध आदि का वर्णन श्रृंगार को और पुष्ट करने के लिए किया गया साथ ही इसकी प्रमाणिकता भी संदिग्ध है ।

विद्यापति की कालावधि भी स्वयं विवाद उत्पन्न करती है । विद्यापति का रचनाकाल स्वयं शुक्ल जी ने 1460 संवत् माना है । और इधर शुक्ल जी 1375 संवत् में वीरगाथा काल की समाप्ति कर देते है । फिर भी उन्हें वीरगाथा काल में स्थान देते हैं । एक ओर उन्होंने जैन रचनाओं को धर्म से प्रेरित मानकर साहित्य में अविवेच्य बतलाया है तथा दूसरी ओर सिद्धों व

नाथपंथियों की परम्पराओं का वर्णन किया है। शुक्ल जी के नामकरण की भी सीमाएँ हैं, उनका ग्रन्थ 1929 में लिखा गया था। उस समय तक प्राचीन साहित्य बहुत कम प्रकाश में आया था उन्हें जो थोड़े से ग्रन्थ मिले उनका भी सम्यक् विवेचन नहीं हो सका, इस काल के अन्तर्गत गिनाए गये ग्रंथ अप्रमाणिक, परवर्ती तथा नोटिस मात्र हैं। अतः शुक्ल जी के आधार ही नष्ट हो गये जिस कारण आदिकाल के लिए वीरगाथा काल अनुपयुक्त ठहरता है।

शुक्ल जी के नामकरण की न्यूनताओं के सम्बन्ध में डा० रामकुमार वर्मा जी ने विचार प्रकट करते हुए वीरगाथा काल के स्थान चारण काल का नामकरण किया लेकिन चारणकाल नाम नया नहीं था। इससे पूर्व डा० ग्रियर्सन ने भी चारणकाल नाम का प्रयोग आदिकाल के लिए किया था। यद्यपि दोनों के बतलाए गये समयों में पर्याप्त अन्तर है, फिर भी एक ही प्रवृत्ति विशेष की ओर संकेत चारणकाल कहकर दोनों ने किया है। वर्मा जी ने शुक्ल जी के द्वारा प्रस्तुत वीरगाथाकाल को चारणकाल

नाम क्यों दिया इसका उन्होंने कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है । उनके मतानुसार इस काल के साहित्य की रचना अधिकतर चारणों द्वारा हुई है इस कारण इस जाति के कवियों द्वारा रचित साहित्य चारणकाल के कवियों का साहित्य कहना उचित है । अनुमानत: चारणों की इसी विशेषता को देखकर वर्मा जी ने इसे चारणकाल नाम दिया हो । परन्तु आज यह नाम सही नहीं ठहरता है क्योंकि वर्मा जी ने जिन पुस्तकों की चर्चा चारणकाल के अन्तर्गत की है उसमें बीसलदेव रासो को छोड़कर एक भी पुस्तक चारणों द्वारा नहीं लिखी गई है । बीसलदेव रासो भी चारणकाल की परवर्ती ठहरती है । अर्थात् संवत् 1000 से 1375 जिसे वर्मा जी ने चारणकाल की सीमावधि बताया है अनुसंधानों के आधार पर वर्मा जी का चारणकाल नामकरण निराधार है ।

वर्मा जी के उपरान्त राहुल सांस्कृत्यायन जी ने आदिकाल के लिए "सिद्धसामन्तकाल" नाम प्रयुक्त किया है । उनके अनुसार उस समय धार्मिकता का बोल-बाला था जिसमें सिद्धों का प्रभुत्व था जो स्वयं रचना करते थे राजनैतिक क्षेत्र के रूप में

सामन्तों का बोल-बाला था जो रचना प्रेरक के रूप में थे ।
सिद्धों का साहित्य दोहा और चर्यापदों में मिलता है ।
"सामन्तीय वातावरण जो युद्धों के कारण वीरता और निराशा
से प्रधान था, के कारण आध्यात्मिक क्षेत्रों में सिद्धों के रहस्यवाद
के कारण"[1] इस काल को राहुल जी ने सिद्धसामन्त काल नाम
दिया हो जिसको द्विवेदी जी ने भी स्वीकारा है । "विषयवस्तु
को दृष्टि में रखकर इस काल के लिए राहुल जी ने एक और नाम
सुझाया है जो बहुत दूर तक तत्कालीन प्रवृत्ति को स्पष्ट करता
है यह नाम है "सिद्ध सामन्त काल ।"[2] इसके विपरीत राहुल
जी के इस नामकरण में त्रुटियाँ भी अधिक मात्रा में हैं जिसकारण
यह नाम स्वीकृत नहीं हो सका जिसके अन्तर्गत इस नामकरण ~~से~~
में आदिकाल को समस्त साहित्य का समावेश नहीं हो पाता है ।
जैन साहित्य जो आदिकाल का प्रमुख साहित्य है इस नाम के
कारण उपेक्षित हो जाता है इतना ही नहीं इसमें उस समय के

---

[1]आदिकाल की भूमिका - पुरूषोत्तम प्रसाद आसोपा पृ0-67

[2]हिन्दी साहित्य का आदिकाल - आ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी
पृ0 24

समस्त रसों की विधाओं तथा महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों की रचनाओं की भी उपेक्षा हुई है । सिद्धसामन्त काल नाम में "नाथपन्थी हठयोगी कवियों तथा अमीर खुसरो आदि की काव्य प्रवृत्तियों का नाम से समावेश नहीं होता ।"[1] इस नाम से उस अत्यंत महत्वपूर्ण लौकिक रस को रचनाओं का कुछ भी पता नहीं चलता जो परवर्ती काल में भी बहुत व्यापक रूप से प्रकट हुई हैं"[2] अत: राहुल जी द्वारा प्रस्तुत सिद्धसामन्त काल नाम उपयुक्त नहीं है ।

राहुल जी के उपरांत अन्य विद्वानों ने भी आदि काल का नामकरण किया है जैसे - डा० कमल कुलश्रेष्ठ का "अंधकार काल", पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का पुरानी हिन्दी काल और विश्वनाथ मिश्र द्वारा किया गया "वीरकाव्य" आदि नामों को प्रयुक्त किया गया है जिसमें कमल कुलश्रेष्ठ जी का "अंधकार काल" नामकरण करने में उनका मत - "खोज की वर्तमान स्थिति

---

[1]हिन्दी साहित्य का इतिहास - डा० नगेन्द्र पृ०-69

[2]हिन्दी साहित्य का आदिकाल - आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० 27

में यह हमारे साहित्य का अन्धकार है, हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ कब से हुआ, इसके विषय में विभिन्न मत हैं । इस समय की भाषा अपभ्रंश या अपभ्रंशाभास प्राकृत थी । इसकी संधिकालीन स्थिति संदिग्ध है । अत: इस संदिग्ध अवस्था वाले समय को अंधकार कहना ही अधिक समीचीन होगा ।"[1]

आज तक के अनुसंधान के कारण आदिकाल की स्थिति बहुत कुछ स्पष्ट हो गयी है|इस कारण आदिकाल का अंधकार तिरोहित हो गया है और हिन्दी साहित्य का विकास दसवीं शताब्दी से ही हुआ है जिसके समर्थक विद्वानों की संख्या अधिक है साथ ही भाषा के स्वरूप को पहचाना जा चुका है इस प्रकार अब यह "अन्धकारकाल" नहीं रहा है अत: यह नाम अनुपयुक्त है ।

गुलेरी जी ने आदिकाल को भाषा के आधार पर पुरानी हिन्दी काल का नाम दिया है । "अपभ्रंश को ही पुरानी हिन्दी कहना अनुचित नहीं, चाहे कवि के देशकाल के अनुसार उसमें कुछ रचना प्रादेशिक हो ।[2] लेकिन मात्र भाषा के आधार पर

---

[1] डा0 कमल कुलश्रेष्ठ - आदिकालीन साहित्य शोध {डा0 हरीश} पृ0 46 से उद्धृत

[2] पं0 चन्द्रधर शर्मा गुलेरी - हिन्दी काव्य धारा, पृ0 ।।

नामकरण करना उचित नहीं है । अतः इसका आधार ही त्रुटिपूर्ण है। इस कारण "पुरानी हिन्दी काल" उचित नहीं है इसके अतिरिक्त विश्वनाथ मिश्र द्वारा प्रयुक्त नाम "वीरकाव्य" नवीनता लिए हुए है इस कारण इस पर विद्वानों का ध्यान केन्द्रित हुआ परन्तु यह शुक्ल जी के नामकरण का रूपान्तर मात्र निकला और न हो कोई आधार प्रस्तुत करने में समर्थ हुआ है । अतः यह नाम भी ठीक नहीं ठहरता उपर्युक्त नामकरण की विवादास्पद स्थिति को देखते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने "हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास" नाम से संक्षिप्त इतिहास लिखने से मुख्य प्रवृत्तियों के विवेचन को ध्यान में रखा है इसके अतिरिक्त उनकी दो अन्य कृतियाँ "हिन्दी साहित्य की भूमिका" और हिन्दी साहित्य का आदिकाल है । इन कृतियों में द्विवेदी जी ने अपने समय तक प्राप्त सामग्री का अत्यंत शोधपरक विस्तृत व्यापक नवीन दृष्टि से विवेचन किया है तथा अपने पूर्ववर्ती साहित्यकारों के मतों की भी समीक्षा की है । वस्तुतः जिन ग्रंथों को प्रमाणिक माना गया था उनकी प्रमाणिकता संदिग्ध हो गयी साथ ही उन्होंने वर्णरत्नाकर

तथा उक्ति व्यक्ति प्रकरण आदि रचनाओं के अतिरिक्त बौद्ध सिद्धों नाथ योगियों तथा जैन कवियों की कृतियों की भी विस्तृत विवेचना की है । यही कारण है द्विवेदी जी राहुल जी द्वारा दिये गये "सिद्ध सामंत युग" नाम को आदिकाल के लिए बहुत असंगत नहीं मानते थे क्योंकि उस काल में सिद्धों सामन्तों की प्रेरणा से साहित्य की रचना हुई लेकिन इनके अतिरिक्त अन्य लोगों ने भी अन्य श्रोतों से प्रेरित होकर साहित्य सृजन का कार्य किया इसी कारण राहुल जी का नाम अपूर्ण सिद्ध हुआ ।

अत: द्विवेदी जी चाहते थे ऐसा कोई नाम दिया जाए जिसमें सभी तत्कालीन साहित्य समाहित हो जाए तथा भाषा, भाव विचारणा, शिल्प, भेद आदि के ताने-बाने भी सुलझ जाए द्विवेदी जी को कोई अन्य नाम नही सूझा तो उन्होंने हिन्दी साहित्य की शुरुआत को "आदिकाल" नाम दे दिया, हालांकि द्विवेदी जी स्वयं इस नाम से संतुष्ट नही थे परन्तु कोई ऐसा आधार होना ही चाहिए था, जिस पर आगे का साहित्य टिक सके ।

इस प्रकार द्विवेदी जी द्वारा दिया गया नाम आदिकाल ही सम्प्रति प्रयुक्त किया जा रहा है । अन्य उपयुक्त नाम के अभाव में यह नाम बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है । जिसके विषय में डा० नगेन्द्र का कथन है - "भाषा की दृष्टि से इस काल के इतिहास में हिन्दी के आदि रूप का बोध पा सकते हैं, तो भाव की दृष्टि से इसमें भक्ति काल से आधुनिक काल तक की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों के आदिम बीज खोज सकते हैं । जहाँ तक रचना-शैलियों का प्रश्न है, उनके भी वे सभी रूप, जो परवर्ती काव्य में प्रयुक्त हुए अपने आदिकाल में मिल जाते हैं इस काल की आध्यात्मिक, श्रृंगारिक तथा वीरता की प्रवृत्तियों का ही विकसित रूप परवर्ती साहित्य में मिलता है । अत: "आदिकाल" ही सबसे अधिक उपयुक्त एवम् व्यापक नाम है ।" [1]

---

[1] डा नगेन्द्र - हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ0 69 - 70

अध्याय - 2

आदिकालीन काव्य रूप

साहित्य समाज के यथार्थ स्वरूप का प्रतिबिम्बित करने वाला सबसे सहायक उपकरण है, जो अति प्राचीनकाल से हमें समाज के सभी रूपों का दर्शन तथा ज्ञान कराता आ रहा है। वर्स फील्ड महोदय ने "साहित्य मानव समाज का मस्तिष्क है" कहकर साहित्य का स्वरूप निर्धारित अत्यन्त संक्षिप्त एवम् सारगर्भित रूप में किया है। साहित्य अपने समय के मानव समाज के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा ऐतिहासिक आदि सभी क्षेत्रों के दुःख-सुख, हर्ष-शोक, क्रोध-घृणा, उत्कर्ष-उपकर्ष, आदि मनोभावों को प्रतिबिम्बित करने में सहायक रहा है अर्थात् साहित्य समाज का दर्पण है। "जाति विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके उच्च-नीच भावों का, उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक संगठन का, उसके ऐतिहासिक घटना चक्रों और राजनीतिक स्थितियों का प्रतिबिम्ब देखने को यदि कहीं मिल सकता है तो उसके ग्रंथ-साहित्य में मिल सकता है। जिस जाति की सामाजिक अवस्था जैसी होती है उसका साहित्य भी वैसा होता है। जातियों की क्षमता और सजीवता यदि कहीं प्रत्यक्ष देखने को मिल सकती है

तो उसके साहित्य रूपी आइने में मिल सकती है ।"[1] साहित्य के द्वारा ही समाज की प्रवृत्ति, सामाजिक जीवन के मूल्यों एवम् विविध घटनाचक्रों की अभिव्यक्ति होती है, किसी भी काल विशेष, राष्ट्र अथवा किसी संस्कृति के उत्थान-पतन का प्रमाणिक एवम् विश्वसनीय स्वरूप हमें उससे सम्बन्ध रखने वाले साहित्य से ही प्राप्त होता है ।

साहित्य की अक्षुण्ण परम्परा है जिसका प्रारम्भिक रूप हमें ऋग्वेद से मिलता है। उस समय का साहित्य संस्कृत भाषा में लिखा गया जिसके प्रमुख ग्रन्थ ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, ~~सामवेद~~, अथर्ववेद एवम् तत्सम्बन्धी ब्राह्मण, आरण्यक एवम् उपनिषद हैं । इसके उपरान्त प्राकृत भाषा का रूप सामने आता है जिसमें बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म की साम्प्रदायिक शिक्षा उपदेशों को बुद्ध तथा महावीर ने प्रयुक्त किया । इसके उपरान्त विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण की रचनाएं मिलती हैं । चौथी, पाँचवीं शताब्दी से अपभ्रंश भाषा का रूप मिलने लगा था जिसमें सिद्ध, जैन तथा लौकिक साहित्य लिखा गया । अपभ्रंश काव्य की परम्परा से हिन्दी भाषा तथा उसकी अन्य भाषाओं का जन्म हुआ अर्थात हिन्दी साहित्य

---

1. आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी - निबन्ध

की परम्परा आदिकाल से प्रारम्भ होती है। एक समय का साहित्य दूसरे समय के साहित्य की परम्परा में कुछ शाश्वत सत्य प्रदान करता है । "इस पूर्ववर्ती उत्तरवर्ती क्रिया के संक्रमण से जीवन के मूलभूत तत्वों का आरक्षण होता है और साहित्य की परम्परा बढ़ती चली जाती है। आरक्षण और संरक्षण की इन्हीं क्रिया-प्रक्रियाओं की परम्पराओं को प्रगति कहते हैं जो साहित्य में सर्वत्र एकरस व्याप्त रहती है"[1]

हिन्दी साहित्य की परम्परा में भी संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा के कुछ रूप प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में मिल जाते हैं । साहित्य की परम्पराओं का स्वरूप हमें विविध रूपों में प्राप्त होता है जो काव्य रूपों के रूप को प्रस्फुटित करता है ।

काव्य रूप का स्वरूप :- "काव्य" शब्द का व्यवहार में पद्य बद्ध रचना के अर्थ में प्रयोग होता है, यद्यपि काव्य का साहित्य में अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयोग हुआ है । सातवीं शताब्दी में काव्य के लिए "साहित्य" शब्द का प्रयोग होने लगा । भर्तृहरि ने "साहित्य संगीत कला विहीन" में साहित्य शब्द का प्रयोग काव्य के लिए किया है ।

---

[1] डा० हरीश - आदिकालीन हिन्दी साहित्य शोध पृ० - 120

धीरे-धीरे इसका अर्थ संकुचित होकर केवल पद्य बद्ध रचना का सूचक बन गया। काव्य कवि के समस्त ज्ञान, कल्पनाओं व उसकी अनुभूति का एक मूर्त रूप है। अपनी अनुभूति अपने ज्ञान को दूसरों तक पहुँचाने के लिए कवि की आकांक्षा जब तीव्रता से बलवती हो उठती है तब वह अपनी समस्त अनुभूति व कल्पना को शब्दों के माध्यम से एक आकार प्रदान करता है तभी काव्य का सृजन होता है। जिस कवि की अनुभूति जितनी गहरी होगी उसकी अभिव्यक्ति भी उतनी सशक्त होगी। अनुभूति को प्रकट करने के माध्यमों का भेद है। कवि अपनी कविता के द्वारा करता है तो चित्रकार चित्रों द्वारा व मूर्तिकार मूर्तियों द्वारा वह सब प्रकट करने में सफल होता है जिसे वह व्यक्त करना चाहता है और जिस रूप में व्यक्त करना चाहता है। कवि अपनी रचना को एक रूप प्रदान करता है, उसे आवरण देता है। रूप का अर्थ है किसी वस्तु का बाहरी आकार प्रकार। रूप के द्वारा ही विचारों को आकार मिलता है। इसी प्रकार से किसी वस्तु का बोध होता है। अरस्तु के अनुसार - "रूप किसी वस्तु के अस्तित्व का वह अभ्यान्तरण कारण होता है, जिसके द्वारा उस वस्तु के उपादान (मिटीरियल) को आकार प्राप्त होता है।"[1] यह कथन सही है, रूप के द्वारा ही रचना के आकार उसके गुण का निश्चय होता

---

[1] हिन्दी साहित्य कोश - पृ० 848 पर उद्धृत

है । जिस प्रकार आत्मा अपनी अभिव्यक्ति के लिए देह धारण करती है वही उसका रूप कहलाता है । काव्य के क्षेत्र में अनुभूति (आत्मा) अभिव्यक्ति का रूप धारण करती है तब काव्य रूप बन जाता है । यही वाह्य रूप अनुभूति का प्रतीक बन जाता है । स्थान विशेष की परिस्थितियों के अनुसार ही काव्य रूप विकसित व निर्मित होते हैं । उसके निर्माण में तमाम संस्कृतियों का प्रभाव पड़ता है । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है - "जब-जब कोई जाति नवीन जाति के सम्पर्क में आती है तब-तब उसमें नई प्रवृत्तियाँ आती है, नई आचार परम्परा का पालन होता है, नये काव्य रूपों की उद्भावना होती है और नये छन्दों में जन चित्त मुखर हो उठता है ।"[12] इसी तरह भाषा व काल का भी प्रभाव पड़ता है । कभी कोई काव्य रूप किसी भाषा व काल में विशेष प्रभावी रहता है, परन्तु दूसरी भाषा व काल में महत्वहीन हो जाता है ।

हिन्दी साहित्य का आदिकाल काव्य रूपों की दृष्टि से बहुत ही सम्पन्न है । परन्तु उसके सम्पूर्ण काव्य रूपों का अभी तक

---

[1] हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० 90

पूर्णरूपेण मूल्यांकन नहीं हो पाया है क्यों कि इस काल का बहुत सा साहित्य विद्वानों के भाषा तथा प्रामाणिकता, अप्रामाणिकता के विवाद में घिरा है । इस काल में जन-जीवन की जिन अनुभूतियों ने काव्य रूपों को जन्म दिया है उनमें पर्याप्त विविधता है जिसमें सचेतन समाज की सहज स्थितियों, जीवन की विभिन्न दशाओं और स्वच्छंद प्रवृत्तियों के अनेकों रूप मिलते हैं । कथ्य की दृष्टि से आदिकाल में बहुत से काव्य रूपों का उदय दिखाई देता है जो संस्कृत की परम्परा से प्राकृतों अपभ्रंशों से होते हुए परवर्ती अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी के साहित्य में विद्यमान है। लेकिन इस काल के साहित्य में अनेकों नवीन प्रकार के काव्य रूपों के भी दर्शन होते हैं जिसमें धार्मिक, कथा-काव्य और ऐतिहासिक धरातल पर चरित काव्यों को लिखने की प्रवृत्तियों का विकास प्रारम्भ होता दिखाई देता है, जिसका प्रभाव परवर्ती काल में उभर कर सामने आया । इस काल के साहित्य की प्रवृत्ति स्त्री के लिए युद्ध पर आधारित थी भक्तिकाल में दूसरा स्वरूप धारण करके विकसित हुई व उसका विकास क्रम आगे के समय तक जारी रहा । प्राकृतों और अपभ्रंशों से श्रृंगार की प्रवृत्ति जो इस काल से होती हुई रीतिकाल मे विशेष रूप से उभर कर सामने आयी अत: इस काल का साहित्य अत्यन्त विविधता पूर्ण है इसको विभिन्न

काव्य प्रवृत्तियाँ जो आने वाले समय में एक-एक प्रवृत्ति के रूप में विकसित हुईं, लेकिन आदिकाल में वे सब प्रवृत्तियाँ एक साथ मिलती हैं यही वह समय था जब हठयोग काव्य भी मिलता है तो दूसरी ओर खुसरो की मनोरंजक पहेलियाँ, जगनिक का आल्हा खण्ड तथा प्रशस्ति मूलक काव्य में चन्द का पृथ्वीराज रासो, ब्रजसेन सूरि का भरतेश्वर बाहुबलिरास, विद्यापति की कीर्तिलता, कीर्तिपताका रचनायें मिलती हैं। इसके अतिरिक्त श्रृंगारिक काव्य भी इस काल में प्रचुरता से मिलता है जिसमें नरपति नाल्ह की वीसलदेव रास, धनपाल की भविसयत्त कहा, अब्दुल रहमान की संदेश रासक तथा ढोला मारू रा आदि रचनायें मिलती हैं। खड़ी बोली के प्रारम्भिक स्वरूप के दर्शन भी इसी काल में होते हैं, जो अमीर खुसरो की रचनाओं में तथा कुतुब शतक में देखे जा सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इस युग में धार्मिक आध्यात्मिक प्रवृत्ति, श्रृंगार की सहज साधारण प्रवृत्ति, वीर रस की ओजपूर्ण रचनायें तथा प्रकृति सौन्दर्य की छटायें, राष्ट्र गौरव की भावना, मानव के जन जीवन के विभिन्न पहलुओं, लोक जीवन की सहज अभिव्यक्ति आदि सभी का सम्मिश्रण मिलता है।

आदिकाल में प्राकृत अपभ्रंश परम्परा से जो काव्य रूप आए उनमें रासक, चरित काव्य, फागु, वेलि, मंगल, कथा-काव्य, चर्चरी आदि प्रमुख हैं । राजस्थान की लौकिक पृष्ठभूमि पर मानव जीवन की वैविध्यपूर्ण साहित्यिक परम्पराओं से भी अनेक काव्य रूपों का उद्भव एवम् विकास हुआ है जो आदिकाल की अनमोल निधि है इसमें प्रमुख काव्य रूप है - ख्यात, बात, विगत, वंशावली, रासौ, विलास, पोठो, प्रकाश, रूपक, तथा वचनिका । इस काल के काव्य रूपों का स्वरूप छन्द प्रधान विषय प्रधान भी है । इसे राग, कथा, उपासना, इतिहास, संख्या आदि नामों से भी अभिभूत किया गया है । ये काव्य रूप खण्ड-काव्य, महाकाव्य, एकार्थ काव्य, कथा काव्य तथा प्रबन्ध काव्य रूपों में भी वर्गीकृत किए जा सकते हैं । परन्तु शैली और शिल्प के आधार पर वर्गीकरण करना बहुत सही नहीं प्रतीत होता । आदिकालीन साहित्य में विशाल संख्या में प्राप्त काव्य रूप अत्यंत व्यापक विषम स्थिति उत्पन्न कर देते हैं । एक ओर काव्य प्रवृत्ति का ध्यान रखना पड़ता है दूसरी ओर काव्य रूप के स्वरूप का । विभिन्न काव्य रूप भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों में प्राप्त होते हैं जैसे - "रास" शीर्षक रचनाओं को ले, तो ये धार्मिक काव्य में भी मिलेंगे; उपदेश मूलक रास, ग्रंथ भी हैं। शृंगार परक भी हैं । साथ ही प्रशस्ति मूलक वीर

रसात्मक भी है । इसी प्रकार फागु संज्ञक रचनाएँ चरित प्रधान, श्रृंगार प्रधान, तथा धार्मिक उपदेश मूलक है । बावनी शीर्षक रचनाएँ भी धार्मिक, लौकिक पृष्ठभूमि की रचनाएँ हैं । बेलि संज्ञक रचनाएँ लौकिक बेलि साहित्य, जैन बेलि साहित्य तथा ऐतिहासिक बेलि आदि रचनाएँ हैं ।

अत: यहाँ हम आदिकाल में प्राप्त होने वाले विभिन्न काव्य रूपों का उद्भव विकास तथा परम्परा आदि का वर्णन करेंगे जो आदिकाल की महत्वपूर्ण निधि है । विभिन्न काव्य रूपों का परिचय निम्नलिखित है :-

रासो काव्य

हिन्दी साहित्य मे रास की परम्परा अति प्राचीन है । रास संज्ञक शीर्षक से उद्धृत अनेक रचनाएँ प्राप्त हुई है । इसकी परम्परा संस्कृत साहित्य से हिन्दी में आई है, लेकिन अपभ्रंश-काल मे यह परम्परा अपने समृद्ध रूप मे थी । हिन्दी साहित्य के आदिकाल मे सबसे अधिक रास, या रासो शीर्षक युक्त रचनाएं प्राप्त हुई है इसे रास, रासो, रासा तथा रासक नामों से भी जाना जाता है । ये रासो काव्य धार्मिक काव्य तथा लौकिक काव्य के रूप में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं इसकी अधिकांश रचनाएं

जैन - साहित्य की रचनाएँ हैं । जो प्राचीन राजस्थानी व पुरानी या जूनी गुजराती की हैं ।

"रासो" शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उसे राजसूय, रसायण, रहस्य, राजादेश, रसिक आदि कई शब्दों से जोड़ा गया है "रसानाम् समूहो रास:" अत: रसों का समूह ही रास है । ईश्वर को रस समूह माना गया है । जिस दिव्य क्रीड़ा में एक ही रस अनेक रसों के रूप में होकर अनन्त-अनन्त रस का रसास्वादन करें, एक रस ही रस समूह के रूप में प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद्य, आस्वादक लीलाधाम और विभिन्न आलम्बन एवम् उद्दीपक रूप में क्रीड़ा करें, उसका नाम रस है ।[1]

श्री मान्कड का विचार है कि - रास की व्युत्पत्ति "रास धातु से हुई है जिसका अर्थ है जोर-जोर से चिल्लाना/। इसका संबंध उस काल के आदिम नृत्यों से जोड़ा जा सकता है जिस समय संगीत की मात्रा और कलात्मक गति व्यवस्थित नहीं हुई थी । इस समय वन्य नृत्य के रूप में इसका प्रचलन रहा होगा । मान्कड जी ने रास का स्वरूप

---

[1] श्रीमद्भागवत द्वितीय खण्ड पृष्ठ - 303

और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है - "रास उस प्राचीनतम् युग की देन है जब मानव जंगलों में निवास करता था और उसका सामाजीकरण नहीं हो पाया था। वह अपने मनोभावों को चिल्लाकर, हँसकर, रोकर प्रकट कर सकता था किन्तु उसमें गति तथा लय रूपी कलात्मकता का अभाव था।[1] रास शब्द का अर्थ भिन्न कालों में भिन्न रूपों में प्रचलित रहा है।

भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में रास शब्द का उल्लेख किया है और इसका सम्बन्ध क्रीड़ा नृत्य से बताया है और इसे "क्रीड़नीयक"[2] कहा है।

भास के नाटक "बाल चरित" में रास का समनार्थी शब्द "हल्लीसक" आया है जिसमें गोपालों व गोपिकाओं के मिलकर नृत्य करने

---

[1] रास is thus not to be derived from रस but from रास् a root which means to cry aload, which may refer to be very primitive from of this dance when the proportion of music and artistic movements may not have been still realistic and when it must have been practised as wild dance.
(Types of Sanskrit Drama P.143, By D. R. Mankad)

[2] नाट्य शास्त्र - भरतमुनि - "क्रीड़नीयक मिच्छामोदृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्" प्रथम अध्याय

का वर्णन है । रास का सम्बन्ध अभीरों के नृत्यों से जोड़ा जा सकता है । इस समय तक यह शुद्ध लोक नृत्य के रूप में प्रचलित था । सातवीं शताब्दी के आते-आते बाण-भट्ट के समय में यह एक पूर्ण व्यवस्थित नृत्य का रूप ले चुका था । बाणभट्ट की कृति हर्षचरित से इसकी पुष्टि होती है । इनके समय तक रासों नृत्यों का व्यापक प्रसार हो गया था, क्योंकि हर्ष के जन्मोत्सव वर्णन में उन्होंने रासक मण्डल का बड़े जोर शोर से उल्लेख किया है । बाण - भट्ट ने इसे उपस्थक विशेष बताया है। रास उस समय तक जन - साधारण में काफी लोकप्रिय हो गया था व उसमें नृत्य के साथ - साथ गेय तत्व भी सम्मिलित हो गया था । और इसके दोनों ही रूप समान रूप से प्रसिद्ध थे । हर्षचरित में ही एक प्रसंग में "अश्लील रासक पदानि" का उल्लेख है, जिसका आशय स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले गीतों से है जो विटों के कानों को अमृत समान लगते थे । वात्स्यायन ने भी रासक में नृत्य के साथ गान का भी उल्लेख किया है "हल्लीसक क्रीडनकैर्गानैः" ।

रास के नृत्य के साथ गान की पुष्टि श्रीमद्भागवत के रासपंचाध्यायी से भी होती है इसके दशम् स्कंध के तीसरे अध्याय

में कई बार "रास" शब्द का उल्लेख हुआ है ।[1] उस समय रास में गीत संगीत की प्रधानता थी ।

डा० दशरथ शर्मा के अनुसार – "श्रव्य रास की भी 11वीं शताब्दी तक उत्पत्ति हो चुकी थी, चर्चरी और रास नृत्यों के साथ लोग अनेक प्रकार की देश्य भाषा में रचित गीतियां गाते । यही गीतियां चर्चरी और रास के नाम से प्रसिद्ध हो चलीं।" इस तरह रास में गेयतत्व व नृत्य तत्व दोनों ही सम्मिलित रहे पर, अनुपातिक रूप स्पष्ट नहीं है ।

12वीं शताब्दी से इसके स्वरूप में परिवर्तन लक्षित होने लगा । गेयतत्व के साथ इसका पाठ्यकाव्य भी लोकप्रिय होने लगा । इसका योगदान जैन आचार्यों को जाता है । जिन्होंने अपने धर्म से सम्बन्धित निर्देशों व उपदेशों के प्रचार व प्रसार हेतु रासक ग्रन्थों का निर्माण किया । बारहवीं शताब्दी के जैन आचार्य जिन वल्लभ सूरि के निर्देशों व कवक सूरि कृत "उपदेश गच्छ पट्टावली

---

1. भागवत् दशम स्कन्ध, अध्याय 33।2 – 3
2. रासो के अर्थ का क्रमिक विकास — साहित्य संदेश जुलाई – 1951

तथा खरतर गच्छ पट्टावली से इस बात का पता चलता है, इन रासक ग्रन्थों में अभिनेयता का गुण भी था ।

दसवीं शताब्दी के बाद से ही रासकों में कथा तत्व का समावेश तो हो ही चुका था साथ ही गेयतत्व मुख्य रूप से उभरकर सामने आया व नृत्य तत्व कुछ गौण होने लगा और निरन्तर कम होता गया । इसमें श्रृंगार परक वीर प्रशस्ति मूलक रचनाएं हुईं साथ ही जैन साधुओं में इसे अपने उपदेशों का माध्यम बनाया, क्योंकि यह रासक काव्य सरस तथा सहज थे व जन - साधारण में अत्यन्त लोक प्रिय थे । इसलिए जैन आचार्यों ने कथा युक्त रासाबन्धों के माध्यम से उपदेश देने का कार्य किया । साथ ही जन - साधारण की रुचि को समझा क्योंकि जनता अपने सुख - दुःख, मनोरंजन, पूजा, वीरता, इत्यादि का वर्णन उस रूप में करना चाहती है जो स्व उसे प्रिय हो व उसी रूप में उसका प्रकटीकरण चाहती है इसलिए बारहवीं शताब्दी के उपरान्त ऐसे रासक ग्रन्थों की संख्या बढ़ने लगी जिसमें कथा की प्रधानता थी व विभिन्न उपदेशों के निमित्त लिखे गये ।

बारहवीं - तेरहवीं शताब्दी के पश्चात् रास ग्रन्थों की भरमार हो जाती है व इसके स्वरूप में भी परिवर्तन होने लगा। गेय तत्व जो अभी तक मुख्य रूप से उभर कर सामने आया था अब इसका पक्ष कमजोर पड़ने लगा साथ ही अभिनेय पक्ष भी, इसके स्थान पर कल्पना युक्त यथार्थ आख्यानों का समावेश होने लगा व इसमें छन्द की विविधता पर बल दिया जाने लगा। रासकों के काव्य रूप के सम्बन्ध में विरहांक और स्वयंभू से जो अपभ्रंश के प्रसिद्ध छन्द शास्त्री हैं, जानकारी मिलती है स्वयंभू ने रासों का लक्षण बताते हुए स्वयंभू छन्दरस के आठवें अध्याय के 49वें छन्द में लिखा है कि रासा छन्द अपने घत्ता, छडडणिया, पद्‌टाडिआओं एवम् सुन्दर छन्दों के साथ मिलकर जन मानस में अत्यन्त लोकप्रिय हुआ।

रास में जब गेय तत्व बढ़ा तो उस विशेष प्रकार के गान को लोग रासा छन्द कहने लगे। रास ग्रन्थों में इस छन्द की प्रमुखता दीख पड़ती है।

रास जन-जन में अत्यन्त लोकप्रिय हुआ, इस कारण

सभी ने अपने उद्देश्यानुसार इसको माध्यम बनाया। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि इस समय तक के प्राप्त होने वाले सभी रासो ग्रन्थ पश्चिम भारत से ही प्राप्त हुए हैं। हालाँकि रास इस समय तक मिथिला पहुँच गया था, इसकी पुष्टि 14वीं शताब्दी की प्रसिद्ध पुस्तक "वर्णरत्नाकर" से होती है "रासव" शब्द का इस ग्रन्थ में नृत्य वर्णन के रूप में उल्लेख किया गया। इस सम्पूर्ण साहित्य को सुरक्षित रखने का श्रेय जैनियों को जाता है, जिन्होंने धार्मिकता से ओत-प्रोत होकर विशाल जैन साहित्य की सुरक्षा की, इसी का यह परिणाम है कि आज हजारों की संख्या में ग्रन्थ प्रकाश में आ सके।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में रासो ग्रन्थ शृंगारिक व रोमांचक, उपदेशात्मक, वीर चरितात्मक कई रूपों में लिखे गये, जिन्हें धार्मिक व लौकिक में बाँटा जा सकता है या जैन और जैनेतर काव्य के रूप में।

इस तरह रास अपने स्वरूप को बदलता हुआ इस रूप में पहुँचा, जहाँ उसकी दो परम्पराएँ विकसित हुईं -- पहली नृत्य-गीत-परक,

दूसरी छन्द वैविध्य - परक । इस तरह रास एक आदिम नृत्य से एक काव्य रूप के रूप में विकसित हुआ । रासो संज्ञा से विभूषित अपार साहित्य का सृजन हुआ ।

अतः रास सम्पूर्ण भारत में महत्वपूर्ण विधा या काव्य रूप रहा है । "देश के विभिन्न भागों में रास धार्मिक अथवा लोकनृत्य के रूप में प्रचलित रहा है । उत्तर भारत में रास लीला के रूप में, गुजरात में गरबा नृत्य के रूप में, मणिपुर में राखालरास के रूप में तथा बंगाल में काठी नृत्य के रूप में रास अब भी जीवित है । महाराष्ट्र में कातर बैल टीपरीझिम्मा तथा दक्षिण में कुम्मि इत्यादि नृत्य रास से मिलते जुलते है ।"

रास या रासो हमें काफी संख्या में प्राप्त होते हैं जिसमें प्रमुख रास इस प्रकार है —

1· उपदेश रसायन रास {सं० 1171} जिनदत्त सूरि
2· संदेश रासक {11वीं शती} अब्दुल रहमान
3· मुन्ज रासो {12वीं शती} अज्ञात

4. भरतेश्वर बाहुवली रास (सं० 1241) सालिभद्र सूरि

5. चन्दनवाला रास (सं० 1257) कवि अज्ञात

6. जीवदया रास (12 वीं शती) आसगु

7. स्थूलिभद्र रास (सं० 1266) जिनधर्म सूरि

8. रेवन्तगिरि रास (सं० 1288) विजयसेन सूरि

9. आबू रास (सं० 1289) पल्हड़

10. नेमिनाथ रास (सं० 1295) सुमतिगण

11. कच्छुली रास (सं० 1363) प्रज्ञा तिलक

12. समरा रास (सं० 1371) अम्बदेव

13. गयसुकुमाल रास (14 वीं शती) देल्हण

14. पृथ्वीराज रासो (14 वीं शती) चन्दवरदायी

15. मयणरेहरास (14 वीं शती) रयणु

16. बीसलदेवरास (सं० 1400 के लगभग) नरपति नाल्ह

17. पंचपांडव रास (सं० 1410) सालिभद्र सूरि

18. गौतम स्वामी रास (सं० 1412) उदयवत्त

19. बुद्धि रासो (सं० 1450 के लगभग) जल्हकवि

उपर्युक्त रासो काव्यों में "संदेश रासक", "मुन्ज रासो", "बीसलदेव रास" तथा बुद्धि रासो, काव्य विषय की दृष्टि से श्रृंगार रस परक रासो काव्यों की श्रेणी में आते हैं तथा भारतेश्वर बाहुबलि रास, पृथ्वीराज रासो प्रशस्तिमूलक वीर रसात्मक रासो काव्य के अन्तर्गत आते हैं, इसके अतिरिक्त अन्य समस्त रास रचनाएँ धार्मिक तथा उपदेशमूलक रास हैं ।

रास संज्ञक रचनाओं की परम्परा 19 वीं शती तक विस्तृत है जिनमें मुख्य हैं - दयाल दास का राणा रासो §16 वीं शती§, कुंभकर्ण का रतन रासो §17 वीं शती§, डूँगरसी का शत्रुपाल रासो §18 वीं शती§, गिरिधर चारण का सगत सिंह रासो §18 वीं शती§, सदानन्द का रासाभगवन्त सिंह §18 वीं शती§ शिवनाथ का रासा भैया बहादुर सिंह §19वीं शती§ ।

फागु काव्य

"फागु" या "फाग" हिन्दी साहित्य के आदिकाल के रास अथवा रासक के समान ही महत्त्व पूर्ण काव्य रूप है । रास और फागु में

शिल्प सम्बन्धी विशेषताओं में समानता है । कुछ विद्वान तो फागु को रास की ही एक शाखा मानते हैं रासों की भाँति इसमें भी बसन्त ऋतु में गाये जाने वाले लोक गीत इसके मूल स्रोत मालूम पड़ते हैं । आप्टे के कोश में "फाल्गु" के कई अर्थ दिये गये हैं, जैसे – बसन्त ऋतु, बसन्तोत्सव, होली आदि । "फाल्गुन", बसन्त ऋतु का एक महीना भी होता है और "इन्द्र" का भी एक नाम "फाल्गुन" कहलाता है ।"[1] इस प्रकार "फाल्गु" या फागु का सम्बन्ध फागुन महीने में होली या बसन्त से है । जिस में प्रकृति अपने अनूठे रूप में होती है । सम्पूर्ण वातावरण उमंग तरंग से लिप्त होता है ऐसे उल्लासमय वातावरण में गाये जाने वाले गीत ही फागु कहलाते थे ।

फागु काव्यों की परम्परा का आरम्भ आदिकाल में होता है । परन्तु इस परम्परा की छुट-पुट झाँकी हमें संस्कृत में मिलती है । श्री अक्षय चन्द्र शर्मा ने लिखा है –"ऋतु काव्यों में भी फागु का

---

[1] संस्कृत – इंगलिश शब्दकोश, पृ0 383

प्रारम्भिक रूप देखा जा सकता है । फागु की स्पष्ट झाँकी हमें सबसे पहले हर्ष प्रणीत "रत्नावली" नाटिका के प्रथम अंक में मिलती है । कवि ने मदनोद्यान में मदन पूजा का समारोह पूर्ण सभारंभ दिखाया । मदनिका तो उन्माद के कारण समयोचित नृत्य भी भूल गई विदूषक ने उसे ¶मअण वस विसंठुलं वसंतभिणयं णच्चती – कामवश चेटिका वसन्ताभिनय नाचती हुई¶ देखकर ठीक ही राजा ने वैसा निवेदन किया था । कन्दर्प पूजा के अवसर पर चेटियाँ नृत्य करती हुई समवेत स्वर से द्विपदी खण्ड गाती थी ।"[1] संस्कृत में ऋतु काव्य सम्बन्धी साहित्य का अभाव है । संस्कृत के पश्चात् अपभ्रंश में फागु की परम्परा दिखलाई देती है जिसकी अभिव्यक्ति प्रकृति के आनन्द और उमंग में संगीतमय गीतों से लिप्त है । हिन्दी में फागु काव्यों का प्रारम्भ 12 वीं 13 वीं शती से होता है । इसके पश्चात् इसकी परम्परा ने लगातार काफी विकासोन्मुख अवस्था प्राप्त की 17 वीं शती० तक रचित अनेकों फागु काव्य मिलते हैं ।

फागु काव्यों को अनेक विद्वानों ने भिन्न रूपों में परिभाषित किया है —

---

[1]नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष 59, अंक 1, सं0 2011 पृ0 22 में श्री अक्षय चन्द्र शर्मा का लेख – सिरिथूलिमद्द फागु – पर्यालोचन

(क) डा० सांडेसरा ने फागु शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के फल्गु प्राकृत फग्गु अपभ्रंश फागु से निष्पन्न बताई है ।[1]

(ख) के० बी० व्यास ने – "वसन्त विलास की भूमिका में फागु को मधु ऋतु के उल्लसित वातावरण में गाया जाने वाला गान विषय वर्णन के आधार पर माना है ।[2]

(ग) अक्षय कुमार शर्मा ने इसे "मधु महोत्सव रूपी गेय रूपक कहा है ।"[3]

(घ) डा० म० र० मजुमदार के अनुसार – "फागु अपने मूल में लोक – साहित्य का गीत स्वरूप है ।"[4]

---

[1]प्रा० फा० सं० ; डा० सांडेसरा ; पृ० 43 – "फागु शब्द वसन्तोत्सव न अर्थ में आप्यु है ।"

[2] The word " Phaga" is derived from S. K. फाल्गुन AP फग्गु O W R फाग The Phaga is so - called because it mainly deals with the joy and pleasure of spring time, Introduction page 38, दे० वसन्त विलास–कान्ति लाल बी व्यास ।

[3]नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष 59, अंक: संवत् 2011 पृ० 25

[4]गुजराती साहित्य नां स्वरूपो, पृ० 201

§च§ श्री के० काशी राम शास्त्री जो गुजराती विद्वान हैं इन्होंने श्रृंगारिक विषयों के आधार पर इसे फागु काव्य कहा है।[1]

§छ§ डा० सांडेसरा ने भी हेमचन्द्र की फागु सम्बन्धी परिभाषा पर प्रकाश डाला है देशी नाम माला में हेमचन्द्र ने इसे वसन्तोत्सव कहा है ।[2]

§ज§ श्री के० एम मुन्शी के अनुसार - "वसन्तोत्सव के समय गाए जाने वाले "रास" को "फागु" कहा जाता था । इस फागु काव्य में वसन्त सौन्दर्य, प्रेमीजन और उनके नृत्य वर्णन के द्वारा मानव मन में स्वाभाविक आनन्दातिरेक की अभिव्यक्ति होती थी ।"[3]

उपर्युक्त परिभाषाएँ फागु काव्य की महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों का संकेत देती है जो फागु काव्य का मुख्य विषय है । फागु शीर्षक रचनाएँ

---

[1] आपणा कवियों - श्री के काशी राम शास्त्री ; पृ० 233

[2] फाग महुच्छणें - देशी नाम माला : हेमचन्द § 7 - 82 § तथा प्रा०का०म० - डा सांडेसरा पृ० 53

फागु काव्यों की बहुत सी जानकारी देती है । उसमें आदिकाल के फागु या परवर्ती काव्य के फागु लिये जा सकते हैं । जिनपद्मम सूरि रचित "थूलि भद्द फागु" ॥1200 ई ॥ में फागु काव्य की विषयगत प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है —

"खरतरगच्छि जिणप्रदम सूरि किय फागु रमेवउ ।
खेला नावइ चैतमास रागिहि गावेवउ ।।"[1]

अर्थात् चैत मास में उल्लासपूर्ण वातावरण में नाचने, खेलने, क्रीड़ा करने, गाने के विधान का उल्लेख मिलता है । प्रसन्नचन्द सूरिकृत "रावणि पार्श्वनाथ फागु" में फागु काव्यों को खेलने की प्रवृत्ति मिलती है ।

"तिणि पुरि पासह वर भुवणि चालउ घुइ दिसिनारे ।
फाग छंदि आम्हे खेलिसु सार जु ईहि संसारे ।।[2]

15 वीं शताब्दी के "जम्बु स्वामी रास में, जिसके लेखक अज्ञात हैं, फागु को मधु ऋतु के उल्लासपूर्ण वातावरण का उत्सव बताया है, जिसने गाना,

---

[1]फाग महच्छणे – देशी नाम माला : हेमचन्द्र ॥ 6 – 82॥ तथा प्रा० का० सं० – डा० सांडेसरा पृ० 53

[2]साहित्येतिहास आदिकाल – डा० सुमन राजे पृ० 59।

खेलना, तथा रस में डूब जाना ही फागु की प्रवृत्ति रही है —

"फागु वसंति जि खेलइ वे लाइ सुगुण विधान ।
विजयवंत ते छाजइ राजइ तिलक समान ।।"[1]

कवि जयशेखर सूरि कृत "नेमिनाथ फागु" ॥ 15 वीं शताब्दी॥ में रमणियों और कामिनियों के गीत, नृत्य तथा खेलने का वर्णन मिलता है ।

निज यश दिसि दिसि व्यापए थापए चउविह संघ
सूर उते हज तामिय घामिय कामिय रंग
कवितु बिनो दिहि सिरिजय सिरिजय सेहर सूरि
जो खेलइ ते अर्हपद संपद पामइ पूरि [2]

समधरू ने फागु को सुहावनी ऋतु में खेलने को कहा है —

अर्हं समधरू मणइ सोहावणउ
फागु खेलउ सविचार ।

इसी प्रकार गुणचन्द सूरि कृत "बसन्त फागु"[3], कीर्तिरत्न सूरि फाग[4],

---

[1]जम्बूस्वामी फाग – अज्ञात लेखक ; प्रा० का० स० ; पृ० 56

[2]गुर्जर रासावली; जी०ओ० एस० – 118 ; पृ० 74

[3]प्राचीन फागु संग्रह – डा० सांडेसरा पृ० 55 – 56

[4]साहित्येतिहास आदिकाल डा० सुमन राजे – पृ० 592

महीराज कृत "नलदवदन्ती रास"[1] श्रीमुनि जिनविजय - देवरत्न सूरि फाग,[2] पुरुषोत्तम पंच कृत पाण्डव फाग[3] आदि फागु रचनाओं में फागु काव्य की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं।, जो 17 वीं शताब्दी तक निरन्तर प्रवाहमय रही हैं। फागु वसन्त का मुख्य काव्य है कवि वसंत काल में इसकी रचना भी करता है, इसका भी उल्लेख मिला है। इसमें संगीत प्रधान तत्व हैं, जो "गाविवउ" शब्द से ज्ञात होता है। इसी प्रकार रमेवउ[4] रमण की क्रिया अर्थात् क्रीड़ा से सम्बन्धित है। खेला नाचइ[5] खेलने नाचने से सम्बन्धित है। रंगिहि[6] उल्लासपूर्ण अभिव्यक्ति तथा क्रीड़ा करने वाले स्त्री पुरुष दोनों का होना अनंग पूजा और कन्दर्पोत्सव भी इसमें मुख्य रूप से सन्निहित रहते हैं। उपर्युक्त परिभाषाएं तथा प्राप्त ग्रंथों के आधार पर फागु काव्य की निम्न लिखित विशेषताएं परिलक्षित होती हैं:-

---

[1] साहित्येतिहास आदिकाल डा0 सुमन राजे - पृ0 592

[2] जैन ऐतिहासिक गू0 का संचय - श्री मुनि जिनविजय - देवरत्न सूरि फाग

[3] अभय जैन ग्रंथालय बीकानेर में संगृहीत - पुरुषोत्तम पंच कृत पांडव फाग

[4] स्थूलिभद्र फागु - प्रा0का0संग्रह - श्री दलाल पृ0 41, पद 27

[5] वही ग्रंथ; पृ0 41

[6] फाग महुच्छणे - देशी नाम माला : हेमचन्द्र (6 - 82) तथा प्रा0का0 स0 - डा0 सांडेसरा पृ0 53

§1§ फागु काव्य की मुख्य विशेषता प्रकृति चित्रण, ऋतु वर्णन है, जिसमें वसन्त वर्णन का विशेष महत्व है "फागु, वसन्त का ही मादक गान है"।[1]

§2§ फागु का विषय श्रृंगारिक है जिसमें श्रृंगार के संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों का सफल चित्रण होता है ।

§3§ फागु का निष्पादन वाद्य नृत्य के साथ गेय रूप में होता है ।

§4§ यह फाल्गुन अथवा चैत्र मास में गाया अथवा खेला जाता है । अतः फागुन के महीने में होली के अवसर पर इसका विशेष महत्व है । इसी प्रकार वसन्त के उमंगमय वातावरण में गाए जाने वाले गीतों में यह अभिव्यक्त होता था । उत्तर भारत में आज भी वसन्त और होली के अवसर पर "फागु" या "फगुआ" गाए जाते हैं । वह आदिकाल के इसी काव्य रूप फागु की परम्परा का रूप है ।

§5§ फागु काव्यों में शैलीगत विशेषताएँ लय, ध्वनि एवम् नाद - सौन्दर्य तीन प्रमुख रूपों में दृष्टव्य होती है ।

---

[1] आदिकालीन हिन्दी साहित्य शोध - डा० हरीश पृ० 133

§6§ फागु शीर्षक अधिकांश रचनाओं में मंगलाचरण में कंदर्प देवता की स्तुति की जाती है ।

§7§ यह काव्य "भास" में विभक्त होता है ।

§8§ इसके प्रमुख छन्द दोहा, रोला, और फागु हैं ।

§9§ फागु काव्य उल्लास पूर्ण वातावरण में सरस वर्णन के साथ आह्लादक हो ।

§10§ 15 वीं शताब्दी के पश्चात् कुछ फागु काव्यों को कड़वक और खण्डों में विभक्त करके लिखने की प्रवृत्ति चल पड़ी ।

फागु काव्यों में प्रकृति का उल्लासपूर्ण चित्रण उद्दीपन रूप में है और यह उद्दीपन संयोग तथा वियोग दोनों रूपों में हो सकता है । प्रकृति का चित्रण बहुत मौलिक है प्रकृति में वसन्त का बहुत महत्व है, जिसका प्रसंग लगभग सभी फागु काव्यों में आया है । डा० हरीश ने लिखा है - "फूलों का मादक पराग, अलियों का गुंजन, सुरभित आम्र-वल्लरियाँ, गुंजित कानन, बौराई डालियाँ, कोयल की कूक, तथा इठलाता मलयानिल सारे वातावरण को ही चंचल और दोलायमान कर देता है । आह्लाद - गान के स्रोत राशि-राशि उल्लास को लिए फूट पड़ते हैं । सौन्दर्य के कोकिल की हल्की

सी पद-ध्वनि सुनाई देने लगती है । और वहीं मादक वसन्त फिर खिल उठता है । फागु, वसन्त का ही मादक गान है ...... नया जीवन और नई प्राणधारा को लेकर कुंजों से झाकने वाली तारूण्य की एक मीठी पीर से आलोड़ित वसन्त आता है और कण - कण को अपने प्रभाव की रंगीनी में डुबो देता है । ये अनंग पूजा, वसन्त महोत्सव, स्वागत गीत, नृत्य या उल्लास चित्रण तथा आहलादकारी गान ही फागु हैं ।" इस प्रकार फागु काव्य में कथा वस्तु मुख्य नहीं है, प्रकृति का उल्लासमय चित्रण ही प्रमुख है, जिसमें वसन्तोत्सव सम्बन्धी ऋतु के उमंग से युक्त अपनी उल्लासमय आकांक्षाओं को किसी विशिष्ट वर्णन का, शब्दों के सौन्दर्य से युक्त गेय रचनाएं फागु हैं। श्री अगरचन्द नाहटा ने लिखा है - "वसन्त ऋतु का प्रधान उत्सव फाल्गुन महीने में होता है । उस समय नर-नारी मिलकर परस्पर एक-दूसरे पर अबीर गुलाल आदि डालते हैं । और जल की पिचकारियों से क्रीड़ा करते हैं । उसे फाग खेलना कहते हैं । वसन्त ऋतु के उल्लास का जिसमें वर्णन हो या उन दिनों में जो रचना गाई जाती हो उन रचनाओं को फागु की संज्ञा दी गई है ।"

फागु काव्य प्राय: आकार में छोटे रहते थे रास की भाँति

इसके भी वर्ण्य विषयों में विविधता मिलती है । जिसमें चरित प्रधान फागु, कथा प्रधान फागु, श्रृंगारिक फागु तथा किसी फागु में घटनाओं का बाहुल्य है । इतना ही नहीं प्रकृति वर्णन, रूप वर्णन, नखशिख वर्णन, काम, पराभव वर्णन, तप वर्णन, क्रीड़ा, रमण, नृत्य आदि विषयों पर भी फागु रचनाएं मिलती हैं । फागु काव्यों की लोकप्रियता ने जैन कवियों को भी आकर्षित किया । जिन्होंने इसे अपनी रचना का माध्यम बनाया और फागु काव्य को धार्मिकता के रंग से सराबोर किया, जिसमें चारित्रिक दृढ़ता, आत्मसंयम, त्याग, ब्रह्मचर्य जैन तीर्थङ्करों के पवित्र आचरण, शील, तथा निर्वेद आदि धार्मिक प्रवृत्तियों का सान्निवेश किया । फागु काव्यों का उन्मादक वातावरण धार्मिक रूप में परिवर्तित होने पर भी इनका काव्य सौंदर्य प्राय: अक्षुण्य मिलता है । इस प्रकार आदिकाल में फागु काव्य रूपों की रचनाओं में दो परम्पराओं का एक साथ वर्णन मिलता है - §1§ जैन, §2§ जैनेतर । जैन कवियों ने इस काव्य रूप का उपयोग धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया और जैनेतर कवियों ने शुद्ध लौकिक प्रेम के चित्रण के लिए इसे अपनाया । "वसन्त विलास फागु" के सम्पादक श्री के० वी० व्यास ने जैन फागु और जैनेतर फागु काव्यों का अन्तर बताते हुए लिखा है कि

"जैनेतर (ब्राह्मण) फागु में कथानक कृष्ण और उनकी प्रेमिका राधा, रुक्मिणी ... या गोपियों से सम्बद्ध होता है, जब कि जैन फागु में बसन्त वर्णन का विशेष महत्व नहीं होता । इन फागु काव्यों में मुख्य रूप से जैन तीर्थंकरों और साधुओं - नेमिनाथ, स्थूलिभद्र आदि के संयमपूर्ण और धर्मनिष्ठ पावन चरित्र का वर्णन मिलता है । इन जैन फागुओं का मुख्य लक्षण नायिका का रूप वर्णन और उसके वस्त्राभूषणों का विस्तृत चित्रण है ।

कथानक के अनुरूप इनमें बसन्त-वर्णन का सर्वथा अभाव है अथवा नगण्य रूप में उसका संकेत भर कर दिया गया है । इन कविताओं का मूल उद्देश्य जैन तीर्थंकरों का तपोमय एवम् नैतिकतापूर्ण आदर्श चरित्र चित्रण है ।"[1]

फागु काव्य संज्ञक बहुत-सी रचनाएँ मिलती हैं जिसमें जैन तथा जैनेतर दोनों परम्पराओं में लिखी गयी रचनाएँ हैं । डा० दशरथ ओझा ने नौ ऐसे फागु काव्यों का उल्लेख किया है जिनका जैन धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं था ।[2]

(1) बसन्त विलास फागु - अज्ञात कवि

---

[1]बसन्त विलास - प्रस्तावना, पृ० 39

[2]डा० दशरथ ओझा - रास और रासान्वयी काव्य पृ० 63 से उद्धृत

(2) नारायण फागु

(3) भ्रमर गीत फागु - चतुर्भुज

(4) बसन्त विलास - सोनी राम

(5) हरि विलास फागु - अज्ञात कवि

(6) कामीजन विश्रामतरंग गीत

(7) चुपइ फागु

(8) फागु

(9) विरह देसाउरी फागु

जैन कवियों द्वारा लिखे गये प्रमुख फागु काव्य निम्नलिखित थे :-

(1) जिन चन्द सूरि फागु (सं0 1431) कवि अज्ञात

(2) स्थूलिभद्र फागु - जिनपद्म सूरि (14 वीं शताब्दी)

(3) नेमिनाथ फागु - राजशेखर सूरि (सं0 1405)

(4) रावणि पार्श्वनाथ फागु - प्रसन्नचन्द्र सूरि (सं0 1422)

(5) जम्बु स्वामी फागु - अज्ञात कवि

(6) जीरा पल्ली पार्श्वनाथ फागु - मेरुनन्दन (सं0 1432)

(7) नेमिनाथ फागु – जयशेखर सूरि (सं० 1460)

(8) पुरुषोत्तम पंच पाण्डव फागु – अज्ञात कवि (सं० 1493)

(9) देवरत्न सूरि फागु – देवरत्न सूरि शिष्य (सं० 1499)

(10) भरतेश्वर चक्रवर्ती फागु – अज्ञातकवि (सं० 15 वीं शती के आसपास)

(11) कीर्ति रत्न सूरि फागु

(12) नेमिनाथ फागु – पद्म (15 वीं शती)

(13) बसन्त फागु – गुणचन्द्र गणि (15 वीं शती)

(14) मोहिनी फागु – अज्ञात कवि (15 वीं शती)

(15) रंग सागर फागु – रत्न मंडल गणि (15 वीं शती का उत्तरार्द्ध)

(16) नारी निरास फागु – रत्नमंडल गणि (15वीं शती का उत्तरार्द्ध)

उपर्युक्त फागु काव्यों में "जिनचन्द सूरि फागु" सबसे पुराना है इसकी रचना सं० 1431 के लगभग हुई है । इसके कवि अज्ञात हैं, इस कृति की मूल प्रति जैसलमेर भण्डार की एक हस्त लिखित पोथी में सुरक्षित है जिसका सम्पादन डा० भोगीलाल सांडेसरा ने किया[1] इसके अतिरिक्त

---

[1]प्राचीन फागु काव्य संग्रह ; पृष्ठ 31 – 32

राजशेखर कृत नेमिनाथ फागु, "जम्बु स्वामी फागु", "रावणि पार्श्वनाथ फागु", वसन्त विलास फागु (जैनेतर) तथा जिनपद्म कृत स्थूलिभद्र फागु संज्ञक रचनाओं का विशेष महत्त्व है । इनमें, अभिव्यंजना - शैली, काव्य-मयता, सरसता, रसात्मकता तथा उल्लास उमंग आदि विशेषता निरंतर देखी जा सकती है ।

" बेलि "

हिन्दी साहित्य के आदिकाल की पृष्ठभूमि पर बेलि संज्ञक रचनाओं का प्राचुर्य है जिसकी दीर्घ परम्परा के दर्शन होते हैं "बेलि" की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मतभेद है। डा० भोलानाथ तिवारी तथा डा० कामता प्रसाद गुप्त "वेलि" शब्द को "विलास" शब्द का रूपांतर मानते हैं मंजुमलाल मजुमदार विवाह - प्रसंगों के वर्णन वाले काव्यों की संज्ञा बेलि मानते हैं । डा० माता प्रसाद गुप्त के मत से यह देशज शब्द "वेल्ल" से बना है, जिसका अर्थ है विलास या क्रीड़ा[1] । हिन्दी के मानक कोश ग्रन्थों में "बेलि" संस्कृत के वेल्लि से निष्पन्न बताया है जिसका अर्थ है - वह छोटा

---

[1] राउर बेल और उसकी भाषा, पृ० 123

पौधा जो अपने बल पर ऊपर की ओर उठकर नहीं बढ़ सकता । इसे बल्ली, लता या लतर भी कहते हैं ।[1]

उपर्युक्त विद्वानों के मतों में डा0 भोलानाथ तिवारी, डा0 कामता प्रसाद गुप्त तथा डा0 माता प्रसाद गुप्त के मत "वेलि" की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में सटीक नहीं बैठते हैं क्योंकि कामक्रीड़ा तथा विलास शब्द का उल्लेख "बेलि" के लिए कहीं नहीं मिलता है मंजुलाल मजुमदार ने वेलि संज्ञक कई काव्य विवाह - वर्णन प्रधान है इस आधार पर इसको विवाह प्रसंग से सम्बद्ध माना है ।

बेलि शब्द की व्युत्पत्ति :- बेलि शब्द संस्कृत के "वेल्लि" का विकसित रूप है । इसका क्रमिक विकास इस प्रकार है बेल्लि (सं0) बेल्लि (पालि) वेल्लि (प्रा0) वेलि या बेल (हिन्दी) । बेलि के लिए भाषा के आधार पर वल्लरी, बेल, वेलड़ी (राजस्थानी रूप) वल्लिका, बेलिका नाम भी प्रचलित है ।

"वेलि चढ़ना", एक मुहावरा भी है जिसका अर्थ वंश वृद्धि के संदर्भ में प्रयुक्त होता है । अतः वेलि नाम से प्राप्त साहित्य विभिन्न

अर्थों में प्रयुक्त हुआ है । इसका एक रूप वेलि रूपक है जो संसार, शरीर, कनक, पाप, ज्ञान, अमृत सुयश आदि के साथ उपमान रूप में प्रयुक्त हुआ है । इसके अतिरिक्त काव्य संज्ञा, छन्द, साथी या सहायक रूप में तथा लहर या तरंग के अर्थ में लता या वल्लरी आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है ।

बेलि काव्य रूप :- वेलि काव्य के दर्शन हमें भारतीय भाषाओं के प्रभूत साहित्य में होते हैं । इसके नामकरण के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं जो निम्नवत् हैं :-

(1) वेलि का सम्बन्ध "वेलियों" छन्द से जोड़ते हैं । जो इस काव्य के प्राचीन नृत्य गीतात्मक स्वरूप को प्रकट करता है । साणोर नामक मात्रिक छन्द के चार उपभेदों में एक "वेलियों" भी है । इसके चार चरणों में क्रमशः 16 - 15 - 16 - 15 मात्राएँ होती हैं । इसकी गति आल्हा छन्द के समान होती है ।

(2) दूसरे मत के अनुसार वेलि का संबंध विवाह आदि मांगलिक संस्कारों से है ।

§3§ तीसरे मतानुसार एक रूपक का प्रतीक है । समस्त साहित्य को उद्यान मान कर ग्रंथों को वृक्ष या वृक्षांगवाची रूपों जैसे - लता, मंजरी, पल्लव कलिका, गुच्छक आदि में पुकारने की प्राचीन परम्परा है । उपनिषदों में भी इस प्रकार के कई उदाहरण मिलते हैं ।

§4§ चौथे मतानुसार कई स्थलों पर वेलि या वेलियो शब्द का प्रयोग साथी या सहायक के रूप में हुआ है ।

§5§ पाँचवें मत से वेलि संज्ञक रचनाओं का मुख्य सम्बन्ध वीरों के चरिताख्यान से है ।

§6§ छठे मतानुसार वेलि यश एवं प्रशस्ति काव्यों की श्रेणी में आता है ।

§7§ सातवें मतानुसार वेलि या लता शब्द वल्ली, गुच्छक स्तवक आदि स्वतंत्र विधा से सम्बद्ध है ।

उपर्युक्त मतों के आधार पर वेलि नामकरण के सम्बन्ध में यह भाव स्पष्ट होता है कि पहला भाव का प्रसार व दूसरा कोमलता या माधुर्य का भाव प्रकट होता है ।

विद्यापति की "कीर्तिलता" में "वेलि" से सम्बन्धित उल्लेख मिलता है —

"तिहुअन खेतहिं काभि तसु कित्तिवल्लि पसरेइ,
अक्षर खंभारंभओ मंचो बन्धि न देइ ।"

इसमें कवि द्वारा प्रस्तुत "कित्तिवल्लि" शब्द वेलि से सम्बन्धित है वह "लता" और "वेल्लि" या वल्लि का पर्याय है । "कीर्तिलता" चार पल्लवों में विभक्त है । अतः "लता" या "बेलि" पल्लवों में विकसित होती है । इसी प्रकार पृथ्वीराज राठौर ने अपनी "किसन रुक्मिणी री वेलि" में वेलि को —

वेली तसु वीज भागवत वायौ, महि थाणो प्रिथुदास मुख ।
मूल ताल जड़ अरथ मण्डहे, सुथिर करणि चढि छाँह सुख ।। 291

पत्र अक्खर दल दाला जस परिमल, नव रस तन्तु विधि अहोनिसि
मधुर रसिक सु भमति मंजरी, सुगति फूल फल भुगति मिसि ।।

कलि कलप बेलि बलि कामधेनुका चिंतामणि सोम वेलि यत्र
प्रगटित प्रथमी प्रिथु मुखकमलि, अखराडील मिसि थई एकत्र ।।

अर्थात् वह वेलि लता के समान है जिसका बीज भागवत पुराण है दाख

पृथ्वी राज का मुख वह स्थल है । जहाँ यह बीज बोया गया, मूल पाठ इसकी डालियाँ है अर्थ इसकी जड़ है श्रोताओं के स्थिर कान मण्डप है जिसके ऊपर यह चढ़ी रहती है । सुख इसकी छाया है अक्षर इसके पत्ते हैं दोहले इसकी पंखुड़ियाँ हैं भगवान का यश इसकी सुगन्ध नवरस इसके तन्तु, यह रात-दिन बढ़ती है, भक्ति इसकी मंजरी है साहित्य रसिक इसके भ्रमर हैं मुक्ति इसका फूल है । परमानन्द भोग इसका फल है । कल्पना लता कामधेनु चिंतामणि और कोमलता ये चारों पृथ्वीराज के मुख कमल वेलि के अक्षर समूह के रूप में एकत्र होकर इस कलियुग पृथ्वी के ऊपर प्रकट हुई है ।[1]

<u>बेलि काव्य की परम्परा</u> :- "बेलि" संज्ञक रचनाओं की परम्परा अति प्राचीन है जिसके सर्वप्रथम दर्शन हमें संस्कृत वांगमय में होते हैं । जो मध्यकाल में राजस्थानी गुजराती और पुरानी हिन्दी में बहुत विकसित रूप में दिखाई देती है । "वांगमय को उद्यान मानकर ग्रंथों को - चाहे वे व्याकरण, वेदांत, दर्शन धर्मशास्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, अलंकार शास्त्र कोष, इतिहास, नीतिशास्त्र आदि किसी भी विषय से सम्बन्ध रखने वाले हों - वृक्ष तथा वृक्षांगवाची - लता, मंजरी, पल्लव, कालिका गुच्छक, कंदली बीज आदि नाम से पुकारने

---

[1]साहित्येतिहास - डा0 सुमन राजे पृ0 599

की प्राचीन परिपाटी है ।"[1] उपनिषद साहित्य में भी इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं । कठोपनिषद में दो अध्याय तथा छ: वल्लियाँ हैं तैतरीय उपनिषद के सातवें, आठवें, नवें प्रकरण को क्रमश: शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्द वल्ली भृगु वल्ली कहा गया है । इसके अतिरिक्त षड्वल्ली उपनिषद, अम्बुज वल्ली कल्याणम्, चातुर्मास्य कल्पवल्ली, द्रव्यगुण कल्पवल्ली, चण्डी सपर्याक्रमकल्पवल्ली, मधुकेलिवल्ली तथा वेदान्त सिद्धान्त कल्पवल्ली आदि मिलती है । अत: संस्कृत भाषा में वेलि संज्ञक अधिकांश रचनायें "वल्ली" शीर्षक से प्रचुर मात्रा में मिलती हैं ।

गुजराती भाषा में जैन तथा जैनेतर कवियों ने वेलि संज्ञक रचनाओं की रचना की । राजस्थान तो वेलि साहित्य का भण्डार है । राजस्थानी में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज नामक ग्रंथ में "मनोरथ वल्लरी"संज्ञक दो रचनाओं की सूचना दी गई है । इसमें से एक के रचनाकार तुलसीदास हैं और दूसरी के रामराय दोनों का रचनाकाल 18 वीं शती है ।

---

[1] डा0 नरेन्द्र भानावत - राजस्थानी साहित्य : कुछ प्रवृत्तियाँ, पृ0 44

इसके अलावा ब्रज भाषा में भी वेलि संज्ञक रचनाएँ लिखी गई जो "वेलि" या "लता" शीर्षक से मिलती हैं जिसमें ध्रुवदास (अनुराग लता, वृन्दावनदास[1], नागरी दास (राजरस लता) घनानन्द रसकेलि, वियोग वेलि) ब्रजनिधि (प्रीति लता) आदि प्रमुख हैं । कुछ और रचनाओं का भी पता चलता है । अयोध्या के महाराज द्विजदेव मानसिंह की "श्रृंगारलतिका", सुखदेव मिश्र की "श्रृंगार लता", दत्तकवि की "लालित्य लता" । ब्रजभाषा में वेलि संज्ञक रचनाओं का विषय कृष्ण भक्ति तथा श्रृंगार है ।

हिन्दी भाषा में लिखी गई अद्यावधि उपलब्ध वेलि साहित्य में रोज कृत "राउरवेल" (11 वीं शती) सबसे प्राचीन रचना है । इस काव्य का सर्वप्रथम पता गुजराती के प्रसिद्ध विद्वान डा० भायाणी ने दी थी उनके द्वारा सम्पादित पाठ "भारतीय विद्या" (भाग 17, अंक 3/4 पृ० 130 - 146) में प्रकाशित हुआ था । इसके बाद डा० माता प्रसाद गुप्त ने इसका

---

[1]वृन्दावनदास की "वेलि" नामक आठ रचनाएँ उपलब्ध हैं -- कृष्णगिरि पूजन वेलि, श्री हित रूपचरित बेलि, आनन्दवर्धन बेलि, राधा जन्म उत्सव बेलि, भक्त सुजस बेलि, हरिकला वेलि, कृष्णा वेलि तथा वेलि ।

सम्पादन करके "राउरवेल और उसकी भाषा" शीर्षक से प्रकाशित कराया। राउरवेल धार (मालवा) के एक शिलालेख में अंकित है। लेख की शिला बम्बई के प्रिंस आफ वेल्स म्युजियम में सुरक्षित है। शिलांकित रहने के कारण इसका मूल पाठ ज्यों का त्यों सुरक्षित रह गया है। इसके सातवें प्रकरण में इसकी विस्तृत जानकारी मिलती है। "वेलि" काव्य रूप की प्रथम रचना होने के कारण इसका महत्व ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दोनों दृष्टियों से बढ़ जाता है।

"राउरवेल" के पश्चात् राजस्थान में वेलि की एक विकसित लम्बी परम्परा मिलती है। बेलि काव्य रूप का राजस्थानी साहित्य में विशेष महत्व है जिसमें चरित तथा वर्णन प्रधान होता है। राजस्थान में प्राप्त "वेलि" संज्ञक साहित्य विषय तथा शैली की दृष्टि से तीन रूपों में दृष्टव्य होता है :-

(1) लौकिक वेलि साहित्य

(2) जैन वेलि साहित्य

(3) ऐतिहासिक वेलि साहित्य

लौकिक बेलि साहित्य जनश्रुतिपरक तथा नीतिपरक है जिसका साहित्य मौखिक रूप में भी अधिक प्रचलित रहा है। जैन वेलि साहित्य में तीर्थंकर की जीवनी का समावेश है जो जैनों द्वारा लिखा गया। ऐतिहासिक वेलि साहित्य में राजा महाराजाओं का प्रशस्तिगान किया गया है।

आलोच्यकाल के अन्तिम चरण में अद्यावधि निम्नलिखित वेलि साहित्य प्राप्त हुआ :-

क्0सं0	रचना	कवि	रचनाकाल
1-	रामदेव जी री वेल	सन्त हरिजी भाटी	15 वीं शती
2-	रूपादे री वेल	" " "	"
3-	तोलादे री वेल	अज्ञात	"
4-	रत्नादे री वेल	तेजो	"
5-	कर्मचूर व्रत कथा वेलि	भट्टारक सकलकीर्ति	16 वीं शती
6-	चिहुँगति वेलि	वांछा	सं0 1520
7-	जम्बु स्वामी वेलि	सीहा	सं0 1535
8-	रहनेमि वेल	सीहा	सं0 1535
9-	प्रभव जम्बु स्वामी वेलि	"	सं0 1548
10-	पंचेन्द्रिय वेलि	ठकुरसी	सं0 1550

डा0 नरेन्द्र भानावत ने "राजस्थानी वेलि साहित्य" पर सराहनीय शोध कार्य किया है। इन्होंने वेलि संज्ञक सैकड़ों रचनाओं की

खोज की है । जिससे 16 वीं, 17 वीं, 18 वीं, 19 वीं शताब्दी तक की बहुत सी वेलि शीर्षक रचनाएँ प्राप्त हुई जिससे परवर्ती काल में वेलि काव्य रूप की विस्तृत परम्परा का दर्शन होता है ।

बावनी काव्य

आदिकालीन काव्य रूपों में "बावनी काव्य" का भी प्रमुख स्थान है जिसकी अधिकांश रचनायें जैन कवियों द्वारा लिखी गईं । इन कवियों ने धार्मिक तथा नैतिक उपदेशों के लिए इस काव्य रूप को प्रमुख माध्यम बनाया ।

बावनी से अभिप्राय ककहरा या वर्णमाला से है जिसमें स्वर और व्यंजन मिला कर बावन अक्षर होते हैं, इसीलिए इसे बावनी काव्य कहा गया है । प्रत्येक अक्षर के आधार पर इसी नागरी वर्णमाला के क्रमानुसार छंद लिखे जाते थे । इसे "कक्क मातृका काव्य" भी कहा जाता है, श्री सी० डी० दयाल द्वारा सम्पादित प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी में कक्क नाम से लिखित अनेक रचनाएँ संकलित हैं जिसमें शालिभद्र कक्क, दूहा मातृका, मातृका-चउपई, सम्यक्त्वमाई रचनाओं का उल्लेख मिलता है । इसके

अतिरिक्त संवेगात्मक काकबंधि, अष्टापद, तीर्थ बावनी भी इसकी प्रमुख काव्य रचनाएँ हैं । तेरहवीं शताब्दी के अन्त में रचित पृथ्वीचन्द की मातृका प्रथमाक्षर दोहका सम्भवत: सबसे प्राचीन तथा हिन्दी का प्रथम बावनी काव्य रचना है । चौदहवीं शती की संवेगा मातृका इस रचना को श्री दयाल ने ताड़ पत्र द्वारा इस का पाठ प्राप्त किया । इस रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कवि ने शून्य (0) का भी मूल्यांकन किया है ।

बावनी काव्य रूप का जन्म अवश्य आदि काल की भूमि पर हुआ है । परन्तु इसका पूर्णरूपेण विकास परवर्ती काल में हुआ है । बावनी के लिए "अखरावट" बारहखड़ी", "छत्तीसी" कक्क मातृका, कक्का बत्तीसी आदिनाम प्रयुक्त किए गये हैं । बावनी काव्य की परम्परा भक्ति काल, रीति काल से होती हुई आधुनिक काल में भी दृष्टिगोचर होती है । रीति काल के कवियों ने इस काव्य रूप को विशेष महत्व दिया था ।

परवर्ती काल में इसी काव्य रूप में "कबीर बावनी", जायसी की "अखरावट", स्वामी अग्रदास जी का "हितोपदेश उपखाण बावनी", भूषण

की "शिक्षा बावनी", किशोरीशरण की "बारहखड़ी", बह्मदीप नामक कवि की "अध्यात्मबावनी", केशवदास रचित "केशव बावनी", जिनहर्ष (दूसरा नाम जसराज) रचित "जसराज बावनी", तथा धर्मवर्धन की धर्म बावनी आदि रचनाएँ लिखी गईं। "ओंकार" शब्द से प्रत्येक रचना का शुभारंभ होता था। रास तथा फागु काव्य की भाँति जैन कवियों ने बावनी काव्य रूप को अपनाया और बहुत सी रचनायें इस काव्य रूप के अन्तर्गत लिखीं। जैन कवियों के अतिरिक्त जैनेतर कवियों का भी यह लोक प्रिय काव्य रूप रहा जिसमें कबीर, केशव, भूषण आदि प्रमुख हैं।

इन सभी बावनी काव्यों के पद्यों की संख्या में भिन्नता है। इसका कारण वर्णों के आधार पर एक से अधिक पदों की रचना की गई है। बावनी काव्य में बावन छन्दों का प्रयोग अनिवार्य रूप से नहीं हुआ। इसकी संख्या चालीस अंक तक सही मिलती है परन्तु 40 से 60 के मध्य घटती - बढ़ती रही है। "बह्मदीप" नामक कवि की "अध्यात्म बावनी" में 77 पद्य हैं। अपभ्रंश भाषा में 13 वीं शताब्दी के लगभग महमीन्दण कवि ने एक "बारहखड़ी" की रचना की थी इसमें 334 दोहा छन्द हैं। इसमें

विशेषता यह है कि कवि ने प्रत्येक व्यंजन के सभी स्वर रूपों में एक-एक पद्य की रचना की है। जिससे एक व्यंजन के दस या ग्यारह रूप बन गये जैसे क, का, कि, की, कु, कू, के, कै, को, कौ, के आधार पर एक-एक पद्य लिखा जाय।

अत: बावनी काव्य हिन्दी साहित्य की आदिकाल की पृष्ठभूमि में अंकुरित होने वाला महत्वपूर्ण काव्य रूप है। डा० मजुमदार ने लिखा है कि — "ग्राम्यशाला में जब बालक की शिक्षा प्रारम्भ होती है तो उसे ककहरा से आरम्भ करते हैं। प्रत्येक अक्षर को सिखाने के लिए एक पद्य का प्रयोग होता है। इसी प्रणाली को कवियों ने उपदेश रूप में अपनाया। प्राय: बावनी संज्ञक रचनाओं में बावन पद्य दिये जाते हैं। बावन अक्षर व्यवहार में आने वाले लोक विदित हैं। तिरपनवाँ अक्षर ब्रह्म है जो इन अक्षरों का निर्माता है।[1]

---

[1] डा० शिव प्रसाद सिंह — सूरपूर्व ब्रजभाषा और साहित्य, पृ० 340

चर्चरी

चर्चरी, चच्चरी, चर्चरिका, चाँचरि, चाँचरिका आदि नामों से निर्मित हिन्दी साहित्य के आदिकाल का एक विशिष्ट काव्य रूप है। "हिन्दी शब्द सागर" में इससे सम्बन्धित तीन नाम मिलते हैं — चर्चरिका, चर्चरी और चँचरी। चर्चरी काव्य रूप के अनेक पर्याय भिन्न अर्थों को प्रकट करते हैं :-

(1) हाथ की ताली की आवाज
(2) ताल के मुख्य 60 भेदों में से एक या ताली देना।
(3) होली में गाये जाने वाले एक गीत विशेष का नाम
(4) पंडितों का पाठ
(5) छन्द विशेष
(6) उत्सवों के समय का खेल
(7) नृत्य विशेष
(8) गीत विशेष
(9) उत्सव का उल्लास
(10) गाने वालों की टोली

§11§ प्राचीन काल का एक प्रकार का ढोल या बाजा जो चमड़े से मढ़ा हुआ होता था ।

§12§ आमोद, प्रमोद या क्रीड़ा

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, गुर्जर भाषा और परवर्ती हिन्दी ग्रंथों में अनेक स्थान पर इसके उल्लेख मिल जाते हैं । इस प्रकार चँचरी §सं0 चँचरकी§ होली में गाये जाने वाले एक गीत विशेष का नाम है इसे "चाँचरि" भी कहते थे । चर्चरिका से अभिप्राय नाटक में प्रयुक्त उस गान को कहते थे, जो दो दृश्यों के मध्य में होता था, जब पात्र व मंच सज्जा होती थी उस समय दर्शकों को मनोरंजन हेतु बाँधने के लिए यह गान होता रहता था ।

कालिदास के विक्रमार्वशीय नाटक में अनेक चर्चरिकाएँ हैं । आप्टे ने भी चर्चरी अथवा चर्चरिका के सात अर्थ दिये हैं जिसमें मुख्य है - एक प्रकार का गीत, विद्वानों द्वारा गान मनोरंजन खेल, उत्सव आदि ।[1] चँचरी रास की ही भाँति ताल एवम् नृत्य के साथ खेला जाने वाला गान

---

[1]हिन्दी शब्द सागर §भाग-3§, पृ0 1432

था, जो बसन्त व होली के उत्सव तथा अन्य विशेष उत्सव पर गाया जाता था जब लोग उल्लास से भरकर खेल नृत्य तथा एक दूसरे पर रंग आदि फेंकते थे ।

चर्चरी की परम्परा :- चर्चरी शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख हरिभद्र सूरिकृत "समराइच्च कहा" नामक ग्रंथ में मिलता है इसमें चर्चरी के सम्बन्ध में कहा गया है कि यह एक सामूहिक गान होता था जो ताल के साथ अनेक वाद्य से निबद्ध होकर बसन्त ऋतु में प्राय: नीची जाति के लोगों द्वारा गाया जाता था । हेमचन्द्र के "अभिधान चिन्तामणि" में चर्चरी का प्रयोग किया है --

"भ्रु भा कल्या चर्चरी वारूम्यते अनया ।

विक्रम की दसवीं शताब्दी में भी "भविसंत कहा" में चर्चरी का उल्लेख मिलता है --

"धरि घरि चच्चरि कोज्हलाह घरि घरि अंदोलय सोहसीहि

अपभ्रंश काव्यत्रीय में चर्चरी से सम्बन्धित उल्लेख मिलता है जो "चर्चरी" को एक गीत विशेष के रूप में स्पष्ट करता है इतना ही नहीं

उसमें जिन-जिन विद्वानों ने चर्चरी का प्रयोग किया है उसका भी उल्लेख है जिस पर विस्तार से विचार किया गया है ।

अपभ्रंश काव्यत्रयी के साथ-साथ उद्योतन सूरि की "कुवलय माला कहा" में भी चर्चरी से सम्बन्धित वर्णन मिलता है ।

"सन्देशरासक" में एक स्थान पर ताल नृत्य के साथ चर्चरी गाकर वसन्त काल नृत्य करता आता है । वन विविध हारावली खेलती स्त्रियों से उनके मेखला की किंकिणी बड़ी रुनझुन शब्द करती है --

चच्चरिहि गेउ झुणि करिवि तासु
नीरचयउ अउव्व वसंत कासु
घणविविडहार परिखिल्लरीहि
रुणझुण रउ मेहल किंकर गीति ।

चर्चरी संज्ञक रचनाओं की चर्चा करते हुए विभिन्न विद्वानों ने अपने मत प्रकट किये हैं --

1. आचार्य हेमचन्द्र ने हल्लीसक और रासक के अतिरिक्त चर्चरी की विशेषताओं की भी चर्चा की है । उस समय चर्चरी नामक एक नृत्य भी प्रचलित था जिसमें दण्डक रास खेलती नर्तकियाँ दो पंक्तियों में एक दूसरे

के सामने खड़ा होकर, ताल और लय में नृत्य करती थी । चर्चरी नृत्य का सम्बन्ध वसन्तोत्सव से था । इससे रासक और चर्चरी के निकट का सम्बन्ध का पता चलता है । [1]

2· श्री अगरचन्द नाहटा के अनुसार — "रास की भाँति ताल एवम् नृत्य के साथ विशेषत: उत्सव आदि में गाई जाने वाली रचना को चर्चरी की संज्ञा दी गई है । [2]

3· डा0 देवेन्द्र कुमार जैन -- "विभिन्न रागों से निबद्ध गेय काव्य को चर्चरी मानते हैं ।"[3]

वेम भूपाल ने भी चर्चरी रासक का एक उपभेद बताया है --

"रासकस्य प्रभेदास्तु रासकं नाट्यरासकं,
चर्चरीति त्रय: प्रोक्ता ।" [4]

1·हिन्दी साहित्य का उद्भव काल - डा0 वासुदेव सिंह, पृ0 76

2·नागरी प्रचारिणी पत्रिका, (वर्ष 58, अंक 4), पृ0 432

3·अपभ्रंश भाषा और साहित्य, पृ0 166

4·रामनारायण पाठक और गोवर्धन पांचाल - रास अने गरबा (गुजराती) पृ0 58

आदिकाल की सीमावधि में 12 वी० 13 वी० शताब्दी में चर्चरी संज्ञक रचनाएं लिखी जा रही थी जिसमें जिनदत्त सूरि कृत चाचरि अथवा चर्चरी प्रसिद्ध है रचना की हस्तलिखित प्रति अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर में सुरक्षित हैं जिसमें इन्होंने 47 पदों में अपने गुरु जिन वल्लभ सूरि का गुणगान किया है इसका पहला पद इस प्रकार है —

कवव जड व वू जुविर वन नव रस भर सहिउ
लद्ध पसिद्धिहि सुकइहिं सायर जो महिउ,
सुकइ माहृति पंससहि जे तसु सुह गुरु
साहू न मुणइ अयाणुइ मइगिय सुरगुरुहूं ।

इसके टीकाकार श्री जिनपाल उपाध्याय हैं उन्होंने लिखा है यह भाषा निबद्ध गान नाच-नाच कर गाया जाता था । प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में कवि सोलण (14वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) की चर्चरी संग्रहीत है जिसमें जिन वल्लभ सूरि की स्तुति की गई है तथा गिरनार तीर्थ पर नेमिनाथ का वैभव-वर्णन किया गया है । कवि सोलण ने अपना नाम रचना के प्रारम्भ में ही प्रस्तुत किया है । 13वीं शताब्दी के लक्खण कवि ने एक चर्चरी संज्ञक रचना लिखी, जिसमें यमुना नदी के निकट राय वड्डिय नगर का वर्णन किया है यह स्थान आगरा के समीप है इस नगरी

के चौराहे चर्चरी का ध्वनि के उद्दाम है ।[1] इसके अतिरिक्त समाज के कष्टों के निवारण हेतु लिखी गई जिनेश्वर सूरि की "चाचरी" तथा "चाचरिस्तुति", "गुरु स्तुति चाचरि" भी प्राप्त होती है ।

चर्चरी की लोकप्रियता से मध्यकालीन कवि भी अछूते नहीं रह सके जिसमें कबीर, जायसी, तुलसीदास आदि ने चर्चरी संज्ञक रचनाओं का उल्लेख किया है । कबीर दास तथा तुलसीदास ने अपने आसपास के जितने भी लोक प्रचलित काव्य रूप से उसको अपने काव्य का अंग बनाया, उससे अपने उपदेशों को जनता तक पहुँचाया । कबीर दास जी के बीजक में "चाँचरि" नाम के दो गीत मिलते हैं तुलसी दासजी ने गीतावली में "चाचरि" गाये जाने का वर्णन मिलता है --

उत जुवति जानकी संग । पहिरे पट भूषन सरस रंग ।।4।।
लिए छरी बैंत सोंधे विभाग । चाँचरि झूमक कहें सरस राग।।5।
(गीतावली, पृ0 426)

बसन्त ऋतु में अपने प्रिय राम पर अपने मित्रों के साथ झोलियों में अबीर

---

[1] हिन्दी साहित्य का उद्भव काल - डा0 वासुदेव सिंह, पृ0 76

भरकर तथा हाथ मे पिचकारी लेकर फागु खेल रहे हैं । सीता जी के रंग-बिरंगे वस्त्र, आभूषण को पहने युवतियों के झुण्ड हाथ में बेंत की छड़ी और मार्ग खोजता है साथ ही वाद्य बज रहे हैं और "चाचरि" गान की झनक झनकारने लगती है ।

अत: मध्यकालीन कवियों में कबीर ने श्रृंगारपरक क्रीड़ा को आध्यात्मिक रूप चाँचरि में दिया है । जायसी ने फागुन के महीने में चाचरि गाये जाने का उल्लेख किया है वस्तुत: आदिकालीन धरातल पर अंकुरित "चाँचरि" संज्ञक रचनाएँ आदिकाल तथा परवर्ती काल में भी प्राप्त होती हैं। आज भी राजस्थान में "चर्चरी" लोकगीत के रूप में लोकप्रिय है । जैनियों ने आध्यात्मिक उपदेश देने का अच्छा खासा माध्यम चर्चरी को बना लिया था । चर्चरी की महत्ता के सम्बन्ध में डा० हरीश ने लिखा है - "इनका सही व यथार्थ स्वरूप फाल्गुन के दिनों में गाये जाने वाले चंग के गीतों में देखा जा सकता है । चंग के गीत फागुन मे ही गाये जाते हैं । मधुमास के उल्लासपूर्ण वातावरण को मुखरित करने वाले ये लोकगीत शत-शत रूपों में राशि-राशि संगीत की मधुर ध्वनियों में फूट पड़ते हैं । ये चर्चरी गीत चंग पर गाये जाते हैं, जो बसन्त की शोभा कहे जा सकते हैं । प्राचीन काल की भाँति चर्चरी

गान की इन टोलियों में मध्यम वर्ग तथा निम्न वर्ग की ही टोलियाँ रहती हैं जो नाच कर अपने दबे अथवा अबोले उल्लास को वाणी प्रदान करती है ।"

मंगल काव्य

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में मंगल काव्य रूप को विवाहलो, माहरो, धवल, स्वयंवर, परिणय आदि नामों से भी जाना जाता है । "मंगल" शब्द का अर्थ है मांगलिक कार्य अर्थात् इसका सम्बन्ध विवाह के सुअवसर से है । "मंगल काव्य का सम्बन्ध हिन्दू जीवन के अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं पवित्र संस्कार से है । मंगल शब्द का अर्थ विवाह भी है ।"[1] विवाह के अवसर पर गाने जाने वाले गीतों को मंगलगान कहते हैं --

मंगल गान करहिं वर भामिनी । भै सुख मूल मनोहर जामिनी ।।
{मानस - 1।335}

समाज के हर वर्ग के मानव जीवन में विवाह का विशेष महत्व है यह हिन्दुओं के 16 संस्कारों में से सर्वश्रेष्ठ है । भारतीय विवाह पद्धति में विवाह संस्कार बहुत धूम-धाम से उल्लासपूर्ण वातावरण में सम्पन्न होता है,

समस्त बस्ती गाँव या कस्बा इस अवसर पर एक अनोखे आनन्द की अनुभूति में रसमग्न रहता है ऐसे अवसर पर विवाह की भिन्न-भिन्न रस्मों, रीति-रिवाजों पर उससे सम्बन्धित हर्ष-विभोर होकर स्त्रियाँ गीत गाती हैं वहीं से मंगल काव्य का उद्भव होता है । अतः मंगल काव्य का मूल लोकगीत है ।

13 वीं, 14 वीं शताब्दी में जब आदिकाल की पृष्ठभूमि में अन्य प्रचलित काव्य रूप साहित्य में परिणित हो रहे थे उसी समय मंगल काव्य की परम्परा साहित्य में स्वतंत्र रूप से दिखाई पड़ती है । इससे पूर्व विवाहों का वर्णन काव्य का मुख्य विषय होने पर भी उसे मंगल या विवाहलो आदि किसी नाम से सम्बोधित नहीं किया गया क्योंकि "मंगल काव्यों की पृष्ठभूमि में आनुष्ठानिक महत्व भी निहित रहता है इसीलिए इन काव्यों के अन्त में प्रायः फलश्रुति का वर्णन भी है । लोकगीतों में भी इस प्रकार की फलश्रुति है इसके पीछे प्रायः यह विश्वास कार्य करता है कि समान कारण समान कार्यों को जन्म देते हैं ।"[1]

---

[1] साहित्येतिहास - डा० सुमन राजे, पृ० 604

मंगल काव्यों की परम्परा अपभ्रंश हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती और बंगला आदि कई भाषाओं में मिलता है इनकी रचना का क्षेत्र पश्चिमगुजरात, राजस्थान से लेकर पूर्व में बंगाल तक था मंगल काव्यों की परम्परा बंगाल में 14 वीं शताब्दी से पूर्व ही प्रचलित हो चुकी थी अर्थात् चैतन्य महाप्रभु के जन्म के पूर्व मंगल काव्य बंगाल के लोक जीवन में अपना स्थान बना चुके थे। बंगाल में इन्हें धर्म मंगल नाम से पुकारा जाता है "बंगाल के मंगल काव्यों में देवताओं की भक्ति, अपने भक्त को असह्य कष्टों से बचाने की क्षमता और त्राणकर्ती दया का परिचय देते हुए उनकी स्तुति गायी जाती है। इस प्रकार के मंगल काव्यों में "मनसा मंगल" अत्यंत प्रसिद्ध है।"[1] इससे इस बात की पुष्टि होती है कि बंगाल में मंगल काव्य पौराणिक आख्यान और देवताओं के कीर्ति वर्णन से सम्बन्धित रहे हैं। गुजरात में जैन मुनियों द्वारा जो मंगल काव्य लिखे गये उनमें तीर्थंकरों एवम् महामुनियों के विवाह का रोचक वर्णन मिलता है जिनकी मार्मिकता और सौन्दर्य अप्रतिम है।

हिन्दी में आदिकाल की पृष्ठभूमि में मंगल काव्यों की परम्परा का उद्भव तथा विकास हुआ जो परवर्ती काल मध्यकाल में भी

---

[1]सूर पूर्व ब्रजभाषा और साहित्य, पृ0 345

बना रहा । आदिकाल तथा मध्यकाल में कई मंगल काव्य लिखे गये । पृथ्वीराज रासो के 46 वें समय में "विनय मंगल" नामक एक काण्ड मिला है इसे आज तक प्राप्त हिन्दी का प्रथम मंगल काव्य कह सकते हैं । जिसे डा० द्विवेदी पृथक काव्य और रासो में बाद में जुड़ा हुआ मानते हैं, एक विवाह काव्य ही है । इसमें संयोगिता को उसकी गुरु ब्राह्मणी द्वारा वधू धर्म की शिक्षा दी गई है । इसके उपरांत सं० 1492 में लिखित विष्णुदास प्रचारिणी की खोज रिपोर्ट (1906 – 8) से चला है । रुक्मिणी मंगल ब्रजभाषा काव्य है इसमें कृष्ण और रुक्मिणी के विवाह का वर्णन रोचक शैली में किया गया है । इसका एक पद इस प्रकार है —

> मोहन महलन करत विलास ।
> कनक मन्दिर में केलि करत हैं, और कोउ नाहिं पास ।।
> रुक्मिणी चरन सिरावै पी के, पूजी मन की आस ।
> जो चाहो सो अम्बे पावो, हरि पति देवकि सास ।
> तुम बिनु और न कोऊ मेरी, धरणि पताल अकास ।।
> घट घट व्यापक अन्तरजामी, त्रिभुवन स्वामी सब सुख रास ।
> विष्णुदास रुक्मन अपनाई, जनम जनम की दास ।।

हिन्दी में विष्णुदास के रुक्मिणी मंगल के अतिरिक्त नरहरि भट्ट का

रुक्मिणी मंगल इसी नाम से मिलता है । मध्य में कबीर दास के आदि मंगल, अनादि मंगल तथा अगाध मंगल तुलसीदास जी के पार्वती मंगल और जानकी मंगल तथा सूर और अष्टछाप कवियों के मंगल काव्य इस परम्परा को जीवित रखने में सहायक हुए हैं ।

"विवाह" विषय को लेकर लिखे गये काव्य संज्ञक रचनाओं में मंगल के अतिरिक्त जो अन्य महत्वपूर्ण रचनाएं हैं वह विवाहलो, धवल या धौल या संज्ञक नाम से जानी जाती हैं जो काफी मात्रा में उपलब्ध है विवाहलो संज्ञक रचनाओं ने अधिकांश रचनाएं जैन कवियों द्वारा लिखी गई जैन कवियों ने लौकिक विवाह संस्कार को अपनी शैली से आबद्ध करके आध्यात्मिक आवरण प्रदान किया और जैन महापुरुषों के "संयम श्री" के साथ विवाह रचाए जाने का रूपक शैली वर्णन किया है । जैन कवियों द्वारा रचित विवाहलो संज्ञक रचनाएं अनेक हैं जिसमें सबसे प्राचीनतम रचना 13 वीं शताब्दी के आस-पास की "अन्तरंग विवाह" है । इसी परम्परा में जिनेश्वर सूरि का "विवाहलो", जिनोदय सूरि का "विवाहलउ" नेमिनाथ विवाहलउ तथा सुमति सूरि का "विवाहला" आदि कृतियाँ आती हैं ।

मंगल एवम् विवाहलो की भाँति "धवल" या "धोल" संज्ञक रचनाएँ भी विवाह के अवसर पर गाये जाने वाले गीत हैं । इसलिए "धवल" नाम से भी विवाह गीत लिखे गये । इस प्रकार के गीत लौकिक आचारों से सम्बन्धित होते हैं । जिसकी वैदिक साहित्य से लेकर आज तक अक्षुण्य परम्परा चली आ रही है । परन्तु साहित्य के क्षेत्र में मंगल संज्ञक रचनाओं की भाँति 13 वीं, 14 वीं शताब्दी में इसका स्वतंत्र रूप में विकास हुआ इसमें जिनपति सूरि का धवल गीत प्राचीनतम है । श्री अगर चन्द नाहटा के अनुसार - 13 वीं, 14 वीं शताब्दी में उत्सवों एवम् मांगलिक प्रसंगो के समय स्त्रियों के द्वारा धवल मंगल गीत गाये जाने का राजस्थान गुजरात एवम् सिन्ध तक में आम रिवाज था और वह आज भी कई अंशों में प्रचलित है ।"[1] आचार्य हेमचन्द्र ने अपने छन्दोनुशासन में धवल के कई भेदों की चर्चा की गई ये सभी भेद छन्दों के आधार पर किये गये हैं । जैन कवियों ने अपने धवल काव्य में इन लक्षण भेदों को नहीं अपनाया है । जैन कवियों के धवल लोक गीतों की परम्परा के निकट है । "मांगलिक गीत होने के कारण धवल विवाह-गीतों

---

[1]प्राचीन काव्यों

के लिए रूढ़ हो गये अनेकों ऐसे काव्य मिले हैं जिनकी संज्ञा मंगल भी है और धवल भी। धुल शब्द भी धवल का ही रूपान्तर है।"[1] "धवल" के समान गुजरात में धौल नाम से अनेक काव्य लिखे गये हैं। "धौल" धवल का ही तद्भव है।

अतः मंगल काव्य मांगलिक कार्य विशेषकर विवाह संस्कार से सम्बद्ध है आगे चलकर मंगल शब्द का विस्तार हुआ और किसी भी मंगल अवसर पर गाये जाने वाले गीतों को मंगल काव्य की संज्ञा दी जाने लगी तुलसीदास ने यज्ञोपवीत विवाहादि अवसरों पर मंगल गाये जाने का उल्लेख किया है —

उपवीत व्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं।
वैदेहि राम प्रसाद ते जन सर्वदा सुख पावहीं ।।

§ मानस - बालकाण्ड 361§

x x x x

उपवीत व्याह उछाह जो सिय राम मंगल गावहीं।
तुलसी सकल कल्यान ते नर-नारि अनुदिन पावहीं ।।

§ पार्वती मंगल §

साहित्येतिहास - डा० सुमन राजे, पृ० 606

आज भी उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में सन्तान उत्पत्ति के सुअवसर पर सोहर या सोहिलो तथा मांगर (मंगल) गाये जाते हैं। इसी भाव तथा उल्लास को जैन और हिन्दी कवियों ने नाना प्रकार के छन्दों में बांधने का प्रयत्न किया है जिसमें छोटी-बड़ी कथा भी जुड़ जाती है। कवियों ने अन्य काव्य रूपों की भांति इसे अपनाया परन्तु जैनियों के इस विवाहलो काव्य रूप में भी वैराग्य भावना की ही प्रधानता है जो अपनी अनूठी विशेषता है।

षड्ऋतु और बारहमासा

प्रकृति और मानव का घनिष्ठ सम्बन्ध अनादि काल से है, प्रकृति की गोद में ही उसका जन्म, भरण-पोषण, मरण सभी कुछ होता है। मानव जीवन हर पल प्रकृति के इतने निकट रहता है, कि उसके सम्पूर्ण दु:ख-सुख प्रकृति के सौन्दर्य तथा आनन्द को प्रभावित करते हैं। मानव दु:खी होता है तो प्रकृति की सम्पूर्ण सौन्दर्यता कष्टप्रद लगने लगती है इसके विपरीत सुख के क्षणों में प्रकृति बहुत ही लुभावनी, जीवनदायनी, तथा प्रेरक शक्ति व

शिक्षिका बन जाती है । प्रकृति ही मनुष्य का जीवन है उसे वैदिक ऋषियों ने भी शक्तियों का केन्द्र माना है और उसे उच्च स्थान प्रदान किया है । कुछ लोग तो इसे देवी देवताओं का प्रतिबिम्ब मानकर इसकी पूजा अर्चना भी करते हैं । "वैदिक मन्त्रदृष्टा ऋषि के लिए प्रकृति सौंदर्य की देवी भी थी और भय की साकार प्रतिमा भी । वह प्रकृति का आलम्बन रूप में संश्लिष्ट चित्रण करता था । बाल्मीकि से लेकर कालिदास तक प्रकृति वर्णन की यह परम्परा मिलती है । किन्तु धीरे-धीरे यह वर्णन रूढ़ और परम्पराबद्ध होता गया तथा काव्य-रूढ़ियों और कवि-समयों से बंधता गया । प्रकृति का नैसर्गिक और स्वच्छन्द चित्रण कम होता गया और उस समय मानव की भावनाओं का आरोप होने लगा ।"

चौथी, पाँचवीं शताब्दी में धीरे-धीरे प्रकृति वर्णन का चित्रण रूढ़ होने लगा और उसके स्थान पर एक नये काव्य ने जन्म लिया उसका नाम षड्ऋतु तथा बारहमासा था । यह काव्य रूप भी हिन्दी साहित्य के आदिकाल की पृष्ठभूमि में अपना विशिष्ट स्थान रखता है । रास, फागु तथा अन्य काव्य रूपों की भाँति इसे भी अत्यधिक ख्याति प्राप्त हुई । ये काव्य रूप श्रृंगार प्रधान हैं इसमें नायक नायिकाओं के

संयोगावस्था तथा वियोगावस्था का चित्रांकन किया गया है जिसके माध्यम से मानव की मन:स्थिति का निरूपण किया गया। इसके विषय - संयोग-वियोग, आहार-विहार, खान-पान, सुख-दु:ख, हर्ष-विषाद आदि होते हैं। ऋतुओं के माध्यम से मानव के अन्तर्मन की बातों को कहना इस काव्य रूप की अपनी विशेषता है। प्राय: षड्ऋतु में संयोग-वर्णन तथा बारहमासा में वियोग-वर्णन का चित्रण मिलता था, परन्तु कहीं-कहीं यह क्रम विपरीत भी मिला है। डा० हरीश के शब्दों में -- "ऋतु-काव्य एक प्रकार से जीवन से समझौता करके चलने वाले मर्मगीत हैं जिनमें धूल भी है तो शूल भी है, जीवन भी है, तो मृत्यु भी है, आनंद भी है, तो दर्द भी है, विरह भी है तो मिलन भी है। बारहमासे नि:संदेह प्रकृति और मानव के चिरन्तन प्रेम और अभिन्नता के प्रतीक काव्य हैं। बारहमासे लोक जीवन से अनुभूत लोक काव्य है"[1]

षड्ऋतु और बारहमासा की परम्परा अत्यंत प्राचीन है जिसकी सबसे प्राचीन रचना अभी तक "अंग विज्जा" प्राप्त हुई है जो प्राकृत भाषा में है। मुनि पुण्यविजय ने इसे सम्पादित करके प्रकाशित कराया है डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसकी भूमिका में लिखा है कि इस ग्रंथ

---

[1]आदिकालीन हिन्दी साहित्य शोध, पृ०-402

का बारहवाँ पटल महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें छः और बारह महीनों के क्रम से प्रकृति में होने वाले वृक्ष, वनस्पति, पुष्प, सस्य, ऋतु आदि परिवर्तन गिनाए गये हैं उदाहरण के लिए फाल्गुन मास के सम्बन्ध में लिखते हैं "इस मास में नर-नारियों के मिथुन मिलकर उत्सव मनाते हैं और मुदित होते हैं। उस समय शीत हट जाता है और कुछ उष्ण-भाव आ जाता है। जिस समय आम्रमंजरी निकलती है और कोयल शब्द करती है उस समय गाने-बजाने और हँसी-खुशी के साथ स्त्री-पुरुष आमोद-प्रमोद में मस्त होकर नाचने लगते हैं, झूमने लगते हैं। स्त्री-पुरुष के मिथुन कथा प्रसंगों में लगे नाना भाँति से मण्डन करते हैं। उसका नाम फाल्गुन मास है। इन 42 श्लोकों को अपने साहित्य का सबसे प्राचीन बारहमासा कहा जा सकता है" "अंग-विज्ज"[1] का समय चौथी शताब्दी माना जाता है। इस प्रकार बारहमासा काव्य रूप का जन्म बहुत पहले हुआ जिसकी परम्परा काफी लम्बी है।

प्राकृत भाषा के उपरांत अपभ्रंश भाषा में एक बहुत समय तक

---

[1] अंग विज्जा की भूमिका, पृ0- 243 - 224

बारहमासा और षड्ऋतु काव्य नहीं मिले जिसके कारण विद्वानों ने कहा कि अपभ्रंश भाषा में बारहमासा लिखे ही नहीं गए, परन्तु धीरे-धीरे नई खोजों ने यह बात असत्य प्रमाणित कर दी । इस ओर सबसे सराहनीय कार्य श्री अगरचन्द नाहटा ने किया । उनके संग्रहालय में काफी संख्या में बारहमासा काव्य सुरक्षित हैं । इनमें से सबसे प्राचीनतम "बारहनाऊँ" नामक बारहमासा है । यह 13वीं शताब्दी की रचना है इसे नाहटा जी ने "हिन्दी अनुशीलन" (वर्ष 6, अंक 4, पृ0-40) में प्रकाशित कराया है । "बारहनाऊँ" का प्रारम्भ श्रावण मास से हुआ है और अन्त आषाढ मास से। इसके अतिरिक्त जो बारहमास प्राप्त हुए हैं उनमें नेमिनाथ और राजमती को विषय बनाकर लिखे गये हैं । दो बारहमासे ऋषभदेव, एक पार्श्वनाथ, पाँच स्थूलिभद्र, एक बारहमासा वहूय तथा एक मूलिवाई से सम्बन्धित है तथा कुछ बारहमासा की स्वतंत्र रचना भी हुई है ।

बारहमासा की परम्परा का एक और ग्रंथ नेमिनाथचउपई है जिसका प्रकाशन डा0 हरि वल्लभ भायाणी ने किया है । इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में थोड़ा मतभेद है । मुनि जिनविजय के मत से यह सं0 1338 की रचना है ।[1]

---

[1]डा0 भायाणी - फार्बस गुजराती सभा ग्रन्थावली पृ0-61

नरोत्तम स्वामी इसका रचनाकाल सं0 1325 मानते हैं ।[1] श्री दलाल के मत से यह सं0 1358 की कृति है ।[2] इससे इतना निश्चित होता है कि यह 14 वीं शताब्दी की रचना है । "नेमिनाथ चउपइ विप्रलम्भ श्रृंगार प्रधान रचना है । इसके रचयिता विनयचन्द्र सूरि हैं जो रत्नसिंह सूरि के शिष्य और गुजरात के निवासी जैन साधु थे ।

नेमिनाथ चउपई के ही समकालीन एक अन्य रचना "नेमिनाथ बारहमासा रासो" है इसका भी समय 14 वीं शताब्दी है । इसके रचनाकार पाल्हणु नामक कवि हैं । इसकी एक खण्डित प्रति अभय-जैन-ग्रन्थालय, बीकानेर में सुरक्षित है, जिसमें लगभग सात छन्द हैं इन छन्दों में श्रावण से पौष मास तक का वर्णन है । यह श्रृंगार रस प्रधान रचना है इसके एक पद से ही काव्य की भाषा-शैली का पता चल जाता है कवि श्रावण मास का वर्णन इस प्रकार करता है --

सावणि सछण घुडुक्कइ मेहो पावस सि पन्नउ नेमि विछोहो ।
दादुर मोर लविह असंगाह दह, दिह वीजु खिवई, पउवाह ।।
कोयल महुर वयणु चवखइ विरहिह उछाह करेई ।
सावणु नेमि जिणराद विणु भणइ कुमारि किम गमणउ जाणउ ।।

---

[1] स्वामी नरोत्तम दास द्वारा सम्पादित - वेलि क्रिसण रुकमणी की भूमिका, पृ0-14

[2] जैन गुर्जर कवियो

बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय में हीरानन्द द्वारा रचित दो बारहमासा स्थूलिभद्र बारहमासा, नेमिनाथ बारहमासा सुरक्षित है । स्थूलिभद्र बारह-मासा का रचनाकाल 15 वीं शताब्दी है । यह 30 पद्यों की लघु रचना है । काव्य का प्रारम्भ मार्गशीर्ष मास से होता है ।

फाल्गुन के समान कान्ह नामक कवि ने भी 15 वीं शताब्दी में "नेमिनाथ फाग बारहमासा" की रचना की थी । श्री मोहन लाल दलीचन्द देसाई द्वारा सम्पादित जैन गुर्जर कवियों (भाग-3, खण्ड-2, पृ0- 1482) में प्रस्तुत कृति संग्रहीत है इसमें 22 गाथाएँ हैं । यह विप्रलम्भ श्रृंगार प्रधान रचना है । नेमिनाथ को विवाह समय वैराग्य उत्पन्न होने पर विवाह छोड़ कर एक साधना पर चले जाना । उसकी पत्नी राजमती की वेदना का हृदयविदारक चित्रण इस बारहमासा में मिलता है --

निसि अंधारी एकली महुरई बोलई ए मोर ।
विरह संतावई पापीउ वालँभ ही एक ओर ।।
धूरि आसाढ़ह जनु गोरी नयणे नेह ।
गाजइ गज्जिम पपीउच्छानहू नीरस ने मेह ।।

जैन कवियों के अलावा हिन्दी साहित्य के आदिकाल तथा परवर्ती कवियों

ने भी इस काव्य रूप को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया । हिन्दी में अनेकों कवियों द्वारा लिए गये बारहमासा तथा षड्ऋतु काव्य प्राप्त होते हैं जो इस प्रकार हैं --

§1§ सन्देश रासक का षड्ऋतु वर्णन

§2§ प्राकृत पैंगलम् के ऋतु वर्णन सम्बन्धी पद

§3§ पृथ्वीराजरासो का षड्ऋतु वर्णन

§4§ विद्यापति का बारहमासा

§5§ नरहरि का बारहमासा

हिन्दी के सूफी कवियों में बारहमासा काव्य रूप अत्यधिक लोकप्रिय रहा उनके द्वारा लिखी गयी रचनायें इस प्रकार हैं :-

§1§ मौलाना दाऊद की चन्दायन

§2§ कुतुबन की मृगावती

§3§ जायसी के पद्मावत

§4§ मंझन की मधुमालती

इसके अतिरिक्त वुल्लासाह समदकाजी, अहमद खरा साह तथा मुहम्मदपुर महो आदि मुसलमान कवियों ने बारहमासा काव्य की रचना स्वतंत्र रूप से

की है । परवर्तीकाल में केशव, सुन्दरदास, वृन्द आदि के भी बारहमासा सम्बन्धी छन्द मिलते हैं ।

अतः षड्ऋतु तथा बारहमासा हिन्दी साहित्य के अत्यधिक लोकप्रिय काव्य रूप हैं जो आदिकाल के कवियों के अतिरिक्त परवर्ती काल के कवियों द्वारा भी अपनाये गये । जिसमें 17 वीं शताब्दी में इसे अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई । षड्ऋतु की परम्परा बारहमासा के समान ही काव्य में मिलती है लेकिन इसके नाम से अलग से रचनाएँ प्राप्त नहीं होती हैं । डा० नामवर सिंह ने षड्ऋतु की परम्परा को संस्कृत साहित्य से जोड़ा है और बारहमासा को हिन्दी की अपनी मौलिक परम्परा से बारहमासा काव्य में लोक जीवन का चित्रण है ।

ऋतु काव्यों के गीतों में अपनी मनःस्थिति का चित्रण प्रकृति पर आरोपित करके गायक स्वयं कर लेता है साथ ही इस काव्य में चरित नायकों का माध्यम बनाया जाता है । इनमें कथानक सम्बन्धी विशेष वर्णन नहीं होता है । क्योंकि ऋतु काव्यों में या प्रबन्ध काव्यों में ये मुक्तक रूप में हैं लेकिन इनके वर्णन अलंकृत व चित्रमय हो गये हैं । इन काव्यों में परंपरा का अनुसरण अधिक है जिसके कारण स्वछन्द भावनाओं का अभाव सा है ।

साहित्यिक बारहमासा का सम्बन्ध लोक काव्य से है। साहित्यिक बारहमासा तथा लोक काव्य में अन्तर इतना है कि लोक गीत का गायक अपना भावनाओं को गीतों से सीधा व सरल जोड़ता है और साहित्यिक बारहमासा में कवि अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के अलावा स्वनिर्मित कल्पित चरित व उसके परिवेशानुसार प्रकृति को अपनी भावनाओं के साथ जोड़ता है इनमें इन काव्यों के तत्व भी सम्मिलित रहते हैं। प्राय: सभी बारहमासा काव्य नायिकाओं को ही केन्द्र बना कर रचे गये हैं, इनको लिखने की तीन तरह की रीतियाँ मिलती हैं। पहली रीति वह है जिसमें चैत मास से वर्णन प्रारम्भ होता है। दूसरी रीति में आषाढ़ मास से व तीसरी रीति में कथा प्रसंग के अनुसार अर्थात् अवसरानुकूल अपने यहाँ वर्षा व बसन्त ऋतु दो प्रमुख ऋतुएं मानी गयी हैं। जिनमें बसन्त को तो ऋतुराज की संज्ञा दी गई है तो इन्हीं ऋतुओं के आगमन पर जब मनुष्य में नवचेतना का संचार होता है व भावनाएं उद्दीप्त होती हैं तब इन ऋतुकाव्यों या बारहमासा काव्य का वर्णन इन्हीं ऋतुओं से आरम्भ होता है। बारहमासा काव्य रूप वियोग श्रृंगार वर्णन का प्रमुख माध्यम रहा है। रीतिकाल में तो इसने बहुत ही स्वतंत्र रूप प्राप्त किया। लोकगीतों का यह प्रमुख माध्यम

रहा । मैथली के लोकगीतों में तो अब भी इसका प्राधान्य है ।
बंगाल में "बारहमासो" नाम से इसका उल्लेख मिलता है ।

पवाड़ा

संवत 1427 में असाइत कवि द्वारा विरचित रचना "पवाड़ा" काव्य रूप की अब तक मिलने वाली प्राचीनतम् रचना है । इसकी रचनाएँ बुंदेली, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, गुजराती एवम् मराठी भाषाओं में उसकी लोक प्रचलित परम्पराओं में मिलती है ।

पवाड़ा की व्युत्पत्ति संस्कृत के "प्रवाद" शब्द से मानी गई है । इसे अनेक विद्वान स्वीकार करते हैं । संस्कृत प्रवाद पा0 पवाड्य पवाड़अ पवाड़ो । "प्रवाद" शब्द का अर्थ होता है :- लम्बी कहानी जो कि अत्यन्त विस्तार रूप में होती है ।

इसके अतिरिक्त इसके अन्य अर्थ भी मिलते हैं । इसका एक अर्थ कहानी भी है । और एक प्रकार का गीत भी जिसमें किसी वीर की कीर्ति, शौर्य, सामर्थ्य, वीरता आदि का वर्णन होता है ।

पवाड़ा शब्द को परमार क्षत्रिय वंश से भी जोड़ा जाता है । ऐसा सम्भव हो सकता है कि अपने प्राचीन रूप में यह परमार क्षत्रिय वंश के वीरों के साहस, शौर्य, पराक्रम, की प्रशस्ति गान करने वाले काव्य रूप के रूप में जाना जाता हो, किन्तु आगे चलकर किसी भी वीर की प्रशस्ति में गाया जाने लगा हो ।

पवाड़ा महाराष्ट्र का एक प्रसिद्ध लोक छन्द है । यहाँ इसकी लम्बी परम्परा भी मिलती है । ब्रज में पमारा का अर्थ मुहावरे के रूप में भी प्रचलित है जिसका अर्थ है — झगड़ा, झंझट । अर्थात् ऐसा झगड़ा जिसका अन्त न हो । ऐसा भी सम्भव है कि रस काव्य रूप में वीरों के साहस, शौर्य व पराक्रम को प्रदर्शित करने के लिए लड़ाई झगड़े का जो वर्णन इत्यादि रहता था इसी कारण यह शब्द झगड़े के अर्थ में रूढ़ हो गया ।

हिन्दी साविहत्य कोश के अनुसार "यह पवाड़ा अपनी शैली और विषय वस्तु की दृष्टि से राजस्थानी चारणों की विरूदावली शैली के समस्त तत्वों से पूरित होकर विशुद्ध वीर गीत के रूप में सामान्यत:

मान्य है । पवाड़ा "डफ" व तुनतुनियाँ वाद्यों के सहयोग से ऊँची आवाज में गाया जाता है ।"[1]

इस काव्य रूप में वीरों के पराक्रम, कौशल, बुद्धि, सामर्थ्य, वीरता आदि गुणों की प्रशंसा की कथा गाई जाती थी । महाराष्ट्र में वीरों का प्रशस्ति गान में यह प्रमुख माध्यम रहा है । "यहाँ के लोक नृत्य तमाशा के रूप में अभिनेय भी हैं ।"[2] डा० मंजु लाल मजुमदार के अनुसार -- पवाड़ा वीरों का प्रशस्ति काव्य है । वे "असाइत" की हंसावली, भीम सदयवत्स के "वीर प्रबंध" तथा शालिसूरि के विराट पर्व की रचना के प्रबंध की दृष्टि से व अन्य समान तत्वों के आधार पर पवाड़ा की रचना के अन्तर्गत रखते हैं ।[3]

जैसाकि पहले कहा इसकी प्रथम रचना जो प्राप्य है वह असाइत कवि की "दाड़ा" है । इसके उपरान्त "हीरानंद सूरि" की "विद्या विलास पवाड़ो" मानी जाती है ।

---

[1]हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठ 445

[2]डा० श्याम परमार लोक धर्मी नाट्य परम्परा पृ०-62

[3]गुजराती साहित्य नां स्वरूपो, पृ०-123, 125

ब्रज-मालवा क्षेत्र में पवाड़ा काव्य अधिक संख्या में लिखे गये जिसमें प्रसिद्ध है — जयदेव का पवारा, जयमल पते का पवारा, कुँवर सिंह का पवारा ।

इस अलावा जैन कवियों द्वारा भी पंवाड़ा नाम से कुछ काव्य लिखे गये किन्तु इसकी संख्या न्यून है ।

अध्याय - 3

आदिकाल की सामग्री प्रामाणिक-अप्रामाणिक-नवोपलब्ध

आदिकाल की सामग्री के सन्दर्भ में अत्यन्त विवादास्पद स्थिति है, रचनाओं की अप्रामाणिकता तथा अन्य नयी सामग्री के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है, जबकि ये एक ही काल खण्ड में लिखी गई हिन्दी की रचनाएँ हैं । यों तो एक ओर हमें आदिकाल का कलश शताधिक रचनाओं से भरा हुआ दिखाई देता है, किन्तु दूसरी ओर इन विवादों में घिरकर यह कलश रिक्त होता दिखाई देता है । ऐसी स्थिति में आदिकाल की रचनाओं का साहित्यिक प्रवृत्तियों, विशेषताओं, तथा काव्य रूपों का विवेचन करना कठिन ही नहीं असम्भव सा लगता है, किन्तु फिर भी कुछ विद्वानों ने इन रचनाओं की प्रामाणिकता सिद्ध कर दी है । आदिकाल का विपुल साहित्य आज भी जयपुर, बीकानेर, जैसलमेर, अहमदाबाद आबू, पाटण आदि के भण्डारों में सुरक्षित है

जो अधिकांशतया जैन कवियों द्वारा रचित है । जैन मन्दिरों तथा भण्डारों के जैनाचार्य, मठाधीश आदि के अत्यन्त संकीर्ण विचारों के कारण यह विपुल साहित्य बहुत समय तक अंधकार में पड़ा रहा, परन्तु विद्वानों के प्रयासों से जैनाचार्य मठाधीशों आदि के विचारों में परिवर्तन आया और बहुत ही महत्वपूर्ण सामग्री सामने आयी जिससे आदिकाल का साहित्य समृद्ध हुआ तथा प्रामाणिकता तथा अप्रामाणिकता के झमेले को सुलझाने में सहायता मिली । अतः आदिकाल वह है जिसकी सामग्री हमें बहुत ही दयनीय अवस्था में मिली जिसमें कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जिसका अस्तित्व ही नहीं है । क्योंकि उनके नाम तथा उनके रचयिताओं के नाम का उल्लेख तो विभिन्न इतिहासकारों ने किया है परन्तु वह रचना अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं हो सकी है । आदिकाल के धरातल पर अपभ्रंश की प्रमाणिक रचनाएँ मिलती हैं जिनमें मुख्य रूप से जैन कवियों द्वारा लिखे गये चरित काव्य तथा अब्दुल रहमान की "संदेसरासक" रचना भी है । सिद्धों तथा नाथ-पंथियों की परिवर्तित या प्रक्षिप्त रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, कुछ रचनाएँ ऐसी प्राप्त हुई हैं, जो रचना काल की दृष्टि से इस काल के बाद की हैं । खुमान रासो, ढोलामारूरादूहा, विद्यापति की रचनाएँ

तथा आल्हा-खण्ड आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं । इसके अतिरिक्त व्याकरण, दर्शन, नीति-उपदेशादि से सम्बन्धित उन रचनाओं को स्थान दिया जा सकता है जो भाषा एवम् रचनाकाल की दृष्टि से आदिकालीन हिन्दी रचना के रूप में मान्य होती हुई भी काव्यात्मकता से शून्य हैं । जैसे - "उक्ति व्यक्ति प्रकरण" , "उपदेश रसायन-रास" आदि । इस प्रकार हम देखते हैं कि आदिकाल का साहित्य सामग्री के ऊपर एक जाल सा पड़ा हुआ है उसमें से कौन सी रचना प्रामाणिक हिन्दी की रचना है जानना काफी दुष्कर कार्य है । हिन्दी साहित्य के विभिन्न इतिहासकारों ने आदिकाल की सामग्री का विवेचन किया है । इस अध्याय में क्रमशः पुनर्विचार द्वारा हम यह निर्णय लेंगे कि इस जाल से ढकी आदिकाल की सामग्री में से कौन-सी हिन्दी की प्रामाणिक रचना इस काल में अपना स्थान ग्रहण कर रही है ।

जार्ज ग्रियर्सन द्वारा उल्लिखित सामग्री -- जार्ज ग्रियर्सन ने आदिकाल की सामग्री के लिए नौ कवियों के नामों का उल्लेख किया है --

पुष्पकवि, खुमानसिंह, केदार, कुमारपाल, अनन्यदास, चन्द्र, जगनिक, शार्ंगधर एवम् जोधराज । जिसमें पुष्पकवि और केदार की कोई रचना आज तक उपलब्ध नहीं हुई है । इस बात को स्वयं ग्रियर्सन ने भी स्वीकारा था । "खुमानसिंह" से सम्बन्धित "खुमानरासो" रचना मिलती है वह खुमानसिंह" की नहीं है उसके रचनाकार "दलपति विजय" थे जिनका जीवन काल डा० मोतीलाल मेनारिया द्वारा अठारवीं शती सिद्ध हो चुका है । इस प्रकार यह रचना भी आदिकाल की सीमा से बाहर हो जाती है । "कुमारपाल चरित" के रचयिता "कुमारपाल" भी कोई कवि नहीं हैं, वह इस काव्य के नायक हैं इसके रचनाकार प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्रसूरी हैं और यह अपभ्रंश भाषा में लिखी हुई है, इसलिए न तो इस काव्य को और न ही इसके रचयिता को हिन्दी साहित्य में स्थान दिया जा सकता है । "अनन्ययोग" के रचयिता अनन्यदास का रचनाकाल 1710 - 90 विक्रमी तथा "हम्मीर रासो" के रचयिता जोधराज का रचनाकाल सं० 1375 वि० निश्चित हो चुका है अत: इन्हें भी इस काल में स्थान नहीं दिया जा सकता है । पृथ्वीराज के रचयिता चन्द्र [चन्दवरदायी] द्वारा रचित रचना का मूल रूप प्राप्त नहीं हुआ है, किन्तु पृथ्वीराज रासो के लघुतम संस्करण

के शोधित रूप को मूल के बहुत निकट माना जा सकता है । "जगनिक" की रचनाओं के भी मूल रूप प्राप्त नहीं हुए हैं । अब केवल शार्गंधर ही शेष बचते हैं जिनके दो ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं हम्मीर रायसा या हम्मीर चरित "शार्गंधर पद्धति" संस्कृत भाषा का काव्य संग्रह माना गया है, "हम्मीर रायसा" अनुपलब्ध है । अत: जार्ज ग्रियर्सन द्वारा उल्लिखित रचनाओं में केवल चन्दवरदायी ही एक मात्र ऐसे कवि हैं जिसे इस काल के हिन्दी कवि के रूप में स्थान दिया जा सकता है । शेष सभी कवियों की रचनाएँ परवर्ती युग की हैं । या अनुपलब्ध हैं या फिर अपभ्रंश भाषा आदि की हैं ।

मिश्र बन्धुओं द्वारा उल्लिखित रचनाएँ :- मिश्र बन्धुओं ने "मिश्र बन्धु विनोद" के प्रथम संस्करण में "आरम्भिककाल" {सं० 700 - 1444 वि०} के अन्तर्गत इन 19 कवियों को स्थान दिया है --

{1} पुष्प या पुण्ड {रचना अज्ञात ; काल 770 वि०}
{2} अज्ञात कवि {खुमान रासो ; 890 वि}
{3} नन्द कवि {रचना अज्ञात ; 1137 वि०}
{4} मसऊद {सं० 1180 वि०}
{5} कुतुब {सं० 1180 वि}

§6§ साँईदान चारण §सम्वत्सार, सं0 1191§
§7§ अकरम फैज §वर्तमान, सं0 1205 - 58 वि0§
§8§ चन्द §पृथ्वीराज रासो ; सं0 1225 - 49§
§9§ जगनिक §आल्हा§
§10§ केदारकवि §
§11§ बारदर वेणा §सं0 1225§
§12§ भूपति §भागवत दशम स्कन्ध भाषा : 1344§
§13§ अल्हन
§14§ नरपति नाल्ह §बीसल देव रासो, सं0 1354§
§15§ नल्लसिंह §विजयपाल रासो सं0 1355§
§16§ शार्ङ्गधर §हम्मीर काव्य ; सं0 1357§
§17§ अमीर खुसरो
§18§ मुल्ला दाउद §नूरक चँदा की प्रेम कहानी ; सं0 1385 है§
§19§ गोरखनाथ § 40 ग्रन्थ ; सं0 1407§

उपर्युक्त कवियों में सात ऐसे हैं जिनकी रचनाएँ हो उपलब्धनहीं हैं जो इस प्रकार हैं -- पुष्प, नन्द, मसअद, कुतुबअली, केदार, वारदवेणा और जल्हन साईदान चारण, नल्लसिंह, और शार्ङ्गधर को रचनाओं का केवल नाम मात्र मिलता है । इनको रचनायें उपलब्धनहीं है । "वर्तमाल" के रचयिता अकरम फैज को मिश्र बन्धुओं ने जयपुर के महाराजा के दरबारी कवि के रूप में

बताया है, जबकि जयपुर सत्रहवीं शती में बसाया गया था और माधवसिंह उन्नीसवीं शती में हुए थे । इसलिए यह कवि भी आदिकाल की सीमावधि से बहुत बाहर का है । अब शेष रह जाते हैं चन्दवरदायी, जगनिक, नरपति नाल्ह, अमीर खुसरो, मुल्ला दाउद । ये पाँचों कवि, जिन्हें परवर्ती इतिहासकारों ने भी आंशिक रूप में स्वीकार किया है । अमीर खुसरो, मुल्ला दाउद की कविता की भाषा बहुत परिवर्तित है तथा मुल्ला दाउद कृत चन्दायन का रचनाकाल 781 हिजरी अर्थात् सं0 1436 वि0 प्रमाणित हो चुका है इसलिए यह रचना हमारे विषय के अध्ययन की सीमावधि के अन्तर्गत आता है । अत: इसके अलावा चन्दवरदायी कृत पृथ्वीराज रासो नरपतिनाल्ह कृत बीसलदेव रासो मात्र दो रचनाएँ और ऐसी हैं जिन्हें आदिकाल की सीमावधि में स्थान दिया जा सकता है ।

<u>आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रस्तुत रचनाएँ :-</u> शुक्ल जी ने आदिकाल की साहित्य सामग्री के अन्तर्गत अपभ्रंश भाषा और देशभाषा (बोलचाल) की रचनाओं को स्थान दिया है । शुक्ल जी द्वारा प्रस्तुत रचनाएँ इस प्रकार हैं :-

1- अपभ्रंश भाषा - इस भाषा में लिखे प्रमुख ग्रन्थ हैं --

(1) विजयपाल रासो (नल्ल सिंह कृत सं0 1355)
(2) हम्मीर रासो (शार्ङ्गधर कृत, सं0 1357)
(3) कीर्तिलता
(4) कीर्तिपताका (विद्यापति कृत, सं0 1375)

2- देश्यभाषा - देशी भाषा में आने वाले ग्रंथ हैं --

(5) खुमान रासो (दलपत विजय - सं0 1190 - 1205)
(6) बीसलदेव रासो (नलपति नाल्ह कृत, सं0 1212)
(7) पृथ्वीराज रासो (चन्दवरदायी कृत, सं0 1225-1249)
(8) जयचन्द प्रकाश (भट्ट केदार कृत सं0 1225)
(9) जयमयंक जस चन्द्रिका (मधुकर कवि कृत, सं0 1240)
(10) परमाल रासो (आल्हा का मूलरूप, जगनिक कृत, सं0 1230)
(11) खुसरो की पहेलियाँ (सं0 1340)
(12) विद्यापति की पदावली (सं0 1460)

उपर्युक्त रचनाओं में से अपभ्रंश भाषा की रचनाओं को हिन्दी साहित्य में स्थान नहीं दिया जा सकता है । शेष आठ रचनाओं में "जयचन्द प्रकाश" "जय मयंक जस चन्द्रिका" अनुपलब्ध है तथा खुमान रासो का समय अठारहवीं शती सिद्ध हो चुका है । परमाल रासो एवम् खुसरो की पहेलियाँ भाषा की दृष्टि से संदिग्ध या परवर्ती प्रतीत होती हैं । विद्यापति का रचनाकाल

स्वयं शुक्ल जी ने संवत् 1460 के लगभग बताया है, अत: शुक्ल जी द्वारा प्रस्तुत रचनाओं में "बीसलदेवरासो", "विद्यापति पदावली" तथा "पृथ्वीराज रासो" को आदिकाल की सीमावधि में स्थान दिया जा सकता है। यद्यपि पृथ्वीराज का रचनाकाल एवं मूलपाठ आज भी विवादास्पद बना हुआ है।

<u>डा० रामकुमार वर्मा द्वारा प्रस्तुत रचनाएँ</u> :- शुक्ल जी द्वारा प्रस्तुत रचनाओं के उपरान्त डा० राम कुमार वर्मा जी ने ठीक 10 वर्ष बाद हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल को दो खण्डों में विभक्त किया है (1) सन्धिकाल (सं० 750 - 1200) (2) चारणकाल (सं 1000-1735 वि०) जिसमें सन्धिकाल में सिद्ध-साहित्य, जैन साहित्य, नाथ साहित्य, मनोरंजन साहित्य और प्रेम कथा साहित्य को समाहित किया। इन वर्गों में आने वाले कवियों की संख्या लगभग सौ से अधिक है। शुक्ल की रचनाओं के बाद इस काल में पर्याप्त शोध हो चुका था जिसके परिणाम-स्वरूप ही वर्मा जी ने इतनी अधिक साहित्य सामग्री को प्रस्तुत किया। पर ये सभी साहित्य सामग्री आदिकाल के हिन्दी साहित्य में स्थान पा सकेंगी, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता/उसके लिए उनके द्वारा

प्रस्तुत प्रत्येक वर्ग की रचनाओं पर विचार करना होगा ।

{क} सिद्ध साहित्य :- सिद्ध साहित्य के अन्तर्गत डा० वर्मा ने सरहपा {सं० 797 - 826}, शबरपा {सं० 836}, भुसुकुपा {सं० 857}, लुइपा {सं० 887}, विरूपा {सं० 897}, डोम्भिपा {सं० 897}, दारिकपा {सं० 897}, गुंडरीपा {सं० 897}, कुक्कुरिपा {सं० 897}, कमरिपा {सं० 897}; कण्हपा {सं० 897}, गोरक्षपा {सं० 902}, तिलोपा {सं० 1007} और शान्तिपा {सं० 1007} आदि का उल्लेख किया है । इन कवियों को प्रकाश में लाने का श्रेय पं० राहुल सांकृत्यायन को है । इन सिद्धों की संख्या 84 बताई जाती है । सरहपा इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक बताये जाते हैं । यह पं० राहुल जी ने स्वयं स्वीकारा है कि इन सिद्ध कवियों की रचनाएँ मूल रूप में उपलब्ध नहीं हैं । इसके अलावा जिन रचनाओं को सिद्ध कवियों के नाम से राहुल जी ने प्रकाशित कराया है, वे तिब्बती भाषा में उपलब्ध अनुवाद पर आधारित हैं या अठारहवीं उन्नीसवीं शती की पाण्डुलिपियों पर आधारित हैं । राहुल जी ने "हिन्दी काव्य धारा" में इन सिद्ध कवियों को हिन्दी कवि के रूप में प्रस्तुत किया है किन्तु अपने बाद के ग्रन्थों में विचारों को दूसरे रूप में

प्रस्तुत किया और सिद्ध कवियों के काव्य के सम्बन्ध में "दोहाकोश" की भूमिका में कहा कि "इनके काव्य को मूलत: अपभ्रंश में ही रचित माना है।" अत: डा० वर्मा द्वारा प्रस्तुत सिद्ध साहित्य को हिन्दी साहित्य में स्थान नहीं दिया जा सकता है।

§ख§ <u>जैन साहित्य</u> :- जैन साहित्य के अन्तर्गत डा० वर्मा ने जैन कवियों की रचनाओं को दो भागों में विभक्त किया है - §1§ साहित्यिक अपभ्रंश में रचित रचनाएँ। §2§ अपभ्रंश परिवर्तित लोक भाषा या प्रारम्भिक हिन्दी में रचित रचनाएँ।

1- <u>साहित्यिक अपभ्रंश में रचित रचनाएँ</u> :- साहित्यिक अपभ्रंश के अन्तर्गत डा० वर्मा ने लगभग सोलह कवियों की रचनाओं को प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार हैं :-

§1§ स्वयंभू देव §सं० 734 के बाद का§
§2§ आचार्य देवसेन §विक्रम की 10 वीं शताब्दी§
§3§ माइल्ल धवल § 10 वीं शताब्दी के लगभग§
§4§ महाकवि पुष्पदत्त §10 वीं शताब्दी के लगभग§
§5§ धनपाल §विक्रम की दसवीं शताब्दी§
§6§ मुनि रामसिंह §सं० 990§
§7§ श्री अभय देव सूरि §11 वीं शताब्दी§

§8§ श्री चन्द्र मुनि §11 वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध§
§9§ कनकामरमुनि §11 वीं शताब्दी§
§10§ श्री णयणंदि मुनि §12 वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध§
§11§ श्री जिन दत्त सूरि §12 वीं शताब्दी§
§12§ श्री योग चन्द्र मुनि §12 वीं शताब्दी के लगभग§
§13§ आचार्य हेमचन्द्र §12 वीं शताब्दी§
§14§ हरिभद्र सूरि §मुनिजिनविजय द्वारा 8 वीं, 9वीं शताब्दी राहुल जी द्वारा 13 वीं शताब्दी§
§15§ सोमप्रभ सूरि §13 वीं शताब्दी§
§16§ मेरु तुंग §14 वीं शताब्दी§

उपर्युक्त सभी जैन कवि साहित्यिक अपभ्रंश के हैं जिनका रचनाकाल आठवीं शती से लेकर चौदहवीं शती तक है । डा० वर्मा जी द्वारा प्रस्तुत इन रचनाओं को आदिकालीन हिन्दी साहित्य में स्थान देने का प्रश्न ही नहीं उठता है ।

2- अपभ्रंश परवर्ती लोक भाषा या प्रारम्भिक हिन्दी में रचित रचनाएँ - इस वर्ग के अन्तर्गत जैन कवियों द्वारा अनेकों ग्रन्थ लिखे गये जो इस प्रकार हैं :-

§1§	शालिभद्र सूरि – भरतेश्वर बाहुबली रास	§13वीं शताब्दी§
§2§	जिन पद्मसूरि – थूलिभद्र फागु	§13वीं शताब्दी§
§3§	विनय चन्द्र सूरि – नेमिनाथ चउपई	§13 वीं शताब्दी§
§4§	धर्म सूरि – जम्बू स्वामी रासा	§13वीं शताब्दी§
§5§	विजय सेन सूरि – रेवतगिरि रासा	§14वीं शताब्दी§
§6§	अम्बदेव सूरि – संघपति समरा रासा	§14वीं शताब्दी के लगभग§
§7§	राजशेखर सूरि – नेमिनाथ फाग	§14 वीं शताब्दी§

दूसरे वर्ग की रचनाओं की भाषा तथा रचनाकाल की तिथि के आधार पर हिन्दी साहित्य के आदिकाल की सीमावधि में स्थान दिया जा सकता है। अनेक विद्वानों ने डा० वर्मा जी द्वारा प्रस्तुत दोनों वर्गों की रचनाओं को हिन्दी साहित्य में स्थान दिया है। परन्तु दोनों वर्गों की रचनाओं में पर्याप्त अन्तर है। ग्यारहवीं-बारहवीं शती में अपभ्रंश भाषा परिनिष्ठित होकर साहित्यिक भाषा के पद पर आसीन हुई, तभी उससे अद्भुत, दूसरी ओर व्याकरण के नियमों की कठोर श्रृंखला से मुक्त लोक भाषा प्रचलित हुई जिसे हेमचन्द ने "ग्राम्य अपभ्रंश" कहा है। धीरे-धीरे यह लोकभाषा विकसित हुई और स्थान भेद के आधार पर हिन्दी, गुजराती आदि नामों से ख्याति प्राप्त हुई। अतः "दूसरे वर्ग के कवियों ने बारहवीं शती के मध्य से लेकर चौदहवीं शती के मध्य तक इसी लोक भाषा – हिन्दी में काव्य

रचना की है ।"[1] अतः दोनों वर्गों के कवियों को अपने-अपने वर्गों में अपभ्रंश तथा हिन्दी की रचनाओं में स्थान दिया जाना चाहिये ।

(ग) नाथ साहित्य :- डा० राम कुमार वर्मा ने नाथ साहित्य के अन्तर्गत गोरखनाथ, गाहिणीनाथ, चर्पटनाथ, चौरंगीनाथ ज्वालेन्द्रनाथ, भर्तृनाथ तथा गोपी चन्द्र आदि नाथ पंथी योगियों को स्थान दिया है । जिसमें गोरखनाथ का समय तेरहवीं शताब्दी का मध्य भाग सम्वत् 1270 में बताया है तथा अन्य नाथ योगियों का समय तेरहवीं-चौदहवीं शती माना है । आदिनाथ इस सम्प्रदाय के सर्वप्रथम आचार्य रहे और मत्स्येन्द्र नाथ गोरखनाथ के गुरु थे, परन्तु नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक गुरु गोरखनाथ माने जाते हैं । गोरखनाथ की रचनाएं चालीस की संख्या में प्राप्त हुई हैं । डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने "गोरखबानी" की भूमिका में गोरखनाथ के बारे में लिखा है । "इन सब प्रतियों के द्वारा अब तक गोरखनाथ के नाम से चालीस छोटी-मोटी रचनाओं का पता चलता है .... हिन्दी के ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ बहुत प्राचीन नहीं मिलती हैं जो कुछ भी

---

[1]आदिकाल की प्रामाणिक रचनाएँ गणपति चन्द्र गुप्त पृ०-7।

मिलती है वह विक्रम की सत्रहवीं, अठारहवीं शती के इधर की है। ...
कोई दो प्रतियाँ आपस में सर्वथा मेल नहीं खातीं।"[1]

अतः डा० बड़थ्वाल को जो भी प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं।
उनमें कई प्रकार के परिवर्तन हुए हैं, जिससे उनका मूल रूप स्पष्ट नहीं होता
है तथा उनका समय सं० 1775 विक्रमी से पूर्व का नहीं है। इस प्रकार
डा० बड़थ्वाल द्वारा प्रस्तुत रचनाएँ 17वीं, 18 वीं शती की ही प्राप्त
होती है जो आदिकाल के सीमावधि से बाहर पड़ती है।

डा० बड़थ्वाल के अतिरिक्त गोरखनाथ तथा अन्य नाथ
योगियों की वाणी का सम्पादन आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने
किया है इन्होंने अपनी कृति "नाथ सिद्धों की बानियाँ" में अजयपाल,
गोपीचन्द्र, चर्पटनाथ, चौरंगीनाथ, जलन्ध्रीपाव, दत्तात्रेय, नागार्जुन,
पृथ्वीनाथ, भरथरी, मच्छेन्द्रनाथ, कणेरी (सती पाव), गरीब जी,
घोड़ा चोली, चोणकनाथ (चुणकरनाथ), देवल जी, धूंधलीमल जी, पार्वती
जी, बालनाथ जी, बालगुन्दाई, महादेव जी, रामचन्द्र जी, लषमण जी,

---

[1] गोरखबानी, सं० डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, द्वितीय संस्करण (2003 वि०), पृ० सं०-14

सतवंती जी, सुकुल हंस जी तथा हणवन्त जी 25 साधकों की वाणियाँ संकलित की हैं, जो मुख्यत: तीन हस्तलिखित प्रतियों पर आधारित हैं ।

§1§ सं० 1771 वि०
§2§ सं० 1837 वि०
§3§ सं० 1355 - 56 वि०

उपर्युक्त संग्रहित रचनाओं के बारे में द्विवेदी जी का मत है "इस प्रकार इस संग्रह में जिन नाथ-सिद्धों की वाणियाँ संग्रहित हैं उनमें से अधिकांश चौदहवीं शताब्दी §ईसवी§के पूर्ववर्ती हैं कुछ चौदहवीं शताब्दी के हैं और थोड़े उसके बाद के । ..... यद्यपि इन वाणियों के रूप बहुत कुछ विकृत हो गये हैं, परन्तु भाषा का कुछ न कुछ पुराना रूप उनमें रह गया है ।"[1]

अत: द्विवेदी जी के विवेचन से यह स्पष्ट नहीं हो पाया है कि कौन-सी रचना आदिकाल की सीमा में आती है कौन-सी उसके बाद की है । वस्तुत: नाथ पन्थी साहित्य के सम्पादकों ने यह बात स्वीकार की है कि नाथ योगियों के रचनाकाल में पर्याप्त मतभेद है आज

---

[1]नाथ सिद्धों की वानियाँ, पृ० सं०-25

भी इनकी रचनाओं का सही समय निश्चित नहीं हो पाया है ।
भाषा की दृष्टि से ये रचनाएँ परवर्ती काल 17 वीं से 19 वीं शती
के मध्य में आती है । साथ ही इनका मूल रूप भी उपलब्ध नहीं हुआ
है । भाषा एवं विषय-वस्तु की दृष्टि से यह काफी परिवर्तित एवम् विकृत
है । भाव, शैली, साहित्यिकता की भी इसमें रिक्तता है । ऐसी अवस्था
में इन रचनाओं को हिन्दी साहित्य में स्थान कैसे दिया जा सकता है ।
इन कवियों का महत्व बतलाते हुए डा० गणपति चन्द्र गुप्त लिखते हैं --
"इनके माध्यम से नाथपन्थी विचारधारा एवम् साधना पद्धति का ज्ञान
प्राप्त किया जा सकता है, काव्यात्मकता एवं भाषा की प्रमाणिकता की
दृष्टि से नहीं । अतः रचना-काल, काव्यत्व एवम् भाषा रूप तीनों में से
किसी भी दृष्टि से इन्हें आदिकालीन हिन्दी साहित्य में स्थान नहीं
दिया जा सकता ।"

गुप्त जी का कथन किसी सीमा तक सही प्रतीत होता
है । फिर भी नाथपन्थी विचारधारा, साधना पद्धति, का ज्ञान प्राप्त
करने के लिये नाथ सिद्धों की परम्परा एवं रचनाओं पर एक दृष्टि डाली
जा सकती है ।

1- आदिकाल की प्रामाणिक रचनाएं - डा० गणपति चन्द्र गुप्त पृ० 10

श्रृंगारी व मनोरंजक साहित्य एवम् प्रेमकथा साहित्य :- इस शीर्षक के अन्तर्गत डा० राम कुमार वर्मा ने तीन कवियों की रचनाओं को स्थान दिया है :-

(1) अब्दुर्रहमान कृत सन्देश - रासक

(2) बब्बर की स्फुट रचनाएँ

(3) अमीर खुसरो की रचनाएँ

इसमें "सन्देश-रासक" की भाषा अपभ्रंश है। सन्देश रासक भाषा के सम्बन्ध में विद्वानों का पर्याप्त मतभेद है। उनके विभिन्न मत इस प्रकार हैं --

डा० नामवर सिंह ने इसकी भाषा को साहित्यिक अपभ्रंश मानते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा कि "यह समझना भ्रान्ति है कि यह ग्राम्य अपभ्रंश में रचित है।" डा० उदय नारायण तिवारी ने इसकी भाषा के सम्बन्ध में कहा है कि "ध्वनि-विकास एवम् शब्द-रूपों की दृष्टि से संदेश-रासक की भाषा साहित्यिक अपभ्रंश से बहुत आगे बढ़ी है" इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने इसकी भाषा को परिनिष्ठित अपभ्रंश से कुछ आगे बढ़ी हुई मानते हुए इसे हिन्दी साहित्य के आदिकाल में स्थान देने की चेष्टा की

1- हिन्दी के विकास में अपभ्रंश योगदान; चतुर्थ संस्करण पृ० सं० 239

2- आदिकाल की प्रामाणिक रचनाएं - डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त

है किन्तु भाषा वैज्ञानिकों ने इसे अस्वीकृत कर दिया । अतः विद्वानों के उपर्युक्त तथ्य "सन्देश रासक" को भाषा की दृष्टि हिन्दी की रचनाओं में स्थान नहीं देते हैं जबकि इसका समय 11 वीं शताब्दी आदिकाल की सीमा-वधि के अन्तर्गत है, वस्तुतः काव्यत्व, शैली, भावात्मकता तथा विषयवस्तु की दृष्टि से इसका विश्लेषण आदिकालीन रचनाओं के अन्तर्गत किया जा सकता है । डा० वर्मा जी द्वारा प्रस्तुत बब्बर की स्फुट रचनाएँ कुछ छन्द रूप में प्राकृत-पैंगलम् में उपलब्ध है किन्तु उनके व्यक्तित्व, रचनाकाल एवम् कृतित्व के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता । ऐसी भ्रामक स्थिति की रचनाओं को आदिकाल में कैसे स्थान दिया जा सकता है । इसके अतिरिक्त अमीर खुसरो की हिन्दी रचनाओं को हिन्दी के आदिकाल में स्थान दिया जा सकता है यद्यपि इनकी भाषा परवर्ती है जिससे इनकी रचनाओं की प्रामाणिकता संदिग्ध हो गयी है ।

प्रेमकथा साहित्य के अन्तर्गत डा० वर्मा ने मुल्ला दाऊद द्वारा रचित "चंदावत" को स्थान दिया है । डा० वर्मा ने मुल्ला दाऊद को अलाउद्दीन खिलजी का समकालीन माना है जिसका रचनाकाल संवत् 1375 के आस-पास ही है । इसके समय के सम्बन्ध में विद्वानों का पर्याप्त मतभेद है । वर्मा जी के समय तक इस रचना पर पर्याप्त कार्य नहीं हो पाया था ।

परवर्ती विद्वानों ने इस पर कार्य किया और मतों को स्पष्ट किया जिसमें डा० माता प्रसाद गुप्त का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिन्होंने इस ग्रन्थ का मूल नाम "लोर कहा" या लोर कथा माना है, किन्तु वे इसकी ख्याति "चान्दायन" नाम से भी स्वीकार करते हैं । डा० परमेश्वरीलाल गुप्त ने इसका एक पाठ "चन्दायन" नाम से प्रस्तुत किया है । अत: अब "चन्दायन" या "चान्दायन" नाम ही मान्य है । इसकी भाषा अवधी है । अत: इसे हिन्दी साहित्य के आदिकाल की रचनाओं में स्थान दिया जा सकता है ।

<u>चारण साहित्य</u> :- डा० राम कुमार वर्मा ने "संधिकाल" के अनन्तर "चारण-काल" (सं० 1000 - 1375 वि०) का विवेचन अलग से करके उसमें लगभग चौबीस रचनाओं की चर्चा की है । इसमें से 8 कवि तो वे हैं, जिनकी चर्चा डा० वर्मा से पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने की है :-

(1) पुष्प (डा० वर्मा जी द्वारा स्वयं अस्तित्वहीन माना गया है)
(2) भुवाल (17वीं, 18 वीं शती)
(3) मोहनलाल द्विज (17 वीं, 18 वीं शती)
(4) भट्ट केदार (रचनाओं का नाममात्र उल्लेख प्राप्त होता है)

§5§ मधुकर §रचनाओं का नाममात्र उल्लेख प्राप्त होता है§
§6§ दलपति विजय §रचनाओं का मूलपाठ अनुपलब्ध है§
§7§ शार्गंधर §रचनाओं का मूलपाठ उपलब्ध नहीं है§
§8§ नल्लसिंह §रचना अपभ्रंश मिश्रित है§

उपर्युक्त कवियों को वर्मा जी ने स्वयं अनिश्चित घोषित किया है । इस समय के मान्य कवियों में नरपतिनाल्ह §बीसलदेव रासो§, चंदवरदायी §पृथ्वीराज रासो§, जगनिक §आल्हाखण्ड§ आदि को आदिकाल की सीमावधि में स्थान देते हुए अन्य बारह डिंगल कवियों को स्थान दिया है । नरपतिनाल्ह तथा चन्दवरदायीकेविषयवस्तु भाषा, रचनाकाल की दृष्टि से आदिकाल में स्थान प्राप्त करने में कोई आपत्ति नहीं है । किन्तु जगनिक का "आल्हाखण्ड" विवाद का विषय है क्योंकि न तो इसका रचनाकाल निश्चित है और न ही भाषा । भाषा की दृष्टि से तो यह रचना अठारहवीं, उन्नीसवीं शती की रचना है । शेष बारह डिंगल कवियों की सूची इस प्रकार है :-

§1§ जैतसी राने पाबू जी रा छन्छ §संवत् 1598 वि0§
§2§ अजलदास खीची री वचनिका §सं0 1615 वि0§
§3§ माधवानल प्रबन्ध §सं0 1584 वि§
§4§ क्रिसन रूकिमणी री बेलि §सं0 1537 वि0§
§5§ सुन्दर सिणगार §सं0 1688 वि0§

§6§ वचनिका राठौर रतनसिंह जीरी §सं0 1715 वि0§
§7§ सोढी नीथी री कवित्त §सं0 1730 वि0§
§8§ ढोला मारवाड़ी चउपही §सं0 1507§
§9§ वरसल गढविजय §सं0 1769 वि0§
§10§ महाराज गजसिंह जी रौ रूपक §सं0 1804 वि0§
§11§ ग्रन्थराज गाडण गोपीनाथ रौ कहियौ §सं0 1810 वि0§
§12§ महाराज रतनसिंह जी री कवित्त §सं0 1895§

उपर्युक्त डा0 वर्मा जी द्वारा प्रस्तुत रचनाएँ व उनका रचनाकाल है, जो सोलहवीं शती से उन्नीसवीं शती माना गया है । वर्मा जी द्वारा प्रस्तुत ये रचनाएँ चारण काल से बाहर की हैं क्योंकि चारण-काल का समय संवत् 1375 वि0 तक माना है । ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसा इन्होंने चारण-काव्य के डिंगल-साहित्य की पूरी परम्परा का विकास दिखाने के लिए किया हो । अतः चारणकाल के अन्तर्गत चन्दवरदायी कृत "पृथ्वीराजरासो" नरपति नाल्ह कृत बीसलदेवरासो को ही आदिकालीन हिन्दी साहित्य की सीमावधि में रखा जा सकता है ।

<u>आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रस्तुत रचनाएँ</u> :- आचार्य द्विवेदी जी ने अपनी कृति हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास की प्रस्तावना

के अन्तर्गत अपभ्रंश के जैन, सिद्ध एवम् नाथपन्थी कवियों की रचनाओं पर विहंगम दृष्टि से प्रकाश डाला है जिसे वे परवर्ती, परिवर्तित, विकृत मानते हैं । अतः अन्य विद्वानों की तरह आचार्य द्विवेदी जी ने ये साहित्य संदिग्ध माना है और इसे हिन्दी साहित्य में स्थान देने के पक्ष में नहीं हैं । इसके बाद उन्होंने हिन्दी साहित्य का आदिकाल शीर्षक के अन्तर्गत हिन्दी की रचनाओं की चर्चा की है इसमें पुराने साहित्य के संरक्षण के उप शीर्ष में खुमान रासो, वीसलदेव रासो, भट्टकेदार और मधुकर भट्ट कृत"जयचन्द्र प्रकाश" और"जयमयंक चन्द्रिका", हम्मीर रासो, विजयपाल रासो और अमीर खुसरो की रचनाओं की चर्चा की परन्तु उन्हें भी परवर्ती, परिवर्तित तथा संदिग्ध माना है । इसके अतिरिक्त आदिकाल के हिन्दी साहित्य में द्विवेदी जी ने अर्द्धप्रामाणिक रचनाओं में चन्दवरदायी कृत "पृथ्वीराज रासो", अब्दुलरहमान कृत "सन्देश रासक", "प्राकृत पैंगलम् के छन्द " परमाल रासो (आल्हाखण्ड) तथा विद्यापति की "कीर्तिलता" का विस्तृत विवेचन किया है । चन्दवरदायी कृत पृथ्वीराज रासो को अर्द्धप्रामाणिक होने पर भी आदिकालीन हिन्दी साहित्य में विवेच्य के लिए रखा जा सकता है । अब्दुलरहमान कृत सन्देश

रासक की भाषा हिन्दी की अपेक्षा अपभ्रंश के अधिक निकट है । जगनिक कृत परमाल रासो (आल्हाखण्ड) भी अप्रामाणिक है । कहते हैं कालिंजर के राजा परमाल (परमर्दिदेव) के यहाँ एक भाट जगनिक द्वारा यह लिखा गया था जिसमें महोबा के दो शूरवीरों आल्हा-ऊदल के चरित्र का चित्रण किया है। जिसकी ख्याति दूर-दूर तक थी । इनका समय निश्चित नहीं है । फिर भी आदिकाल के हिन्दी साहित्य की रचनाओं में इतिहासकारों ने इसकी चर्चा की है । शिल्प, भाव, विषयवस्तु की दृष्टि से इस रचना को आदिकाल की सीमावधि में विवेचन के लिए स्वीकृत किया जा सकता है । अन्त में द्विवेदी जी ने "कीर्तिलता" का उल्लेख किया है जिसका समय 1425 से 15 वीं शती के उत्तरार्द्ध तक माना है । अतः इसे भी आदिकाल की सीमावधि में रखा जा सकता है । डा0 गणपति चन्द्र गुप्त द्वारा इतिहास में प्रस्तुत रचनाएँ - गुप्त जी का हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास सन् 1965 में प्रकाशित हुआ । उस समय तक पर्याप्त विवेच्य सामग्री थी । गुप्त जी ने आदिकाल की सीमा सन् 1184 से 1350 ई0 तक निर्धारित करते हुए निम्नलिखित रचनाओं को आदिकालीन हिन्दी साहित्य की परिधि में स्थान दिया है :-

क्र0सं0	रचना	रचयिता	रचनाकाल

(क) जैन रास काव्य

1-	भरतेश्वर बाहुबली रास	शालिभद्र सूरी	1184 ई0
2-	बुद्धिरास	शालिभद्र सूरी	1200 ई0
3-	चन्दनबाला रास	आसगु	1200 ई0
4-	जीवदया रास	आसगु	1200 ई0
5-	स्थूलभद्र रास	जिनधर्म सूरी	1209 ई0
6-	रेवन्त गिरिरास	विजयसेन सूरी	1231 ई0
7-	आबूरास	पल्हण	1232 ई0
8-	नेमिनाथरास	सुमति गुणि	1238 ई0
9-	कछूली रास	प्रज्ञातिलक	1306 ई0
10-	गयसुकुमालरास	देल्हण	14वीं शती
11-	जिनपद्मसूरि पट्टाभिषेक रास	सारमूर्ति	1333 ई0

(ख) फागु काव्य

1-	जिनचंद सूरि फाग		1285 ई0 लगभग
2-	तिरिथुलि भद्द फागु	जिनपद्मसूरी	1340 ई0 "
3-	नेमिनाथ फागु	राजशेखर सूरी	1348 ई0 "
4-	बसन्त विलास फागु		1350 ई0 "

क्रमसं0	रचना	रचयिता	रचनाकाल
	(ग) चतुष्पदी काव्य		
1-	जिनदत्त चौपई	रल्हकवि	1297 ई0
2-	नेमिनाथ चौपई	विनयचन्द्रसूरी	1350 ई0
	(घ) महाराष्ट्रीय संत काव्य		
1-	चक्रधार के हिन्दी - पद		1194-1274 ई0
2-	ज्ञानेश्वर के हिन्दी- पद		1275-1296 ई0
3-	नामदेव के हिन्दी - पद		1270-1350 ई0
	(ङ) ऐतिहासिक रासो काव्य		
1-	पृथ्वीराज रासो	चन्दरवरदायी	1200 ई0 लगभग
2-	बीसलदेव रासो	नरपति नाल्ह	1215 ई0 "

गुप्त जी ने हिन्दी साहित्य के आदिकाल की बहुत सी रचनाओं को अलग कर दिया जिसे अन्य विद्वानों ने साहित्यिकता तथा भाषा के कारण अप्रामाणिक रचना होने पर भी स्थान दिया है । गुप्त जी द्वारा प्रस्तुत

लगभग समस्त रचनाएँ धर्माश्रय में लिखी गई, केवल पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो इसका अपवाद है। ये राज्याश्रय प्राप्त रचनाएँ हैं। इसके अतिरिक्त लोकाश्रय प्राप्त रचनाएँ भी लिखी गई पर उन्हें किसी प्रकार का संरक्षण प्राप्त नहीं हो सका और वे लुप्त हो गईं।

गुप्त जी की 1976 में एक अन्य रचना "आदिकाल की प्रामाणिक रचनाएँ" शीर्षक से प्रकाशित हुई इसमें गुप्त जी ने "रास" संज्ञक काव्य में दो और रचनाओं को स्थान दिया -- "पंच पाण्डव चरित रास" शालिभद्र सूरि द्वितीय §1353 ई0§ "गौतम स्वामी रास" उदयवन्त §1355ई0§ इसके अतिरिक्त "फागु" संज्ञक रचनाओं के स्थान पर "रासेतर काव्य" नाम दिया तथा एक और रचना "नेमिनाथ चउपई" विजयचन्द्रसूरि §1330 ई0 के लगभग§ सम्मिलित की।

उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त डा0 नगेन्द्र द्वारा सम्पादित "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में आदिकाल सम्बन्धी अध्याय के लेखक डा0 रामगोपाल शर्मा दिनेश ने निम्न लिखित रूप में विवेचन किया है --
सिद्ध साहित्य, जैन साहित्य, नाथ साहित्य, रासो साहित्य, तथा लौकिक साहित्य। डा0 दिनेश ने पूर्ववर्ती इतिहासकारों का पुनरावृत्ति की है जिसमें

परवर्ती तथा अस्तित्वहीन रचनाएँ भी हैं ।

इस प्रकार विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत हिन्दी साहित्य की आदिकालीन सामग्री का दृष्टावलोकन करने के उपरान्त हिन्दी की अनेक रचनाएँ सामने आती हैं । उपर्युक्त आदिकालीन साहित्य सामग्री का विवेचन विभिन्न विद्वानों द्वारा लगभग 10वीं से 15 वीं शताब्दी तक की समावधि में किया गया है । जिन प्रमुख साहित्येतिहासकारों नें आदिकालीन साहित्य सामग्री का विवरण प्रस्तुत किया है उनका समय निम्नवत् है ।

§1§ मिश्र बन्धुओं — 700 से 1343 विक्रम संवत्

§अ§ पूर्वारम्भिक काल

§ब§ उत्तरारम्भिक काल - 1344 से 1444 विक्रम संवत्

§2§ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

सं0 1050 से 1375 वीरगाथाकाल

§3§ रामकुमार वर्मा

750 से 1200 विक्रम §संधि काल§

1000 से 1335 विक्रम सम्वत् चारणकाल

§4§ गणपति चन्द्र गुप्त

1184 से 1350 ई0 आदिकाल

अत: आदिकाल की रचनाओं का अध्ययन करने के लिए हमें आदिकाल की समस्त साहित्य सामग्री को तो लेना ही है साथ ही उससे कुछ पूर्व तथा कुछ परवर्ती समय की रचनाओं का भी अध्ययन करना होगा जिससे हमारे शोध विषय "आदिकालीन काव्य रूपों का अध्ययन" स्पष्ट रूप से हो सकेगा । जैसे कि आदिकाल के अधिकांश काव्य रूपों का जन्म दसवीं शताब्दी से पूर्व संस्कृत, पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा में देखने को मिलता है । इसके अतिरिक्त कुछ नये काव्यरूपों का जन्म आदिकाल की पृष्ठभूमि पर हुआ जिसकी परम्परा तथा विकास की प्रक्रिया परवर्ती समय में देखने को मिलती है । अत: आदिकाल हिन्दी साहित्य के काव्यरूपों की वह स्थली है जिसने पूर्ववर्ती काव्यरूपों की परम्परा को अक्षुण्य बनाये रखा तथा उसके विकास की प्रक्रिया को महत्व दिया, साथ ही परवर्ती हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल, रीति काल तथा आधुनिक काल को अनेक नवीन काव्य रूप प्रदान किये जिसको प्रत्येक काल के कवियों ने अपनी रुचि के अनुसार अपनाया तथा काफी मात्रा में साहित्य सृजन किया । अत: अपने शोध विषय के अध्ययन के लिए हम 10वीं से 15वीं शताब्दी की महत्वपूर्ण प्रमाणिक रचनाओं को लेंगे ।

आदिकाल की 10वीं से 15वीं शताब्दी तक समस्त सामग्री

जो प्राप्त होती है उसमें भिन्न-भिन्न साहित्य प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं कुछ रचनाएँ धार्मिक आध्यात्मिक प्रवृत्ति से लिप्त है । किसी में प्रशस्ति मूलक चरित काव्य लिखने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है तो किसी में श्रृंगारिक एवम् रोमांचक काव्य । इसके अतिरिक्त कुछ स्फुट काव्य भी मिलता है । आदिकालीन समस्त साहित्य सामग्री का स्पष्ट वर्गीकरण अत्यन्त दुष्कर कार्य है । क्योंकि जैसे रासो काव्य जैन काव्य के धार्मिक काव्य के रूप में मिलता है, चरित काव्य के रूप में मिलता है उपदेशात्मक रास भी मिलते हैं श्रृंगार रस परक रास भी मिलते हैं प्रशस्ति मूलक वीररसात्मक काव्य भी मिलते हैं फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिए इसको प्रवृत्तियों के अनुसार इसका वर्गीकरण किया जा सकता है --

§1§ धार्मिक आध्यात्मिक काव्य

§1§ सिद्ध साहित्य

§2§ नाथ योगी साहित्य

§1§ मत्स्येन्द्र नाथ

§2§ जालन्धर नाथ

§3§ गोरखनाथ

§4§ भर्तृहरि

§5§ चौरंगी नाथ

(1) प्रबन्धात्मक काव्य

अ - <u>पुराण काव्य</u> - पुष्पदन्त महापुराण 10वीं शती अपभ्रंश, जसहर चरिउ

ब - <u>चरित काव्य</u>

(1) सिद्धसेन का विलासवती कहा

(2) धनपाल का भविस्यत्त कहा

(2) उपदेशात्मक काव्य —

(अ) सम्पूर्ण ग्रन्थ के रूप में —

(1) देवसेन — सावयधम्म दोहा

(2) जिनदत्त सूरि — उपदेश रसायण रास

(ब) स्फुट छन्द के रूप में —

हेमचन्द्र द्वारा ऐसे छन्दों का संग्रह

(3) रहस्यवादी काव्य —

(1) योगीन्द्र मुनि — क- परमात्म प्रकाश, ख- योगसार | 10वीं शताब्दी

(2) मुनि राम सिंह - दोहापाहुड़ 12वीं शताब्दी

(3) लक्ष्मीचन्द - दोहानुप्रेक्षा 11वीं शताब्दी

§4§ सूफी एवम् सन्त काव्य

§1§ सूफी काव्य

§अ§ मुल्ला दाउद - चन्दायन

§11§ सन्तकाव्य

§अ§ जयदेव 13वीं शताब्दी

§ब§ नामदेव 14वीं शताब्दी

§स§ त्रिलोचन 14वीं शताब्दी

§द§ सधना 14वीं शताब्दी

§य§ सन्तवेनी 14वीं शताब्दी

§र§ सन्त.लल्ला 14वीं शताब्दी

रामानन्द 14वीं शताब्दी

§5§ प्रशस्ति मूलक चरित काव्य

§1§ प्रशस्तिमूलक मुक्तक काव्य

§अ§ प्राकृत पैंगलम् 14वीं शताब्दी

§ब§ प्रबन्ध चिन्तामणि

§11§ प्रशस्ति मूलक प्रबन्ध काव्य

§अ§ भरतेश्वर बाहुबली रास शालिभद्रसूरि सं0 1241

§ब§ पृथ्वीराज रासो चन्द्रवर दाई §रचनाकाल अज्ञात§

§स§ हम्मीर रासो - शार्ङ्गधर §रचनाकाल अज्ञात§

§6§ श्रृंगारिका एवम् रोमांचक काव्य

§1§ भविसयत्त कहा – धनपाल, 10वीं शताब्दी

§2§ राउरवेल – रोडा, 11वीं शताब्दी

§3§ सन्देश रासक – अब्दुल रहमान, 11वीं, 12वीं, शताब्दी

§4§ मुंज रासो – मुंज 11 वीं शताब्दी ।

§5§ ढोला मारुरा दूहा – 12वीं, शताब्दी

§6§ जिनदत्त चोपाई – रल्हकवि, 1354 सम्वत

§7§ नेमिनाथ चउपइ विनय चन्द्र सूरि, 14वीं शताब्दी

§8§ सिरिथूलिभद्द फागु – जिन पद्म सूरि 14वीं, शताब्दी

§9§ बसन्त विलास फागु – 14वीं शताब्दी

§10§ विरह देसाउरी फागु – सं0 1405

§11§ नेमिनाथ फागु – राजशेखर सूरि,

§12§ बीसल देव रासो – नरपति नाल्ह 14वीं शताब्दी का उत्तर

§13§ बुद्धि रासो जल्हकवि, सम्वत् 1450

§14§ विद्यापति की पदावली

§7§ स्फुट काव्य

§1§ अमीर खुसरो

§2§ कुतुब शतक

अध्याय - 4

धार्मिक - आध्यात्मिक काव्य

इस युग में धार्मिक आध्यात्मिक काव्य कई रूपों में और काफी मात्रा में लिखा गया । इस साहित्य को भी निम्नलिखित उप शीर्षकों में रखा जा सकता है :-

(क) सिद्ध साहित्य

(ख) नाथ योगी काव्य

(ग) जैन काव्य

(घ) सूफी एवम् सन्त काव्य

§क§ सिद्ध साहित्य

आदिकालीन हिन्दी साहित्य में सिद्ध साहित्य का संबंध बज्रयानी सिद्धों के दोहा कोशों एवम् चर्यापदों से है । "सिद्ध साहित्य से हमारा तात्पर्य बज्रयानी परम्परा के उन सिद्धाचार्यों के साहित्य से है, जो अपभ्रंश, दोहों तथा चर्यापदों के रूप में उपलब्ध हैं और जिसमें बौद्ध तान्त्रिक सिद्धान्तों को मान्यता दी गई है । यद्यपि उन्हीं के समकालीन शैव - नाथ योगियों को भी सिद्ध कहा जाता है, किन्तु कतिपय कारणों से हिन्दी तथा अन्य कई प्रान्तीय भाषाओं में शैव योगियों के लिए "नाथ" तथा बौद्ध तान्त्रिकों के लिए "सिद्ध" शब्द प्रचलित हो गया है । उसी प्रसंग में सिद्ध "साहित्य" बौद्ध सिद्धाचार्यों के साहित्य का वाचक हो गया है"[1] दोहा कोशों की रचना अपभ्रंश में हुई है अत: उसे हिन्दी की रचनाओं में स्थान नहीं दिया जा सकता, चर्यापदों की भाषा तत्कालीन लोकभाषा है जिसमें लेशमात्र अपभ्रंश के प्रयोग अवशेष रूप में दृष्टव्य होते हैं जिसे प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य में सम्मिलित किया जा सकता है ।

---

[1] डा० धर्मवीर भारती — सिद्ध साहित्य पृ० 19

दसवीं शताब्दी से पूर्व ही "बौद्ध धर्म विकृत होकर वज्रयान सम्प्रदाय के रूप में देश के पूर्वी भागों में बहुत दिनों से चला आ रहा था। इन बौद्ध तान्त्रिकों के बीच वामाचार अपनी चरम सीमा को पहुँचा। ये बिहार से लेकर आसाम तक फैले थे और सिद्ध कहलाते थे। "चौरासी सिद्ध" इन्हीं में हुए जिसका परम्परागत स्मरण जनता को आज तक है।"[1] ये बौद्ध सिद्ध तन्त्र मन्त्र को अपनी साधना का वास्तविक आधार मानते थे। मंत्रों के द्वारा ही ये सिद्धियों को प्राप्त करते थे तथा उसका प्रचार भी मन्त्रों के माध्यम से ही करते थे, इतना ही नहीं यह अपने तन्त्रों-मन्त्रों के द्वारा अलौकिक चमत्कारों से जनता को भ्रमित तथा आतंकित किये हुए थे। इन्हीं मन्त्रों से प्राप्त सिद्धियों के कारण ये सिद्ध नाम से विभूषित हुए। "साधना में निष्णात, अलौकिक सिद्धियों से चमत्कारपूर्ण, अतिप्राकृतिक शक्तियों से युक्त व्यक्ति सिद्ध कहलाते थे।"[2]

डा० रामकुमार वर्मा ने भी अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में कहा है कि "मन्त्रों द्वारा सिद्धि प्राप्त करने

---

[1]आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास

[2]हिन्दी साहित्य कोश - पृ० 927

को युक्ति प्रचारित करने वाले साधक सिद्ध नाम से प्रसिद्ध हुए ।"[1]

भारत में ईसा की पहली शताब्दी में बौद्ध धर्म महायान और हीनयान दो सम्प्रदायों में विभक्त हुआ । महायान में सिद्धान्त परम्परा लेशमात्र थी । परन्तु उसमें लोक भावना का मिलन इतना अधिक हो गया था कि निर्वाण के लिए सन्यास और विरक्ति के पर्याय लोक-कल्याण और आचार की पवित्रता प्रमुख हो गई थी । इस प्रकार वह वर्ग भेद की मान्यताओं से ऊपर उठकर सार्वजनिक धर्म बन गया था । हीनयान प्राचीन बौद्धधर्म की मुख्यधारा था, जो गृहस्थों के लिए सम्भव नहीं था हीनयान में ज्ञानार्जन, पाण्डित्य और व्रतादि की कठोर मर्यादा बनी रही जिसके परिणामस्वरूप बौद्धधर्म का चिन्तनपक्ष हीनयान में समाहित रहा और व्यावहारिक पक्ष महायान में । बौद्ध धर्म को यद्यपि आदि से अन्त तक अनेक संघर्षों को झेलना पड़ा जिसमें कुछ व्यवधान उस समय आया जबकि गुप्त-वंश के "परम भागवत" नरेशों द्वारा बौद्ध धर्म की गति में अवरोधन उत्पन्न हुआ, इतना ही नहीं, और उस समय तो स्थिति इतनी भयामय हो गई जब ईसा की आठवीं शताब्दी में कुमारिल और शंकराचार्य द्वारा वैदिक धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा स्थापित की गई । उस समय बौद्ध धर्म के पैर भारत से उखड़ते प्रतीत होने लगे लोक रुचि जिस पर बौद्ध धर्म-सम्बन्धी प्रभाव अभी भी छाया हुआ

था, उस पर वैदिक धर्म के सिद्धान्तों ने अपना प्रभाव डालना प्रारम्भ कर दिया था जिसके परिणामस्वरूप महायान का व्यवहारिक पक्ष शंकर के ज्ञान-काण्ड से सम्बद्ध हो गया । शंकराचार्य को दिग्विजय के कारण बौद्ध धर्म को जो लोकमान्य स्वीकृति प्राप्त थी वह भी समाप्ति की ओर अग्रसर होने लगी । परिणामस्वरूप धीरे-धीरे वैदिक धर्म अपना प्रभाव जमाता गया और बौद्धधर्म भारत भूमि से समाप्त होने लगा तथा उसने भारत भूमि से हटकर तिब्बत, नेपाल, बंगाल की शरण ली और जो बौद्ध धर्म के अनुयायी भारत में रह गये उन्हें वैदिक धर्म के सिद्धान्तों के साथ ऐसा समझौता करना पड़ा जिसमे वे जनरुचि को अपनी ओर आकृष्ट कर सकें ।

इस प्रकार 8 वीं शताब्दी मे ही जनता की अभिरुचि में बौद्ध धर्म सम्बन्धी संस्कार विनष्ट हो गये तथा बौद्ध धर्म के अनुयायी तिब्बत नेपाल और बंगाल मे जाकर वहीं साहित्य सृजन करने लगे थे । यह उस समय हुआ जब अपभ्रंश में प्रारम्भिक हिन्दी के रूप प्रस्फुटित होने लगे थे । यही कारण है कि हमें 8 वीं शताब्दी के उपरान्त जो साहित्य प्राप्त होता है उसमें तिब्बती, बंगला मैथिली, भोजपुरी तथा उड़िया भाषा का पूर्ण रूप भी परिलक्षित होता है ।

सन् 1323 बंगाब्द अर्थात् सन् 1916 ई0 में महामहोपाध्याय पं0 हर प्रसाद शास्त्री ने "बौद्ध गान ओ दोहा" नाम से कुछ अपभ्रंश की पुस्तकें प्रकाशित कराईं इस पुस्तकों की भाषा को उन्होंने प्राचीन बंगला कहा। यह पुस्तक बंगाक्षरों में छपी थी, जिस कारण हिन्दी विद्वानों का ध्यान सहज रूप से उस समय इस ओर आकृष्ट नहीं हो सका। यद्यपि यह पुस्तक नाना दृष्टियों से अत्यधिक महत्वपूर्ण थी। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस पुस्तक का अवलोकन करने के उपरान्त कहा — "इस पुस्तक के दोहों की भाषा में स्टैण्डर्ड अपभ्रंश के रूप ही मिलते हैं, पर पदों में पूर्वी प्रदेश की भाषा के चिन्ह भी मिल जाते हैं। इन चिन्हों को देखकर कभी इस भाषा को बंगला का पूर्व रूप कहा गया है तो कभी मैथिली और मगही का और कभी भोजपुरी का। कुछ लोगों ने इसमें उड़िया भाषा का पूर्व रूप भी देखा। निःसन्देह हिन्दी साहित्य के परवर्ती काव्य रूपों के अध्ययन की दृष्टि से यह पुस्तक अत्यन्त उपादेय है।"[1] इतना ही नहीं "ध्यान देने की बात यह है कि इन पुस्तकों में जिन काव्य रूपों का परिचय मिलता है वह बंगला में अब लुप्त हो चुके हैं परन्तु हिन्दी में अभी तक जी रहे हैं। दोहों की प्रथा बंगाल

---

[1] डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी – पृ0 7 हिन्दी साहित्य का आदिकाल

के साहित्य में कभी रही ही नहीं"[1] अर्थात् बंगला भाषा में दोहा छन्द सटीक नहीं बैठता । जिस कारण दोहा इस भाषा के अनुकूल नहीं बैठता है ।

इन पुस्तकों में काव्य रूपों का जो प्रारूप हमें मिलता है वह बंगला में इसलिए लुप्त हो गये हैं कि वह बंगला भाषा के वास्तविक प्रारूप नहीं थे/वह तो 8 वीं शताब्दी में हिन्दी के विकास क्रम की श्रृंखला से हटकर एक कड़ी बंगाल में जा कर बंगला भाषा से जुड़ गई थी । इसी कारण हमें वह काव्य रूप बंगला में नहीं वरन् हिन्दी साहित्य में आज भी दिखाई देते हैं । सन् 1936 ई0 में महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन ने अपनी "हिन्दी काव्य धारा" में इन सिद्धों को प्रकाशित करके हिन्दी के विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया । इस समय तक राहुल जी ने अपनी तिब्बत यात्रा में इस श्रेणी के कुछ साहित्य का भी पता किया था । राहुल जी ने बताया कि "इन पदों की भाषा बंगला नहीं, हिन्दी कहना चाहिए ।" राहुल जी के इस मत का विभिन्न विद्वानों ने काफी विरोध किया ।

---

[1] डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी – पृ0 7 हिन्दी साहित्य का आदिकाल

इन सिद्धों की रचनाओं में हमें जिस प्रकार की पद रचना मिलती है, वह आगे चलकर कबीर आदि सन्तों की रचनाओं में अधिक प्रयुक्त हुई है । इन सिद्धों में सबसे पुराने सरह या सरहपा है ((इनका सरोजवज्र नाम भी है)) राहुल जी के अनुसार – इनका समय सं0 817 निश्चित किया गया है । डा0 विनयतोष भट्टाचार्य ने इनका समय सं0 690 निश्चित किया है|राहुल जी ने सिद्धों की भाषा को लोक भाषा के अधिक निकट देखकर उसे हिन्दी का प्राचीन स्वरूप माना है । उनके इसी मत के कारण काशी प्रसाद जायसवाल ने सिद्ध सरहपा को हिन्दी का प्रथम कवि मान लिया है । सिद्धों का विवरण राहुल जी ने तिब्बत के "स – स्क्य – बिहार" के पाँच प्रधान गुरुओं की ग्रन्थावली स – सक्य – ब्कं वुम्" के सहारे दिया है जो चीन की सीमा के पास तस्गी मठ में छपी है उनके अनुसार सरहपा आदिम सिद्ध है ।

सिद्धों की संख्या 84 मानी गई है किन्तु इन सिद्धों का सुनिश्चित प्रामाणिक प्रमाण अभी तक नहीं मिला है । सिद्धों से सम्बन्धी जो भी सूचियाँ प्राप्त हुई हैं, उनमें काफी पार्थक्य है|महामहोपाध्याय

हरप्रसाद शास्त्री द्वारा प्रस्तुत वर्ण "रत्नाकर"[1] को सूची तिब्बत के स-सक्य विहार के पाँच प्रधान गुरुओं (1091 - 1294) की ग्रन्थावली "स - सक्य - ब्कं - बुम्"[2] के आधार पर राहुल सांस्कृत्यायन द्वारा बनाई गई सूची, हठयोग प्रदीपिका[3] की सूची और हजारी प्रसाद द्विवेदी[4] द्वारा तैयार की गयी सूचियाँ मुख्य हैं । "चौरासी" की संख्या सिद्धों के विषय में विशेष महत्व रखती है । इसी प्रकार प्रत्येक सूचीकार ने अपनी सूची में किसी न किसी प्रकार यह संख्या पूरी करने की पूरी-पूरी कोशिश की है । "चौरासी" शब्द का अर्थ विभिन्न रूपों में लिया गया है कुछ लोग इसका सम्बन्ध 84 आसनों से जोड़ते हैं । कुछ 84 लाख योनियों से, कुछ ने 12 राशियों और 7 ग्रहों का गुणनफल माना है । किसी ने इसे रहस्य संख्या कहकर सम्बोधित किया है । इस प्रकार इस चौरासी शब्द का

---

[1]बौद्धगान ओ दोहा- पदकर्तादेर परिचय पृ0 35

[2]पुरातत्व निबंधावली, पृ0 144

[3]तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, पृ0 21

[4]नाथ सम्प्रदाय पृ0 33 से 36

प्रतीकात्मक और तान्त्रिक महत्व भी है । अतः "चौरासी" संख्या को पूर्ण करने में कुछ काल्पनिक तथा अनैतिहासिक सिद्धों के नाम जुड़ गये हैं इसलिए ऐतिहासिक और महत्वपूर्ण सिद्ध कौन हैं ? यह खोजना दुष्कर कार्य है । परन्तु सरहपा, लुइपा, सबरपा, कण्हपा, तन्तिपा, तथा भुसुकपा आदि सिद्ध ऐसे हैं जिनका नाम लगभग सभी सूचियों में मिलता है जो उनके विशेष महत्व को दर्शाता है । 8वीं - 9वीं शताब्दी के सिद्धों में सरहपा, शबरपा, और लुइपा, दसवीं शताब्दी के मीनपा और कण्हपा तथा ग्यारहवीं - बारहवीं शताब्दी के तिलोपा नारोपा मैत्रीपा के नाम उल्लेखनीय है । यद्यपि इनके जीवनवृत, प्रामाणिकता का कोई निर्विवाद पक्ष सामने नहीं आया है । 12वीं शताब्दी के पश्चात् नाथ योगियों का प्रभाव बढ़ने लगा और सिद्धों का महत्व कम होने लगा ।

उपर्युक्त सिद्धों के सन्दर्भ में "चौरासी" की संख्या से हटकर डा0 रामकुमार वर्मा ने अपनी पुस्तक "हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास" में 14 सिद्धों का उल्लेख द्विवेदी जी की सूची के आधार पर किया है, जिन सिद्धों के अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन काव्य द्वारा किया उनका विवरण इस प्रकार है —

(1)	सरहपा	(सं0 817)	सिद्ध	6
(2)	शबरपा	(सं0 837)	"	5
(3)	भुसुकुपा	(सं0 857)	"	41
(4)	लुइपा	(सं0 887)	"	1
(5)	विरूपा	(सं0 887)	"	3
(6)	डोम्भिपा	(सं0 897)	"	4
(7)	दारिकपा	(सं0 897)	"	77
(8)	गुंडरीपा	(सं0 897)	"	55
(9)	कुक्कुरिपा	(सं0 897)	"	34
(10)	कमरिपा	(सं0 897)	"	45
(11)	कण्हपा	(सं0 897)	"	17
(12)	गोरक्षपा	(सं0 902)	"	9
(13)	तिलोपा	(सं0 1007)	"	22
(14)	शान्तिपा	(सं0 1057)	"	42

इन सभी सिद्धों के काव्य में जन-समुदाय की भाषा का सहारा लेकर अपभ्रंश की उस अवस्था का वर्णन हुआ है जिसमें आधुनिक भाषा

के चिन्ह विकसित होने लगे थे । अत: इन सिद्धों की रचना अपभ्रंश भाषा में हुई है । जिसे हिन्दी साहित्य में स्वतन्त्र रूप से स्थान नहीं दिया जा सकता है । शुक्ल जी तथा अन्य विद्वान भी सिद्धों के अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी में स्थान नहीं देते हैं । किन्तु राहुल जी तथा डा0 रामकुमार वर्मा सिद्धों के अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी के बहुत निकट मानते हैं । डा0 नगेन्द्र ने अपनी हिन्दी साहित्य के इतिहास में राहुल सांस्कृत्यायन जी के हो 84 सिद्धों में से सरहपा, शबरपा, लुइपा, डोम्बिपा, कण्डपा, एवम् कुक्कुरिपा इन सात सिद्धों को हिन्दी के मुख्य सिद्ध कवि कहा । ये सभी सिद्ध कवि 8वीं-9वीं शताब्दी के हैं अत: इन्हें भी आदिकालीन हिन्दी साहित्य में स्थान नहीं दिया जा सकता है । क्योंकि ये सिद्ध हमारे आलोच्यकाल के पूर्ववर्ती हैं ।

सिद्धों के मूल ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुए हैं केवल उनके नाममात्र से ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं वे तिब्बती भाषा के हैं । इन कवियों को प्रकाश में लाने का श्रेय पं0 राहुल सांस्कृत्यायन को है । जिन्होंने स्वीकार किया है कि इनकी रचनायें मूल रूप से अनुपलब्ध हैं, उन्होंने जो रचनायें सिद्ध कवियों के नाम से प्रकाशित करवाई हैं वे या तो तिब्बती भाषा में उपलब्ध अनुवादों

पर या फिर 18 वीं - 19 वीं शती की पांडुलिपियों पर आधारित है ।
प्रारम्भ में सांस्कृत्यायन जी ने "हिन्दी काव्य धारा" में इन्हें हिन्दी
साहित्य के रूप में प्रस्तुत किया था, आगे चलकर "दोहा कोश" की भूमिका
में उन्होंने अपने मत को संशोधित करते हुए इसके काव्य को मूलत: अपभ्रंश
में ही रचित माना है । अत: इसे हिन्दी साहित्य में स्थान देना उचित
न होगा ।"

डा0 गणपति चन्द्र गुप्त ने सिद्ध साहित्य को अप्रामाणिक
सिद्ध करते हुए उसे हिन्दी साहित्य में स्थान देना अस्वीकार किया है ।
वास्तव में सिद्ध साहित्य की भाषा अपभ्रंश है तथा उसका समय भी 8वीं -
9वीं शताब्दी है, जिसकी मूल प्रतियों का अभाव है और जो रचनायें प्रकाश
में आईं वे तिब्बती भाषा में उपलब्ध अनुवादों पर आधारित है या फिर
पांडुलिपियों के आधार पर प्रकाशित हुईं जिसका समय 18वीं - 19वीं
शती है । इस विवादास्पद स्थिति के वर्तमान रहते हुए हम सिद्ध साहित्य
को किन ठोस प्रमाणों के आधार पर हिन्दी साहित्य में स्थान दे सकते
हैं ? सिद्ध साहित्य को हिन्दी में स्थान देना हिन्दी की परम्परा को
विश्रृंखलित करना है ।

अतः सिद्ध साहित्य को आज तक प्राप्त स्थितियों, परिस्थितियों, रूपों तथा विकास की दृष्टि से हिन्दी साहित्य में स्थान नहीं दिया जा सकता है ।

सिद्धों के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक और निर्विवाद पक्ष नहीं मिलता है । इनके जन्म स्थान, जन्म-तिथि, जाति, साधना क्षेत्र आदि सभी विद्वानों द्वारा विवादास्पद हैं फिर भी कुछ छुट-पुट अंशों में इनके विवरण अवश्य मिल जाते हैं उसी आधार पर उनका कुछ संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है —

§1§ सरहपा §सन् 740 – 769 में वर्तमान§

सरहपा को सरोरूह, वज्र, सरोज वज्र, पद्म, पद्मवज्र तथा राहुलभद्र आदि नामों से भी जाना जाता है । तारानाथ ने "राहुलभद्र" नाम के कारण इन्हें शूद्र माना है, जबकि अन्य लोग इन्हें ब्राह्मण मानते हैं । एक किंवदन्ती के अनुसार इनका जन्म राज्ञी नामक नगरी में ब्राह्मण पिता और डाकिनी माता के योग से हुआ था । राहुल सांस्कृत्यायन ने इन्हें आदि सिद्ध स्वीकारा है और इन्हें श्रीभद्र के शिष्य बुद्धज्ञान का सहपाठी

तथा महाराज धर्मपाल § 799 - 809 § का समकालीन बताया है ।
इन्होंने संस्कृत और लोकभाषा या पुरानी हिन्दी में 21 ग्रन्थों की रचना
की थी । इनके सरहपा नाम के सम्बन्ध में कहा जाता है कि ये मगध
देशवासी एक ब्राह्मण भिक्षु और नालंदा के प्रसिद्ध विद्वान थे, लेकिन वज्रयानी
साधना के लिए इन्हें एक रमणी की आवश्यकता पड़ी तो किसी निम्न वर्ण
की कन्या को लेकर विचरने लगे । वह युवती वाण बनाने का व्यवसाय करती
थी । वहीं व्यवसाय इन्होंने भी अपनाया, इसीलिए सरहपाद §शरपाद§
कहलाए इन्होंने सहज - संयक, गुरू-सेवा सहजमार्ग तथा महा सुख-प्राप्ति
सम्बन्धी विचारों को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया इसका प्रमाण
इनकी रचनाएं हैं । गुरू महत्व पर इन्होंने बहुत बल दिया है । उनका कहना
है जिसने गुरु वचनों का अमृतपान न किया वे बहुशास्त्रार्थ-मरूस्थली में तृषा
से मर रहे हैं —

गुरू उवएसें अमिअ रसु धावहिण पिअहु जोहि ।
कहु सत्थत्थ मरूत्थलिहि तिसिए मरिअहु तेहि ।।

सरहपा का सहजमार्ग इष्ट था । उनकी यह धारणा थी कि जो सहजमार्ग
का त्याग करके निर्वाण की भावना करता है वह किसी परमार्थ को नहीं

साध सकता । उनके अनुसार जो योग से संतुष्ट नहीं कर पाता उसे ध्यान में प्रविष्ट होकर मोक्ष क्या प्राप्त होगा —

सहज छड्डि जे निव्वाण भाविउ ।
णउ परमत्थ एक्क ते साहिउ ।
जोस्सु जो ण होई सन्तुट्ठो ।
मोक्ख कि नब् भइ झाण पविट्ठो ।

सरहपा ने आडम्बर और पाखण्ड का खण्डन करते हुए उसके प्रति विद्रोहात्मक भावनाएँ व्यक्त की हैं । वे तीव्र आलोचना करते हुए कहते हैं,"यदि नग्न रहने से मुक्ति हो जाय तो कुत्ते और सियार को क्यों नहीं होती ? लोमलुंचन से यदि सिद्धि मिलती है तो युवती-नितम्ब से क्यों नहीं मिलती" —

जइ णग्गा विअ होइ मुक्ति ता सुणह सिआलह ।
लोम पाडणे अत्थि सिद्ध तो जुबइ णिअम्बह ।
पिच्छी गहणे दिट्ठ मोक्ख ता मोरह चमरह ।
उच्छें भोअणे होइ जाण ता करिह तुरंगह ।
सरह भणइ खवणाण मोक्ख महु किम्पि ण भासइ ।
तत्र रहिअ काआ ण ताव पर केवल साहइ ।

सरहपाद के प्रमुख ग्रन्थ "दोहाकोशगीति", "दोहाकोशचर्यागीति", "दोहाकोश", उपदेशगीति आदि प्रसिद्ध हैं ।

§2§ <u>शबरपा § सन् 780 में वर्तमान §</u>

शबरपा नाम से कई सिद्धों का परिचय मिलता है ये सरहपा के शिष्य थे, ये सरह की परम्परा में तीसरे थे । इन्हें पूर्वी भारत की किसी नर्तक जाति से उत्पन्न बताया गया है । कहा जाता है कि नागार्जुन इनके गुरु थे जिनसे इन्होंने दीक्षा ली थी । ये वज्रयोगिनी साधना के भी प्रवर्तक माने जाते हैं इन्हें शबरीश्वर नाम से भी जाना जाता है शबरों की वेशभूषा में रहने से इन्हें शबरपाद कहा जाता था । इनके द्वारा लिखित 16 ग्रन्थ बताये जाते हैं जिसमें छः अपभ्रंश या लोक भाषा के थे । इनके ग्रन्थों में "महामुद्रावज्रगीत", चित्तगुह्यगंभीरार्थगीति", शून्यतादृष्टि तथा "वज्रयोगिनीसाधन" आदि पुस्तकों का विवरण मिलता है । महासुख सम्बन्धी विचारों एवम् रहस्योन्मुखता की इनके पद्यों में अधिकता है —

छाड़ छाड़ माआ मोहा विषम दुन्दोली ।
महासुखे विलसन्ति शबरी लइया सुण मेहेली ।

§3§ <u>लुइपा § सन् 830 §</u>

राहुल सांस्कृत्यायन ने इन्हें भागलपुर का निवासी तथा राजा

धर्मपाल का दरबारी कायस्थ बताया है। हरप्रसाद शास्त्री तथा डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने इन्हें बंगदेश का वासी कहा है । कहा जाता है कि शबरीपा से दीक्षा लेकर ये साधना मार्ग में प्रवृत्त हुए और उच्च स्तर पर ख्याति प्राप्त की, इनसे प्रभावित होकर उड़ीसा के राजा तथा मंत्री ने इनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया था और इनसे दीक्षा लेकर क्रमश: दारिकपा एवं डेंगीपा नाम अपना लिया था । इनकी साधना का अत्यधिक प्रभाव था इसीलिए "चर्याचर्यविनिश्चय" नामक ग्रन्थ में इन्हें सहज धर्म का प्रथम आचार्य माना गया है । प्रस्तुत है इनकी रचना का निम्न उदाहरण —

भाव न होइ अभाव न जाई ।
अइस संबोहे को पतिआई ।
लुई भनइ वट दुलक्ख विनाना ।
तिअ धाए विलसइ उह लागे ना ।

§4§ दारिकपा

दारिकपा को उड़ीसा का राजा बताया गया है । इनकी गणना लुइपा की शिष्य – परम्परा में की जाती है । इन्होंने अपने मंत्री

सहित लुइपा का शिष्यत्व ग्रहण किया था । कांचीपुर में दारिका [वेश्या] की सेवा करने के कारण इनका नाम दारिकपा पड़ा, घंटापा इनके प्रधान शिष्य थे । डा० रामकुमार वर्मा ने इनका समय सं० 897 बताया है । इनके लिखे गये 10 ग्रन्थ बताये जाते हैं ।

[5] डोम्बिपा

ये मगध के राजा थे । दारिकपा की शिष्या सहजयोगिनी चिन्ता के शिष्य थे, विरूपा से उपदेश पाकर ये महामुद्रा की साधना करने लगे थे । डा० रामकुमार वर्मा ने सं० 897 इनका समय माना है । इन्होंने कौल-पद्धति का विशेष रूप से प्रचार किया । "सहज सिद्धि" नामक इनका ग्रंथ ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट में सुरक्षित है ।

[6] कुक्कुरिपा

ये कपिल वस्तु के ब्राह्मण थे । राहुल जी का अनुमान है कि इनका जन्म कपिलवस्तु में हुआ था । इनको मीनपा का गुरु तथा चर्पटी का शिष्य बताया गया है । इनका समय 10वीं शती था । इनके द्वारा लिखे 16 ग्रन्थ बताये जाते हैं ।

§7§ मीनपा

तारानाथ ने मीनपा को मत्स्येन्द्र का पिता तथा गुरु बताया है । कामरूप §आसाम§ में एक मछुए के घर में इनका जन्म हुआ था कहा जाता है गर्भकाल में ही शिव-पार्वती में हो रहे तन्त्र-संवाद को सीख लिया था । इन पर शैव-साधना का अधिक प्रभाव था । विद्वानों का अनुमान है कि इन्हीं के समय से बौद्ध-परम्पराओं का मिलना प्रारम्भ हो गया था । इनका समय दसवीं शताब्दी के लगभग है ।

§8§ कण्हपा

चर्यापदों में कण्हपा के कई नाम मिलते हैं । कान्हूपा, कान्ह कान्हि, कान्हिल, कृष्णापाद, कृष्णापदाचार्य एवं कृष्णाचार्यचरण इनकी रचनाओं पर विचार कर विद्वानों ने कम से कम दो सिद्धों का अस्तित्व स्वीकार किया है डा० सेन का कथन कि प्रथम को जालन्धरपा का शिष्य मानकर दूसरों को उसका परवर्ती ठहरा सकते हैं , ये दूसरे कण्हपा सिद्ध इन्द्रभूति के शिष्य जान पड़ते हैं, 84 सिद्धों में कण्हपा की रचनाएँ सबसे अधिक मात्रा में पाई जाती हैं । ये प्रसिद्ध कवि तथा विद्वान थे । इनका

जन्म-स्थान उड़ीसा बताया जाता है । इन पर शैव-साधना का अधिक प्रभाव था । द्विवेदी जी ने इन्हें जाति का जुलाहा बताया है । इनके द्वारा लिखित ग्रन्थ छ:दर्शन पर और 74 तन्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थ मिलते हैं ।

§9§ वीणापा

ये गौड़ देश के क्षत्रिय थे, और वीणा बजाकर पद गाया करते हैं कुछ लोग इन्हें विरूपा का शिष्य बताते हैं और अन्य भद्रपा का शिष्य सिद्ध कहते हैं । इनके तीन ग्रन्थ मिलते हैं ।

§10§ भुसुकपा

भुसुकपा का दूसरा नाम शान्तिदेव था । ये जाति के क्षत्रिय थे। राहुल जी इन्हें मगध का निवासी बताते हैं । तारानाथ इन्हें सौराष्ट्र या महाराष्ट्र का निवासी मानते हैं, शास्त्री जी बंगाल का । कहा जाता है उनके विचित्र रहन-सहन के कारण उनका नाम भुसुक पड़ गया था । इसीलिए इन्होंने कई पदों में अपने को भुसुक राउत कहा है ।

§11§ शान्तिपा

तारानाथ के अनुसार ये नारोपा के शिष्य थे और मगध के ब्राह्मण थे, अनेक वर्षों की साधना के बाद ये विक्रमशिला पहुँचे इन्होंने प्राचीन धर्मग्रन्थों का अच्छा अध्ययन-मनन किया था । ये विक्रमशिला के आचार्य पद पर भी प्रतिष्ठित थे । अपने समय के श्रेष्ठ विद्वानों में इनकी गणना होती थी । इनके दर्शन पर नौ से अधिक ग्रन्थ हैं, छन्दशास्त्र पर "छन्दोरत्नाकर" नामक ग्रन्थ है तन्त्र पर 23 ग्रन्थ मिलते हैं । इसमें सुख-दु:ख द्वयपरि त्यागबुद्धि § त0 48/37§ अपभ्रंश में था । चर्यागीत में इनके गीत संकलित हैं ।

(ख) नाथ साहित्य

सिद्ध साहित्य के समान नाथ साहित्य हिन्दी साहित्येतिहास से बहिष्कृत तो न हो सका, वरन् हिन्दी साहित्य के आदिकाल की सीमावधि से काफी कुछ बहिष्कृत अवश्य हो गया, जिसके प्रमुख कारण रचनाओं की प्रामाणिकता तथा भाषा के परिवर्तित एवम् विस्तृत रूप थे। नाथ-सम्प्रदाय का साहित्य हमें आदिकाल की उत्तरावस्था में प्रमुख रूप में मिलता है। इस तथ्य को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी[1] तथा बड़थ्वाल[2] ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि "इसकी आधारभूत पाण्डुलिपियाँ अठारहवीं शती से पहले की हैं, तथा इनकी भाषा का रूप भी अर्वाचीन है।"

नाथ शब्द दो अक्षरों "ना" और "थ" से मिलकर बना है "ना" का अर्थ अनादि रूप और "थ" का अर्थ है (भुवनत्रय का) स्थापित होना। इस प्रकार नाथ मत का स्पष्टार्थ वह अनादि धर्म है जो भुवनत्रय

---

[1]सं० हजारी प्रसाद द्विवेदी – नाथ सिद्धों की बानियाँ

[2]सं० – बड़थ्वाल – गोरखबानी

की स्थिति कहा जाता है श्री गोरक्ष को इसी कारण नाथ कहा जाता है ।[1]

नाकारोऽनादि रूपं थकार: स्थाप्यते सदा ।
भुवनत्रयमेवैक: श्री गोरक्ष नमोऽस्तुते ।।

— राजगुह्य

साम्प्रदायिक ग्रन्थों में "नाथ" शब्द की व्युत्पत्ति है । "ना" का अर्थ है नाथ ब्रह्म, जो मोक्ष दान में दक्ष है, "थ" का अर्थ है अज्ञान के सामर्थ्य को स्थगित करने वाला, अर्थात् नाथ के माध्यम से इस नाथ ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है इसीलिए नाथ शब्द का व्यवहार किया जाता है —

श्री मोक्षदानदक्षत्वात् नाथ ब्रह्मानुबोधनात् ।
स्थापितज्ञान विभवात् श्री इति गीमते ।।

— शान्ति संगम तंत्र

पालि साहित्य में भी "नाथ" शब्द का प्रयोग तथागत और ज्ञान प्राप्त भिक्षु दो अर्थों में किया गया है ।

नाथों की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में तीन सिद्धान्त प्रमुख हैं —

---

[1]हिन्दी साहित्य कोश - भाग-1, पृ0 425

1. नाथ सम्प्रदाय सिद्धों का ही परवर्ती स्वरूप है ।

2. शैव सम्प्रदाय की ही एक शाखा है ।

3. तन्त्रों से यौगिक सम्प्रदाय का विकास हुआ है ।

बौद्ध धर्म की महायान शाखा से सिद्धों का विकास हुआ, उसी की विकसित होती हुई परम्परा से नाथों का अभ्युदय माना जा सकता है । जिसके सम्बन्ध में पं0 रामचन्द्र शुक्ल, डा0 राम कुमार वर्मा, पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल तथा सुमन राजे आदि प्रमुख विद्वानों का मत एक है । "गोरखनाथ के नाथ पन्थ का मूल स्रोत यही बज्रयान शाखा है"[1] मन्त्रयान से बज्रयान, बज्रयान से सहजयान और सहजयान से नाथ सम्प्रदाय की विकासोन्मुख परम्परा समझनी चाहिये ।"[2] विचारों में यद्यपि अब नाथ पंथ अनीश्वरवाद को छोड़कर ईश्वरवादी हो गया है, तथापि अभी इसकी वाणियों में छानबीन करने पर निर्वाण, शून्य और बज्रयान का बीज मिलेगा ।"[3] डा0 बड़थ्वाल ने एक स्थान पर लिखा है कि - "भगवान

---

[1]हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 16

[2]हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - डा0 रामकुमार वर्मा पृ0 143

[3]दोहाकोश पृ0 46 राहुल सांस्कृत्यायन का कथन ।

के नाथ रूप में भावना नाथपंथ की विशेषता है, किन्तु उनका आरम्भ बौद्ध तन्त्रों में ही हो गया था, आगे चलकर नाथ सम्प्रदाय बज्रयान से पृथक हो गया ।"[1]

महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री ने लिखा है कि "गोरखनाथ का बौद्ध (बज्रयानी) नाम रमण बज्र था ।"[2] इसके अतिरिक्त पुराने ग्रन्थ में प्राप्त सिद्धों नाथों की सूचियाँ भी यह स्पष्ट करती हैं कि नाथ मत के लिए सिद्धमत का प्रयोग हुआ है, कुछ सिद्धों के नाम नाथ सूची में मिलते हैं तथा कुछ नाथों के नामों का उल्लेख सिद्धों की सूची में है । साथ ही सिद्ध मत तथा नाथमत की परम्पराएँ भी एक दूसरे को जोड़ती हैं । "गोरक्षपा (गोरक्षपा) भी गिन लिए गए हैं, पर यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपना मार्ग अलग कर लिया ।"[3]

अतः सिद्धों की सहज भावना को ही नाथ सम्प्रदाय में विशिष्ट रूप में उद्घोषित किया गया है, उन्होंने भारतीय धर्म साधना

---

[1]डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, योग - प्रवाह, पृ० 218

[2]डा० सुमन राजे - साहित्येतिहास आदिकाल, पृ० 197

[3]आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० 16, 17

में उथल-पुथल के युग में सहज स्वाभाविक जीवन-यापन पर बल दिया गोरखनाथ जी ने इसी भावना को आत्मसात् किया और इसे व्यापक रूप प्रदान किया । "इस प्रकार नाथ सम्प्रदाय को सिद्ध सम्प्रदाय का विकसित और शक्तिशाली रूप ही समझना चाहिये । सिद्धों की विचार-धारा और उनके रूपकों को लेकर ही नाथ वर्ग ने उनमें नवीन विचारों की प्रतिष्ठा की और उसकी व्यंजना में अनेक तत्वों का सम्मिश्रण किया ।"[1]

वर्मा जी का उपरोक्त कथन किसी सीमा तक ठीक ठहर सकता है, जबकि उससे सम्बन्धित सामग्री प्रामाणिक तथा स्पष्ट मान्यताओं पर आधारित हो । नाथ सम्प्रदाय सिद्धों का ही परवर्ती रूप है यह मान्यता आज सही नहीं मानी जाती है, क्योंकि इसको मानने का आधार तिब्बती परम्पराएँ हैं, जो इस नाथ और सिद्धों का सम्बन्ध स्थापित करती है वे बहुत ही बदल चुकी हैं तथा उसके अस्पष्ट रूप प्राप्त होते हैं ।"[2]

नाथ सम्प्रदाय की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में दूसरा प्रमुख सिद्धान्त "नाथपंथ वास्तव में शैवमत ही है" हिन्दी साहित्य कोश में

---

[1]डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी - नाथ सम्प्रदाय, पृ0 97

[2]डा0 रामकुमार वर्मा - हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ0 143

"नाथ" शब्द के अभिप्राय के विषय में लिखा है – "अथर्ववेद" और तैत्तिरीय ब्राह्मण में नाथ शब्द का प्रयोग "रक्षक" या "शरणदाता" के अर्थ में मिलता है। महाभारत में "स्वामी" या "पति" के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। "बोधिचर्यावतार" में बुद्ध के लिए इस शब्द का व्यवहार हुआ है। जैनों और वैष्णवों में भी इस शब्द का प्रयोग सबसे बड़े देवता के अर्थ में हुआ। किन्तु परवर्ती काल में योगपरक पाशुपत शैवमत का विकास नाथ सम्प्रदाय के रूप में हुआ और "नाथ" शब्द "शिव" के लिए प्रचलित हो गया है।"[1]

नाथ सम्प्रदाय शैवमत का ही प्रमुख अंग है। "हठयोग प्रदीपिका" की टीका में ब्रह्मानन्द ने लिखा है कि — सर्व नाथों में आदिनाथ प्रथम है जो स्वयं शिव है, ऐसा नाथ-सम्प्रदाय वालों का विश्वास है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ब्रह्मानन्द इस सम्प्रदाय को "नाथ सम्प्रदाय" नाम से ही जानते थे।"[2]

---

[1] हिन्दी साहित्य कोश भाग-1, पृ0 425

[2] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी -"नाथ सम्प्रदाय" पृ0 1

आदिनाथं सर्वेषां प्रथमः ततो नाथ सम्प्रदायः ।
प्रवृत इति नाथ संप्रदायिनों बदान्ति ।।

अत: नाथ सम्प्रदाय शैव सम्प्रदाय की ही शाखा है मूलत: समग्र नाथ सम्प्रदाय शैव है, उनके मूल उपास्य शिव हैं ।[1] इस सम्प्रदाय का सम्बन्ध बौद्धों की अपेक्षा शैवों से जोड़ा जा सकता है । अपने मूल रूप में यह शैव दर्शन से विकसित लगता है । सायणमाधव के सर्वदर्शन संग्रह से इस तथ्य की पुष्टि की गई है । यह माना जाता है कि "आदिनाथ स्वयं शिव ही है ।"[2] नाथ सम्प्रदाय के विभिन्न नामों का उल्लेख साम्प्रदायिक ग्रन्थों में किया गया है इस सम्प्रदाय के प्रचलित शब्दों के सम्बन्ध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है — "नाथ पन्थ या नाथ सम्प्रदाय के सिद्ध-मत, सिद्ध-मार्ग, योग मार्ग, योग सम्प्रदाय, अवधूतमत एवम् अवधूत सम्प्रदाय नाम भी प्रसिद्ध है ।"[3] इस कथन का अभिप्राय यह नहीं कि सिद्ध-मत और नाथ-मत में कोई भेद नहीं है । उन्होंने तो नाम ख्याति के आधार पर ध्यान को आकृष्ट किया है जहाँ दोनों मार्गों को एक ही नाम से पुकारा जाता था ।

---

[1]आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - नाथ सम्प्रदाय, पृ0 3

[2]देदीप्यमानस्तत्वस्य कर्त्ता साक्षात स्वयं शिव: ।
संरक्षत्तरि विश्वमेव: धीरा: सिद्धमताश्रया : ।।
— सिद्ध सिद्धान्त पद्धति

[3]आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - नाथ सम्प्रदाय, पृ0 60

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में शैवमत का प्रभाव चारों ओर दृष्टव्य हो रहा था, और विक्रम की दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही शैवमत राज्याश्रय को प्राप्त कर दो रूपों में भारतीय चिन्तनधारा को प्रभावित किये हुए था। प्रथम मत साम्प्रदायिक एवम् दार्शनिक रूप में तथा दूसरा मत लोक प्रचलित रूप में विद्यमान था। साम्प्रदायिक एवम् दार्शनिक मत का अत्यन्त विकास हुआ। परन्तु लोक प्रचलित मत का उतना विकास न हो सका। नाथ पंथ का सैद्धांतिक रूप शैवमत से नहीं जुड़ा हुआ है वरन् लोक प्रचलित शिव के स्वरूप ने नाथपंथ को प्रभावित किया है।

अतः नाथ अपनी परम्परा भगवान शिव से ही मानते हैं इतना ही नहीं नाथ पंथ ने शैवमत के वाह्य रूप तथा अन्तः रूप दोनों को अपने में समाहित किया, जिसमें कथा, रूद्राक्षमाला कानफाड़ कर मुद्रा धारण करना, गेरूवे रंग के वस्त्र, सिंगी तथा योग मार्ग आदि प्रमुख हैं। वर्तमान समय में शिव की उपासना के लिए नाथ पुरोहित को ही श्रेष्ठ समझा जाता है।

नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य गोरखनाथ कहे जाते हैं। परन्तु नाथों की गुरु शिष्य परम्परा में शिव को ही आदिनाथ कहा जाता है तथापि नाथों के आदि पुरस्कर्ता गोरखनाथ ही हैं। कुछ अनुश्रुति शिव के बाद मत्स्येन्द्रनाथ का नाम भी इस सम्बन्ध में जोड़ती है, जिसका कारण वही सिद्ध सूची है जिसमें सिद्ध-मत तथा नाथ मत को नाम की ख्याति की दृष्टि विद्वानों ने एक मान लिया है। "जिसमें मत्स्येन्द्र नाथ (मछन्दरनाथ, मीनपा), तथा गोरक्षपा (गोरखनाथ) सिद्धों में गिने जाते थे। यह प्रसिद्ध है कि मत्स्येन्द्रनाथ नारी साहचर्य के आचार में जा फँसे थे, जिसमें उनके शिष्य गोरखनाथ ने उद्धार किया था। वस्तुतः इस लोक चर्चा के मूल में ही सिद्ध-मत एवम् नाथ-मत का अन्तर दिया है। सिद्ध - गण नारी भोग में विश्वास करते थे, किन्तु नाथ पन्थी इसके विरोधी थे।"[1]

नाथ सम्प्रदाय के उद्भव से सम्बन्धित तीसरा सिद्धान्त तन्त्रों से यौगिक सम्प्रदाय के विकास का है, जिसका प्रमाण मछिन्द्रनाथ

---

[1]डा० नगेन्द्र - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 23

का योगनी कौल मार्ग था। "वज्रयानी साधना में कापालिक शब्द की व्युत्पत्ति का आभास मिलता है। प्राणी वज्रधर है, जगत की स्त्रियाँ कपालवनिता है। अर्थात् कापालिनी है और साधक हेरुक भगवान् की मूर्ति है जो उससे अभिन्न है।"[2] इस साधना में साध्य है, इसी कारण इसे कापालिक कहा गया।

शैवमत तथा बौद्ध मत दोनों ही सम्प्रदायों में इस साधना का प्रभाव दिखाई पड़ता है जो मूलत: तन्त्र प्रभाव की ओर संकेत करता है। नाथ पंथ भी इस साधना से अछूता नहीं रहा उनकी वज्रोली नामक मुद्रा इसी प्रभाव का परिणाम थी, किन्तु बाद में, गोरखनाथ ने इन साधनाओं का विरोध किया और स्त्री साधना के स्थान पर उन्होंने सदाचार की स्थापना की, जिसमें नीति, सामाजिक, आचार, हठयोग की साधना, संसार की निस्सारता, साधना मार्ग का महत्व, गुरु का महत्व तथा लौकिक विषयों से अपने मनको हटाकर अन्त:साधना करने पर बल देना प्रमुख है।

---

[2]हर प्रसाद शास्त्री का पाठ इस प्रकार है —

प्राणी वज्रधर कपाल – वनिता तुल्यो जगत् स्त्रीजन: ।
सोऽहं हेरुक मूर्तिरेष भगवान् यो न: प्रभिन्नोऽपि ॥

अतः उपरोक्त तीनों सिद्धान्तों में दूसरा सिद्धान्त जो शैवमत से नाथ सम्प्रदाय का उद्भव मानता है, काफी सशक्त तथा मान्यता प्राप्त है जिसकी प्रमुख साधना पद्धति योगमार्ग है जिसको गोरखनाथ ने नयी दिशा प्रदान की। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है "गोरखनाथ ने योग मार्ग को एक बहुत ही व्यवस्थित रूप दिया, उन्होंने शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्त के आधार पर बहुधा विश्वस्त काया योग के साधनों को व्यवस्थित किया है, आत्मानुभूति और शैव परम्परा के सामंजस्य से चक्रों की संख्या नियत की। उन दिनों अत्यन्त प्रचलित वज्रयानी साधना के पारिभाषिक शब्दों के सांस्कृतिक अर्थ को बलपूर्वक पारमार्थिक रूप दिया और अब्राह्मण उद्गम से उद्भूत और सम्पूर्ण ब्राह्मण विरोधी साधनामार्ग को इस प्रकार संस्कृत किया कि उसका रूढ़ि विरोधी स्वर ज्यों का त्यों बना रहा परन्तु उसकी अशिक्षा जन्य प्रमादपूर्ण रूढ़ियाँ परिष्कृत हो गईं।"[1]

नाथ सम्प्रदाय के ग्रन्थ भी यह स्पष्ट करते हैं कि इस सम्प्रदाय काउद्भव वज्रयान से नहीं हुआ है। इन ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है

---

[1]आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - नाथ सम्प्रदाय, पृ० 82

कि इस सम्प्रदाय पर कौलों का, पंतजलि के हठयोग का, रसायण का प्रभाव अधिक दृष्टव्य होता है । इसके अतिरिक्त वज्रयानी सिद्धों की शब्दावली और हठयोगिक साधना पद्धति में इतनी समानता मिलती है, जिसके कारण कुछ विद्वानों ने नाथ सम्प्रदाय को वज्रयान के आगे की शाखा कहा है जो उचित नहीं है क्योंकि गोरखनाथ के जीवन चरित्र, इनसे सम्बन्धित ग्रन्थ तथा अन्य प्रमाण यह सिद्ध करते हैं नाथ सम्प्रदाय शैवमत के विकास की कड़ी है जो पंतजलि के योग मत के अधिक निकट ठहरता है दार्शनिक दृष्टि से भी नाथ बौद्धों के वज्रयान से नहीं शैवों से अधिक निकट है ।

<u>नाथों का समय</u> :- नाथ योगियों के समय के सम्बन्ध में बहुत ही विवादास्पद स्थिति है । अभी तक इस सम्बन्ध में हुए कार्यों के निष्कर्षों के आधार पर "डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल" ने "गोरखबाणी" नाम से काव्य संग्रह प्रकाशित कराया तथा नाथ योगियों का समय ।।वीं शताब्दी माना है । गोरखबाणी की भूमिका में इन्होंने नाथ योगियों की रचनाओं को प्रकाशित करने की बात भी कही है । परन्तु उनकी अचानक मृत्यु से यह कार्य सम्भव नहीं हो सका । इसके उपरान्त श्री राहुल सांस्कृत्यायन ने इस क्षेत्र में कार्य किया और अपनी "हिन्दी काव्य धारा" नामक पुस्तक में इन्होंने गोरखनाथ का समय नवीं शताब्दी {ई० 902}

माना है । डा0 धर्मवीर भारती तथा कल्याणी मल्लिक जी ने "सिद्ध सिद्धान्त पद्धति एण्ड अदर्स आफ योगीज" नामक ग्रन्थ को सन् 1954 में पूना से प्रकाशित कराया । सं0 2014 में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने भी "नाथ सिद्धों की बानियाँ" नामक ग्रन्थ को सम्पादित करके नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित कराया । इसमें 14 नाथ योगियों की बानियाँ संग्रहित हैं । आचार्य द्विवेदी जी ने इसका समय 10 वीं शताब्दी सिद्ध किया है ।[1] तो आचार्य शुक्ल[2] जी ने उन्हें पृथ्वीराज का समकालीन बताया है जिसका समय 13 वीं शताब्दी बताते हैं कुछ नवीन खोजों ने इस धारणा को अधिक प्रश्रय दिया, कि गोरखनाथ ने ईसा की तेरहवीं शती के प्रारम्भ से अपना साहित्य लिखा जिसकी पुष्टि डा0 राम कुमार ने निम्न शब्दों से की है । "नाथ पन्थ के सम्पूर्ण विकास का समय बारहवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक माना है कि नाथ पन्थ से ही भक्तिकाल के सन्त-मत का विकास हुआ था जिसके प्रथम कवि कबीर थे ।"[3]

---

[1]नाथ सम्प्रदाय , पृ0 96

[2]हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 14

[3]डा0 रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ0 75

वर्माजी के इस तथ्य की पुष्टि हमें हिन्दी साहित्य के सन्त काव्य में कथ्य और शिल्प दोनों रूपों में उसी रूप में देखने को मिलती है ।

नाथ योगियों के समय के सन्दर्भ में विभिन्न मान्यताओं का कारण ऐतिहासिक प्रमाणों का अभाव है जो भी किंवदन्तियाँ कथाएँ मिलती हैं उनमें परस्पर विरोधी मत हैं "इसी प्रकार किंवदन्तियों में कहीं चारों युगों में अवतरित बताया गया है तो कहीं 15वीं शताब्दी के कबीर से कहीं 16वीं शताब्दी के नानक से कहीं 17वीं शताब्दी के जैन कवि बनारसी दास से विवाद करते दिखाया गया है ।"[1]

यदि किसी भी एक सिद्ध के समय की जानकारी प्राप्त हो जाए तो शेष अन्य योगियों के समय का निर्धारण किया जा सकता है, क्योंकि यह सभी नाथयोगी किसी न किसी रूप में एक दूसरे से सम्बन्धित थे । अभी तक प्राप्त ऐतिहासिक प्रमाण, किंवदन्तियाँ, कथाओं, अर्द्ध ऐतिहासिक तथा पौराणिक लेखों तथा अनेकों विद्वानों के कार्यों का परीक्षण निरीक्षण करने के उपरान्त आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने यह स्वीकार किया है ।

---

1. डा० वासुदेव सिंह - हिन्दी साहित्य का उद्भवकाल
पृष्ठ 118

नाथ सम्प्रदाय के आरम्भकर्ता गोरखनाथ का समय दसवीं शताब्दी के आस-पास ठहरता है ।

अत: नाथ सम्प्रदाय का उचित समय क्या है? तथा इसका प्रादुर्भाव कब हुआ? इस सम्बन्ध में कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती है परन्तु विद्वानों का अधिक समूह नाथ सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव नवीं दसवीं शताब्दी के लगभग मानता है जो किसी सीमा तक सही ठहरता है । इसी समय से लेकर नाथ सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव अप्रत्यक्ष रूप से आज तक होता आ रहा है । जिसके प्रमाण राजस्थान पंजाब आदि प्रदेशों में आज भी नाथों के रूप में देखने को मिल जाते हैं ।

<u>नाथों की संख्या तथा पंथ</u>

नाथ योगियों की संख्या के विषय में भी विवाद है । नाथों की संख्या प्रधानत: नौ मानी जाती है । जिसमें आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, गाहिणीनाथ (गिनी) चर्पटनाथ, चौरंगीनाथ, ज्वालेन्द्रनाथ, भर्तृनाथ, गोपीचन्द्र नाथ प्रमुख हैं प्राचीन काल से ही भारत में आचार्यों की अति प्रसिद्ध एक विशिष्ट संख्या मिलती है जिसके अनुसार सिद्धों की संख्या नौ मानी जाती है "जिस प्रकार सिद्धों की संख्या चौरासी प्रसिद्ध

है उसी प्रकार नाथों की संख्या नौ है ।" [1]

किन्तु यह नौ नाथ कौन-कौन थे । इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता । क्योंकि कुछ सूचियों में इनकी संख्या नौ से अधिक भी है ।

नाथ योगियों का विवरण विभिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न रूप में मिलता है । साथ ही इनकी परम्परा क्रम में भी विभिन्नता है । वर्णरत्नाकर नामक चौदहवीं शताब्दी के मैथिल ग्रन्थ में चौरासी नाथ योगियों के नाम गिनाये गये हैं । "हठयोग प्रदीपिका" में लगभग तीस नाथों के नामों का विवरण इस प्रकार है । आदिनाथ, मत्स्येन्दनाथ, सारदानन्द, भैरव चौरंगी, मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्ष, मन्थान भैरव पूज्यनाथ, नित्यनाथ, प्रभुदेव, घोड़ाचूलीनाथ, टिण्टिणी नाथ, भल्लरी, नाथबोध, खण्ड कापालिका आदि ।" नाथ योगियों की जो सूची मिलती है । उनमें बहुत से नाथ सिद्धों का विवरण सिद्धों तान्त्रिकों निरंजन पंथियों योगियों और निर्गुण मार्गी सिद्धों के ग्रन्थों से प्राप्त हुआ है एक अनुश्रुति के अनुसार शिव ने बारह पंथ चलाए थे और गोरखनाथ ने भी बारह पंथ चलाए थे । ये दोनों पन्थ आपस में झगड़ते थे । इसलिए बाद में स्वयं गोरखनाथ ने अपने छ: तथा शिव जी

के छः पन्थों को जोड़कर आज-कल की बारह पन्थी शाखा की स्थापना की, जो इस प्रकार है ।

1. सत्यनामी पंथ – सत्यनामी पंथ के मूल प्रवर्तक सत्य नाथ थे, जिनके नाम से ही इनके पंथ का नाम पड़ा । सत्यनाथ स्वंय ब्रम्हा का नाम भी है जिसके कारण लोग इन्हें ब्रम्हा के भोगी कहते थे । इसका स्थान पाताल भुवनेश्वर उड़ीसा प्रदेश में था ।

2. धर्मनाथ पंथ – इस पन्थ के मूल प्रवर्तक धर्म राज [युधिष्ठिर] थे इनका स्थान "दूल्लूदेलक" था जो नेपाल में है ।

3. राम पंथ – इस पन्थ के मूल प्रवर्तक श्री रामचन्द्र थे, जिसका स्थान गोरखपुर प्रान्त में युक्त प्रान्त चौक तप्पे पंचौरा में था, बाद में इसका मूल स्थान गोरखपुर माना जाता है ।

4. नाटेश्वरी पंथ – इसके प्रवर्तक लक्ष्मण थे, जो पंजाब प्रान्त में झेलम के पार "गार खोटला" नाम स्थान से सम्बन्धित थे ये दो भागों में विभक्त था–

1. नाटेश्वरी 2. दरिया पंथी

5. कन्हड़ पंथ इस पंथ के मूल प्रवर्तक गणेश थे, जो कच्छ प्रान्त में मानफरा के स्थान से सम्बन्धित थे । जहाँ उन्होंने अपने पंथ का विस्तार किया ।

6· कपिलानी पंथ – इस पंथ के मूल प्रवर्तक "कपिलमुनि थे, जिनका स्थान गंगासागर था, जो बंगाल प्रदेश में है बाद में कलकत्ते जिसे "दमदम" कहते थे, उसके गोरखवंशी इनका स्थान हो गया।

7· वैराग्य पन्थ – इस पन्थ के मूल प्रवर्तक भर्तहरि थे, जो प्रसिद्ध तीर्थ पुष्कर के पास अजमेर प्रान्त के रतटोडा नामक स्थान से सम्बन्धित थे।

8· माननाथी पन्थ – इस पंथ के प्रवर्तक गोपीचन्द थे जिसके स्थान व प्रदेश के विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है जोधपुर का महामन्दिर पंथ इनका मुख्य स्थान है।

9· आई पंथ – आई पंथ की मूल प्रवर्तक भगवती विमला थी, जो बारह पंथों में एक मात्र स्त्री थी इनका स्थान बंगाल के "दिनाजपुर" जिले में "जोगी गुफा" या "गोरख कुंई" है।

10· पागल पन्थ – इस पन्थ के प्रवर्तक "चौरंगी नाथ" थे जिन्हें "पूरन भगत" भी कहा जाता था। जो पंजाब के "अबोहर" नामकस्थान से सम्बन्धित थे।

11· धज पन्थ – इस पंथ के विषय में कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती है मात्र इनके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि इनके प्रवर्तक जी "हनुमान जी" थे।

12· गंगानाथी पंथ – इस पंथ के प्रवर्तक भीष्म पितामह थे, जो पंजाब में

गुरूदासपुर में "जखबार" नामक स्थान से जुड़े थे ।

बारहपंथी शाखा को दरस्पो कहा जाता था । जिनकी कई जातियाँ वर्तमान समय में गृहस्थ जोवन में प्रवेश करके भी मुद्रा धारण (शुभ तिथि-समय कान छिदवाकर कुण्डल पहनना जिन्हें योगी होनें का चिन्ह कहा जाता था) करके तथा अपने सम्प्रदाय के समस्त नियमों का पालन कर रही है ।

"इन बारहपंथी योगमार्ग में जालन्धर और कण्डपा जैसे बौद्ध कापालिक भी थे और वैष्णव, जैन, और शाक्त साधन भी सम्मिलित थे ।"[1] इनमें विभिन्न बातें समान रूप से पाई जाती हैं । पं0 गोपीनाथ जी के अनुसार - "हठयोगियों अर्थात् मत्स्येन्दनाथ, गोरखनाथ आदि नाथपंथियों वज्रयानियों और सहजयानी बौद्धों त्रिपुरा सम्प्रदाय के तान्त्रिकों वीरचारियों दत्तात्रेय के सम्प्रदाय वाले, शैवों, परवर्ती सहजियों और नव वैष्णवों का नियमित और वैज्ञानिक अध्ययन ऐसी बहुत सी बातों का रहस्योद्घाटन करेगा जो इन सबमें समान रूप में विद्यमान है । [2]

1• आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - पृष्ठ 9

2• हिन्दी साहित्य - उद्भव और विकास - पृ0 30

नाथ सिद्धों और सहजयानी सिद्धों की सूचियों में नाथ सिद्धों का विवरण मिलता है, जिसका तुलनात्मक अध्ययन आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी द्वारा प्रस्तुत तालिका से किया जा सकता है ।

संख्या नाथ सिद्ध	संख्या सहजयानी सिद्ध	विशेष
1. मीननाथ	1. लूहिपा	
2. गोरक्षनाथ	2. लीलापा	
3. चौरंगीनाथ	3. विरूपा	नाथ सिद्ध नं0- 10
4. चामरीनाथ	4. डोम्भीपा	
5. तन्तिपा	5. शबरीपा	नाथ सिद्ध नं0- 47 से तुलनीय
6. हालिपा	6. सरहपा	
7. केदारिपा	7. कंकालीपा	
8. धोंग पा	8. मीनपा	नाथ परम्परा के सं01 से तुलनीय
9. दारिपा	9. गोरक्षपा	ना0 सि0 नं0- 2
10. विरूपा	10. चौरंगीपा	ना0 सि0नं0-3
11. कपाली	11. वीणापा	ना0सि0 44 से तुलनीय
12. कमारी	12. शान्तिपा	ना0सि0 नं0- 5 से तुलनीय
13. कान्ह	13. तन्तिपा	
14. कनखल	14. चमरिपा	

15• मेखल	15• खड्गपा	
16• उन्मन	16• नागार्जुन	ना0 सि0 22
17• काण्डलि	17• कण्डपा	नाथ सिद्ध 13 से तुलनीय
18• धोबो	18• कर्णरिपा [आर्यदेव]	ना0 सि0 48 से तुलनीय
19• जालन्धर	19• थगनपा	
20• टोंगो	20• नारोपा	
21• मवट	21• शालिपा [शोलपा] [श्रृंगालोपाद] ना0 सि0 55 से तुलनीय	
22• नागार्जुन	22• तिलोपा	
23• दोलो	23• क्षत्रपा	
24• भिषाल	24• भद्रपा	ना0 सि0 37 से तुलनीय
25• अचित	25• दोखंधिपा [द्विखण्डता]	
26• चम्पक	26• अजोगिपा	
27• टेण्टस	27• कालपा	
28• भुम्बरी	28• धोम्भिपा	ना0 सि0 18 से तुलनीय
29• बाकली	29• कंकड़पा	
30• तुली	30• कमारिपा [कंबलपा]	
31• चर्पटी	31• डेंगिपा	ना0 सि0 8 से तुलनीय
32• भादे	32• भदेपा	" " 32 से "

33• चाँदन — 33• तैथिपा (तैत्तिपा)
34• कायरी — 34• कूर्मारपा
35• करवत — 35• कूचिपा (कूलिपा)
36• धर्म पा पतंग — 36• धर्म पा   ना० सि० 37 से तुलनीय
37• भद्र — 37• महीपा (महिलपा)
38• पातालि भद्र — 38• अचिन्तपा   ना० सि० 25 से तुलनीय
39• पाले हिद — 39• भलह पा (भवपा)
40• भानु — 40• नलिनपा
41• मीन — 41• भूसुकपा
42• निर्दय — 42• इन्द्र भूति
43• सवर — 43• मेकोपा
44• सांति — 44• कुंडालिपा (कुद्दालिपा) ना० सि० 7 से तुलनीय
45• भर्तहरि — 45• कर्मारपा (कम्मारपा) " " 12 " "
46• भीषण — 46• जालन्धरपा (जालन्धारक) " 19 " "
47• भटो — 47• राहुल पा
48• गगन — 48• धर्मारिपा (धर्मारि)
49• गयार — 49• धोकारिपा
50• मेनुरा — 50• मेदनीपा (हालीपा)   ना० सि० 6 से तुलनीय
51• कुमारी — 51• पंकजपा
52• जीवन — 52• घण्टा (वज्रघण्टा) पा

53.	अधोसाधव	53.	जोगीपा §अजोगिपा§	
54.	गिरिवर	54.	चेलुकपा	
55.	सियारी	55.	गुण्डरिपा §जोरूरपा§	
56.	नागवालि	56.	लुचिकपा	
57.	विभवत	57.	निर्गुण पा	
58.	सारंग	58.	जयानन्त	
59.	विविकिधज	59.	चर्परीपा पचरीपा	ना0सि0 31 से तुलनीय
60.	मगरध्वज	60.	चम्पक पा	" " 2 " "
61.	अचित	61.	भिरवन पा	" " 46 " "
62.	विचित	62.	भीलपा	" " 66 " "
63.	नेचर	63.	कुमारिपा	" " 51 " "
64.	चारल	64.	चवरि §जवरि§ अजलिपा	" " 4 " "
65.	नायन	65.	मीलभद्र §योगिनी§	" " 74 " "
66.	भीलो	66.	मेखल पा §योगिनी§	" " 15 " "
67.	पाहिल	67.	कनखलापा§ " §	" " 14 " "
68.	पासल	68.	कलकल पा	
69.	कमल कंगारि	69.	कन्तालो §कन्थालो§ पा	
70.	चिपिल	70.	घछुलिरिपा §दबड़ो पा §	
71.		71.	उधलि §उधालि§ पा	

72•

73•

74•

75•

76·

72• कपाल ॥कम्बल॥ पा ना0सि0 69 से तुलनीय

73• किल पा

74• सागर पा

75• सर्व भक्ष पा

76• नागवेधि पा

77• दारिक पा

78• पुतुलिपा

79• पहन पा

80• कोका लिपा

81• अभंग पा

82• लक्ष्मी करा

83• समुद पा

84• भोल ॥व्याल॥ पा

इन चौरासी सिद्धों में से मूलतः नौ नाथों का उल्लेख प्रमुख रूप से मिलता है । यह अनुमान किया जाता है कि ये नौ नाथ ही मुख्य हैं, जो समय भेद के परिवर्तन के आधार पर अलग-अलग सूचियों में भिन्न-भिन्न परम्पराओं के आधार पर उल्लिखित किए गये हैं । इन नाथों में किन-किन नाथों को स्पष्ट स्थान दिया जा सकता है यह दुष्कर है । "सभी परम्पराओं से जान

पड़ता है कि आरम्भ में नौ मूल नाथ हुए, परन्तु इनके नाथ भिन्न-भिन्न परम्पराओं में भिन्न तरह से प्राप्त होते हैं।"[1] डा० सुमन राजे मैं अपने "साहित्येतिहास आदिकाल" में नौ नाथों की परम्परा इस प्रकार बताई है - गोरखनाथ, जालन्धर नाथ, नागार्जुन, सहस्रार्जुन, दन्तात्रेय, देवदत्त, धड़भरत, आदि नाथ, मत्स्येन्द्र नाथ। "श्री ज्ञानेश्वर चरित" में पं० लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर" ने ज्ञान नाथ तक की गुरु परम्परा इस प्रकार बताई है :-

---
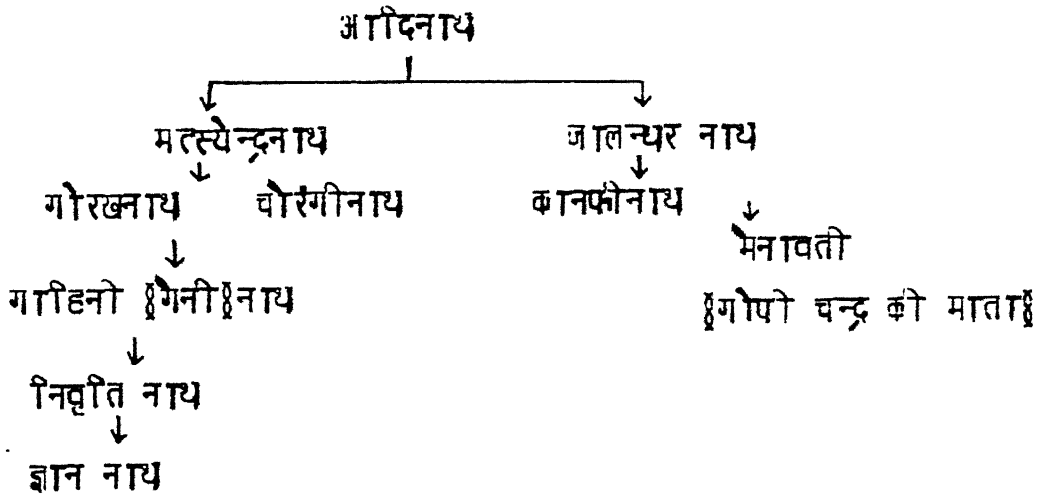
[1] हिन्दी साहित्य कोश भाग-1, पृ० 426

जिसमें मत्स्येन्द्र नाथ के शिष्यों में गोरखनाथ की परम्परा चली, उसी ने नाथ परम्परा का विकास किया ।

अतः जिस प्रकार सिद्धों के साथ "चौरासी" अंक विशिष्ट रूप से जुड़ा है । उसी प्रकार नाथ योगियों के लिए नौ नाथों की संख्या जुड़ी है । इसमें मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, जालन्धरनाथ, कृष्णनाथ अपने आकर्षण व्यक्तितत्व के कारण ऐतिहासिक पुरूष माने गये, जो नाथ परम्परा को विकसित तथा पल्लवित करने में सहायक सिद्ध हुए । इसके विषय में कुछ किंवदन्तियाँ ऐसी मिलती हैं जो एक निश्चित मत को सिद्ध करने में बाधा पहुँचाती है ।

<u>वेशभूषा</u> :- गोरखनाथी शाखा नाथ पंथियों का मुख्य सम्प्रदाय है । "नाथ वह तत्व है जो मोक्ष प्रदान करता है, नाथ ब्रह्म का अनुबोधन करता है, तथा अज्ञान का स्थगन करता है ।"[1] नाथ शब्द का प्रयोग ब्रह्म तथा सद्गुरू के लिए प्रयुक्त हुआ है, इतना ही नहीं नाथ को एक उपाधि भी कहा है जो इस मार्ग में दीक्षित योगीगण धारण करते थे । इन योगियों को कनफटा एवम् दर्शनी साधु कहा जाता है । कनफटा

---

[1]डा० नागेन्द्र उपाध्याय - नाथ और संत साहित्य पृ० 13

इसलिए कहा जाता था कि प्रत्येक योगी एक निश्चित शुभ तिथि में कान चिरवा कर कुण्डल धारण करता है जिसे मुद्रा का नाम दिया गया जो गोरखनाथी योगियों का चिन्ह है यह मुद्रा विभिन्न धातुओं हाथी दाँत तथा सोने की होती थी । मुद्रा धारण से पूर्व उन्हें औघड़ कहा है । "चूँकि इससे देवता प्रसन्न होते है, और असुर भाग खड़े होते हैं, इसीलिए इसे साक्षात् कल्याण दायिनी मुद्रा माना जाता है ।"[1] नाथ योगी मुद्रा के अतिरिक्त कमण्डल, खप्पर, सिर पर जटा, शरीर में भस्म, कण्ठ में रूद्राक्ष की माला, कँधों पर व्याघ्र चर्म और हाथ में किंगरी कमण्डल धारण करते थे । "ये लोग सामान्यत: मेखला, सृंगी, सेली, गूदड़ी, खप्पर, कर्ण मुद्रा, बंधवर, झोला आदि चिन्ह धारण करते हैं।"[2]

<u>साधना प्रणाली</u> :- नाथ योगियों की साधना प्रणाली की आधारशिला हठयोग है । हठयोग की परम्परा अतिप्राचीन है, किन्तु गोरखनाथ इसे दार्शनिक दृष्टि से शैवमत के निकट ले गये हैं । वह व्यवहारिकता के क्षेत्र में पतंजलि के योग मार्ग के अधिक निकट है । "चित्त वृत्ति निरोध:

---

[1]आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - नाथ सम्प्रदाय

[2]हिन्दी साहित्य कोश भाग -1 पृ0 426

योग:" के अनुसार वस्तुत: चित्तवृत्तियों का निरोध करता है तथा श्वांस प्रश्वांस को रोक कर एवं शारीरिक अंगों पर अधिकार प्राप्त कर सम्यक उपयोग करते हुए मन को एकाग्र करते हुए ब्रह्म में लगाना ही हठयोग है ।

"हकार: कथित: सूर्यष्ठकारश्चंद्र उच्यते ।
सूर्या चन्द्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते ।।"

सिद्ध सिद्धान्तपद्धति

"ह" का अर्थ है सूर्य और "ठ" का अर्थ है चंद्र अर्थात सूर्य और चन्द्र के योग को ही हठयोग कहते हैं । यहाँ सूर्य इड़ा नाड़ी का और चंद्र पिंगला नाड़ी का प्रतीक है । इसके अतिरिक्त कुछ लोग सूर्य को प्राण वायु और चंद्र को अपान वायु कहते हैं । इनके योग से अर्थात प्राणायाम द्वारा वायु का निरोध करना, हठयोग मानते हैं ।

रवि शशि दोऊ एक मिलावै ।
या ही ते हठयोग कहावै ।।[1]

अर्थात् "रिव" शशि का योग हठयोग है । योग दर्शन में योग को अष्टांग

---

[1]सन्त सुन्दर दास – सर्वांग योग प्रदीपिका में हठयोग नाथ तृतीयों पदेश से उद्धृत ।

योग कहा है, जिसके आठ भेद - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान,समाधि है ।

इस साधना पद्वति में प्रत्येक मनुष्य कुण्डलिनी और प्राण शक्ति जन्म से ही लेकर पैदा होता है । प्रत्येक व्यक्ति में सामान्य रूप में यह शक्ति निश्चेष्ट अवस्था से विद्यमान रहती है । यह मेरूदण्ड के नीचे साढ़े तीन विलयों में लिपटी रहती है । इस साधना के मार्ग में प्राणायाम के द्वारा शरीर के छ: चक्रों, कुण्डलिनी के ऊपर सबसे नीचे चार दलों §पंखड़ियों§ वाला मूलाधार चक्र है । दूसरा नाभि के समीप स्वाधिष्ठान §छ: दल वाला§ है, तीसरा मणिपूर चक्र दस दल वाला है । हृदय के पास चौथा चक्र अनाहत §बारह दल का§ है । विशुधारव्य §सोलह दल§ कण्ठ के पास पाँचवा चक्र है,और भौंहों के मध्य आज्ञा नाम चक्र है, जो दो दल में है । इसके अलावा तीन नाड़ियाँ इड़ा, पिंगला एवम् सुषम्ना है । मेरूदण्ड के बाँयी ओर इड़ा नाड़ी और दाँयी ओर पिंगला नाड़ी स्थित है । इन दोनों के मध्य सुषुम्ना का स्थान है । जब योगी प्राणायाम के द्वारा इड़ा-पिंगला नामक श्वास मार्गों को रोक लेता है, जब उसके मध्य में स्थित सुषुम्ना

नाड़ी का द्वार खुलता है, इस नाड़ी खुलना मुख्य क्रिया है, जिससे होकर कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर ऊपर की ओर प्रवाहित होती है । वह मार्ग में षट्चक्रों को भेदती हुई मस्तिष्क के निकट "शून्य चक्र" में पहुँचती है । इस स्थान पर जीवात्मा को पहुँचा देना ही योगी का परम उद्देश्य होता है, इसे "गगन मण्डल" भी कहा गया है । योगी को इस अवस्था में "अनहत नाद" सुनाई देने लगता है और वह उसके अन्तर्गत "परम ज्योति" के दर्शन करता है, उसका चित्त इस "अनहत नाद" को सुनने तथा ज्योति के दर्शन में लीन हो जाता है । यही अवस्था परमानन्द तथा ब्रह्मानुभूति की है । इसमें योगी माया, मोह से रिक्त हो कर जीवन मुक्त हो जाता है, जिसे समाधि की स्थिति भी कहा गया है । गोरखनाथ ने इस नाद की महत्ता के सम्बन्ध में कहा है —
"साधना के द्वारा ब्रह्मरंध्र तक पहुँच जाने पर अनाहत नाद सुनाई पड़ता है, जो सार का भी सार है और गम्भीर से भी गम्भीर है । इस ब्रह्मानुभूति प्राप्त योगी के लिए सारे वाद-विवाद मिथ्या प्रतीत होने लगते हैं —

सारम्सारं गहरगम्भीरं गगन उछलिया नादं ।
मानिक पाया फेरि लुकाया झूठा वाद-विवाद ।।[1]

---

[1] गोरखबानी पृ0 5

गोरखनाथ ने इस "अमृत रस" के पान का बार-बार उपदेश दिया है, उनका विश्वास है कि "आकाश-तत्व" में निहित "निर्माण्पद" के इस रहस्य को जो जान लेता है, उसका फिर आवागमन नहीं होता ।"[1]

अन्त: शून्यो बहि: शून्य:, शून्य कुम्भ इवाम्बरे ।
अन्त: पूर्णो बहि, पूर्ण: कुम्भ इवार्णवे ।।
{हठयोग प्रदीपिका}

योगी आत्मा को शून्य में और शून्य में आत्मा खो कर निश्चिन्त हो जाता है । शून्य अर्थात समाधि वह स्थिति जब कि आत्मा सभी चक्रों को भेदकर शून्य चक्र में अवस्थित होती है । ऐसी अवस्था में उसके भीतर व बाहर दोनों ओर शून्य है, जैसे आकाश में कोई सूना घड़ा रखा हो । परन्तु वास्तविकता में वह भीतर-बाहर दोनों स्थितियों में पूर्ण होता है । "करोरी जी" गगन मण्डल में बजनेवाले इसी अनहद "तूर" की बात करते हुए कहते हैं —

घौंसे चन्दा राते सूर, गगन मण्डल में बाजे तूर ।
सति का सबद करोरी कहैं, परमहंस काहे न रहे ।।[2]

---

[1]आकास तत सदा सिव जोण । तास अभिअंतरि पदनिरवाण ।
प्यंडे परवाने गुरमुखि जोई । बाहुडि आवागमन ने होई ।। {हिन्दी काव्यधारा पृ0 159}

[2]नाथ सिद्धों की बानियाँ, पृ0-11

चौरंगी नाथ "प्राण सांकली" में इस साधना का बहुत व्यापक रूप से वर्णन किया है ।[1]

गोपी चन्द कहते हैं कि "गगन मण्डल" में ही हमारा निवास स्थान है जिसके चन्द्र सूर्य रूपी तम्बू हैं । "सहज शील" पत्र है और अनहद सींगी नाद है :-

> गगन मण्डल में मढ़ी हमारी चंद्र सूर न तम्बू जी ।
> सहज शील ना पत्र हमारे, अनहद सींगी नाद जी ।।

अत: हठयोग की साधना में साधक विभिन्न साधनाओं से निष्क्रिय कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करके ऊपर को उद्बुद्ध होता है और षट्चक्रों और इड़ा, पिंगला सुषम्ना तीनों नाड़ियों के माध्यम से शून्य में प्रवेश होने पर स्फोट होता है । यही नाद है, नाद में प्रकाश होता है । यह प्रकाश इच्छा, ज्ञान, क्रिया तीन प्रकार महाविरूद्ध रूप व्यक्त करता है । नाथों से सम्बन्धित प्राप्त रचनाओं में परवर्ती भाषा के अंश सम्मिलित हैं । इनके सम्बन्ध में दन्तकथाओं तथा परस्पर विरोधी किंवदन्तियों की मात्रा अधिक है । जिससे नाथों के सम्प्रदाय का स्वरूप धूमिल हो गया है और उनकी स्थिति विवादास्पद हो गई है । यही कारण है कि नाथों

के साहित्य की स्थिति भी कुछ अधिक स्पष्ट नहीं है, मात्र गोरखनाथ द्वारा रचित साहित्य ही ऐसा साहित्य है जो सम्पूर्ण नाथ-सम्प्रदाय को अवलम्बित किये हुए हैं । डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इनकी परम्पराओं और दन्तकथाओं का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है और वे जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं वे सर्वमान्य ही हैं । इसी आधार पर प्रमुख नाथ सिद्धों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार हैं :-

§1§ मत्स्येन्द्रनाथ या मच्छन्दरनाथ -- इनका मत्स्येन्द्रपाद, मच्छन्दरपाद, मच्छेन्द्रपाद, मीनपाद, मच्छिन्द्रपाद, मच्छघ्न आदि नामों का उल्लेख मिलता है । ये गोरखनाथ के गुरु थे । "ये चौथे बोधिसत्व अवलोकितेश्वर के नाम से भी प्रसिद्ध हैं । ये नेपाल के आराध्यदेव रूप से गोरखनाथ के पूर्व मान्य रहे । इन्होंने योग विद्या की शिक्षा आदिनाथ §शिव§ से प्राप्त की, सागर तट पर शिव जी योग विद्या का रहस्य पार्वती को समझा रहे थे । पार्वती जी को नींद आ गई, किन्तु मत्स्येन्द्रनाथ मछली रूप में उस योग विद्या के रहस्य को सुनते रहे । उनके इसी कार्य से उनका नामकरण हुआ ।" यह प्रसिद्ध है कि मत्स्येन्द्रनाथ नारी - साहचर्य में जा फँसे थे जिनके सम्बन्ध में जनश्रुति है - शिव जी जब पार्वती को

---

§1§ डा० रामकुमार वर्मा - हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० 113

योग विद्या का रहस्य सुना रहे थे तो मत्स्य रूप में छिपकर इस ज्ञान को मत्स्येन्द्रनाथ ने प्राप्त कर लिया था । चोरी से योग विद्या का रहस्य सुनने के कारण शिव जी ने उन्हें शाप दिया कि — "यद्यपि तुम योग – रहस्य से परिचित हो गए हो फिर भी तुम्हें मोह पाश में आबद्ध होना पड़ेगा।" जिसके परिणाम स्वरूप मत्स्येन्द्रनाथ एक बार सिंहल द्वीप गये और वहाँ की रानी पद्मावती के रूप जाल में फँस गये तथा वहीं रहने लगे । गोरखनाथ जी ने जब अपने गुरु की पतनावस्था का समाचार सुना तो वह बहुत दुःखी हुए और सिंहलदीप आये, जहाँ मत्स्येन्द्रनाथ रानी पद्मावती के अन्तःपुर में पाये गये । गोरखनाथ जी ने उन्हें योग – विद्या का उपदेश देकर उनके सोये हुए विवेक को जगाया । इससे मत्स्येन्द्रनाथ रानी पद्मावती के मोह-पाश से मुक्त होकर योगारूढ़ हुए, और रानी पद्मावती से उत्पन्न पुत्र पारसनाथ और निमिनाथ को लेकर नेपाल चले गये ।

मत्स्येन्द्र नाथ का समय क्या था तथा वह किस कुल में, देश में उत्पन्न हुए थे तथा इनके रचित ग्रन्थ क्या हैं इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है इसके लिए दन्तकथाओं के अंशों का विश्लेषण करते हुए विद्वानों ने उचित जानकारी प्राप्त करने का प्रयास किया है । दसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध

कश्मीरी आचार्य अभिनव गुप्त ने अपने "तन्त्रालोक" मच्छन्द विभु या मत्स्येन्द्रनाथ की बन्दना की है । इससे सिद्ध होता है कि मत्स्येन्द्रनाथ दसवीं शताब्दी के पूर्व अवतरित हुए थे । तिब्बती परम्परा के साथ मिलाकर देखें तो यह समय नवीं शताब्दी के आरम्भ में पड़ता है मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा लिखित "कौल ज्ञान निर्णय" संस्कृत ग्रन्थ जो नेपाल की दरबार लाइब्रेरी में सुरक्षित है इसको लिपि को देखकर स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने ईसवी सन् की नवीं शताब्दी का लिखा माना है, जिसके आधार पर मत्स्येन्द्रनाथ का समय विद्वानों ने ।। वीं शताब्दी के पूर्व का माना है । उपरोक्त विवरण के आधार पर मत्स्येन्द्रनाथ का समय लगभग 10 वीं शताब्दी के आस-पास ही था, डा० बागची के अनुसार - मत्स्येन्द्रनाथ का नाम विष्णुशर्मा था, जाति ब्राह्मण थी, जन्मभूमि बारण ﴾बंगदेश﴿ "कौल ज्ञान निर्णय" नाम ग्रन्थ में इन्हें चन्द्रद्वीप वासी कहा गया है । चन्द्रद्वीप कामरूप के आस-पास कोई पहाड़ी स्थान था और कामरूप में ही इन्होंने साधना की थी । संस्कृत में इनकी क्रमशः चार रचनायें "कौन ज्ञान निर्णय", "अकुलवीरतंत्र", "कुलानन्द", "ज्ञानकारिका" है ।

हिन्दी में मत्स्येन्द्र नाथ द्वारा रचित कुछ पद मिलते हैं जो नाथ सिद्धों की बानियों में संकलित है ।

(2) जालन्धरनाथ - जालन्धरनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के समसामयिक थे । ये कापालिक मत के प्रवर्तक हैं । तिब्बती परम्परा के अनुसार नगरभोग देश में ब्राम्हण कुल में इनका जन्म हुआ था, योगिसम्प्रदाय विष्कृति में उन्हें हस्तिनापुर के राजा बृहद्रथ को यज्ञाग्नि से उत्पन्न बताया गया है । नाम के अनुसार इनका सम्बन्ध जालंधर पीठ से होना चाहिये राहुल जी के अनुसार इनकी दो पुस्तकें मगही में हैं ।• विमुक्त मंजरीगीत 2• हुंकारचित्त बिन्दुभावना क्रम ।

(3) गोरखनाथ -- गोरखनाथ नाथ सिद्ध-साहित्य को प्रारम्भ करने वाले थे, ये सिद्ध मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे गोरखनाथ ने अपने गुरु के आचरण तथा सिद्धों के मार्ग का विरोध किया । गोरखनाथ का समय विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न स्वीकारा है डा० भवानी शंकर त्रिवेदी ने 6वीं शती, डा० शहीदुल्ला ने 8वीं शती, पं० किशोरी लाल बाजपेयी, श्री राहुल सांस्कृत्यायन तथा डा० रांगेय राघव ने 9वीं शती, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा परशुराम चतुर्वेदी 10वीं शती, डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल 10वीं शती और आचार्य रामचन्द्रशुक्ल 12वीं शती मानते हैं। डा० रामकुमार वर्मा शुक्ल जी के मत से सहमत हैं नवीन खोजों तथा कार्यों के आधार पर यह धारणा प्रबल हुई कि गोरखनाथ ने ईसा की

पूर्व अनेक सम्प्रदाय थे उन सभी का विलय नाथ पन्थ में हो गया था । शैवों और शाक्तों के अतिरिक्त बौद्ध, जैन, तथा वैष्णव योगमार्गी सम्प्रदायों का मिलन भी उनके पन्थ में हुआ था । इनके साहित्य में गुरु के महत्व, प्राण-साधना, योगासन, वैराग्य, संयमित आचार-विचार, संयमित जीवन-निर्वाह, संयमित व्यवहार, नारी भावना, मन: साधना, कुण्डलिनी जागरण, शून्य-समाधि, इन्द्रिय निग्रह आदि का वर्णनहुआ है । जिसमें नीति और साधना की अधिकता है । इसी तथ्य के आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी रचनाओं को हिंदी साहित्येतिहास में स्थान दिया है जबकि हजारी प्रसाद द्विवेदी जी इसका विरोध करते हैं । "पूर्वोक्त विषयों के साथ जीवन की अनुभूतियों का सघन चित्रण होने के कारण इन रचनाओं को साहित्य में सम्मिलित करना ही उचित है ।

<u>गोरखनाथ की हिन्दी रचनायें</u> :- गोरखनाथ द्वारा लिखी गई हिन्दी रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियाँ 15 वीं शती तक की प्राप्त हो गई हैं गोरखनाथ की रचनाओं का सर्वप्रथम सम्पादन डा० मोहन सिंह ने

ने "गोरख बोध" तथा कुछ फुटकर पदों को अंग्रेजी में अनुवाद तथा टिप्पणियों के साथ छपवाया था । तदुपरान्त डा0 बड़थ्वाल ने परिश्रम तथा लगन से गोरखनाथ की हिन्दी रचनाओं का सम्पादन कर "गोरखबानी" नाम से हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग में प्रकाशित कराया । इसके उपरान्त श्री रामलाल श्रीवास्तव ने "गोरखबानी" नाम से गोरखनाथ की रचनाओं को गोरखनाथ - मन्दिर, गोरखपुर में प्रकाशित करवाया । जो डा0 बड़थ्वाल की गोरखबानी से किंचित भिन्न है । डा0 बड़थ्वाल ने अनेक प्रतियों का मिलान करके सम्पादन किया है । उन्हें नाथ योगियों की हस्तलिखित दस प्रतियाँ मिली थीं । इसके आधार पर इन्होंने गोरखनाथ की पाठीत रचनाओं की खोज की । सबसे पुरानी प्रति जयपुर में पु0 हरि नारायण को सं0 1715 में प्राप्त हुई । इन्हीं प्रतियों को ही प्रामाणिक मानकर गोरखनाथ की रचनाओं का सम्पादन कार्य डा0 बड़थ्वाल ने किया है ।

डा0 बड़थ्वाल ने प्राप्त पाठीत रचनाओं में से 14 रचनाओं को असंदिग्ध माना है क्योंकि ये रचनायें प्राय: सभी प्रतियों में मिलती हैं किन्तु "ग्यान चौंतीसा" समय पर न मिल सका अत: तेरह प्रामाणिक रचनाओं

को उन्होंने गोरखबानी के मूल भाग में सम्पादित किया है । सम्पादित रचनाएँ इस प्रकार हैं :-

[1] सबदी, [2] पद [रामरामकी], [3] सिष्या दरसन, [4] प्राण संकली, [5] नरवै बोध, [6] आत्मबोध, [7] अभैमात्रा जोग, [8] पंद्रह तिथि, [9] सप्तवार, [10] मछीन्द्र गोरख बोध, [11] रोमावली, [12] ग्यानतिलक, [13] पंचमात्रा ।

गोरखनाथ ने अपने साहित्य में योगियों के लिए उपदेश दिये हैं । इन्होंने लौकिक विषयों से अपने मन को हटाकर अन्तस्साधना पर बल दिया है । जिसके अन्तर्गत प्राण-साधना का वर्णन विस्तार से हुआ है । षट्चक्रभेदन के द्वारा शिव और शक्ति का संगम और अमृतरस के पान की चर्चा ही विस्तार से हुई है, नाथ सिद्धों के साहित्य में सौन्दर्य और माधुर्य का अभाव है बल्कि इस साहित्य पर शुक्ल जी ने शुष्कता और नीरसता का जो आरोप लगाया था वह बहुत कुछ उचित ही है । फिर भी हिन्दी साहित्येतिहास की प्रारम्भिक धरोहर के रूप में इसे संजोकर रखना ही श्रेयकर है । गोरखनाथ के हिन्दी साहित्य पर लिखे गये विभिन्न विषयों पर कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं :-

हठयोग प्रक्रिया सम्बन्धित पद —

के मन रहे आसा पास, के मन रहे परम उदास ।
के मन रहे गुरु के ओल, के मन रहे रहे कामिनि के कोल ।।

[गोरखबानी, सबदी, 172]

गगन मण्डल में ऊँधा कूवा तहाँ अमृत का वासा ।
सगुरा होई सु भरि भरि पीवै, निगुरा जाई पियासा ।।

[गोरखबानी, सबदी, 23]

योगासन सम्बन्धी पद —

यहुमन सकती यहुमन सीव । यहुमन पंचतत्व का जीव ।
यहु मन ले जे उनमन रहै तो तीनि लोक की बातां कहै ।।

[गोरखबानी सबदी 50]

पंडित ग्यान मरौ क्या बूझि । औरे बेहु परम पद बूझि ।
आसन पवन उपद्रह करै । निसि दिन आरम्भ पचि-पचि मरै ।।

[गोरखबानी सबदी 134]

योग साधना में आहार-विहार सम्बन्धी पद —

जिभ्या इन्द्री एकै नाल । जो राखै सो बचै काल ।
पंडित ग्यानी न करसि गरब । जिभ्या जीति जिन जित्या सरब

[गोरखबानी, सबदी 219]

असण दिढ अहार दिढ जे न्यंद्रा दिढ होई ।
गोरष कहै सुणौं रे पूता मरे न बूढा होई ।।

[गोरखबानी सबदी 125]

माँस-मदिरादि का परित्याग सम्बन्धी पद —

जीव क्या हतिये रे प्यंड धारी ।
मारिले पंचभू भ्रमला । चरे यारी बुधि बाडी ।
जोय का मूल है द्या दाण ।
कथंत गोरष मुकति रे मानवा मारि ले रे मन द्रोही ।
जाके वध वरण माज नहीं लोही ।

[गोरखबानी, सबदी 228]

धोतरा न पीवो रे अवधू भाँगि न षावो रे भाई ।
गोरष कहै सुणौ रे अवधू या काया होयगी पराई ।।

[गोरखबानी, सबदी 241]

संयमित आचार विचार सम्बन्धी पद —

पहलै आरम्भ छाड़ौ काम क्रोध अंहकार । मन माया विसै विकार
हंसा पकड़ घात चिति करौ तुलाँ ज्यौ लोभ परहसै ।।

[गोरखबानी र नरवै बोध 2]

यहुमन सकती यहु मन सीव । यहु मन पाँच तत्त का जीव ।
यहु मन ले जे उनमन रहै । तो तीनि लोक की बता कहै ।।

[गोरखबानी सबदी 50]

संयमित व्यवहार सम्बन्धी पद —

> कोई बादी कोई विवादी जोगी कौ बाद न करनाँ ।
> अठसठि तीरथ संमदि समावै यूं जोगी को गुरु मुषि जरनाँ ।।
>
> [गोरखबानी, सबदी 13]

> मूरिष सभा न बैसिबा अवधू पंडित सौं न करिबा बाद ।
> राजा संग्रामै झूझ न करबा हेलै न खोइबा नाद ।।
>
> [गोरखबानी सबदी 12]

सत्संग पर पद —

> प्रथमैं प्रणऊं गुरु के पाया । जिन मोहि आत्म ब्रह्म लषाया ।
> सतगुरु सबद कह्यां ते सुझ्या तूं लोक दीपक मनि बुझ्या ।।
>
> [गोरखबानी प्राण संकली]

मध्यम मार्ग का अनुसरण पर पद — गोरखनाथ अविवादी नहीं मध्यमार्गी थे । संयम मध्यममार्ग का ही साधन है अत्यधिक भोजन करने से मृत्यु हो सकती है और कुछ भी न खाने पर भी मृत्यु निश्चित है । इस भव-सागर को तो संयम द्वारा ही पार किया जा सकता है । मध्यम मार्ग अनुसरण करके मन को अटल कर लेना चाहिये कि प्राणवायु स्थिर हो सके । प्रस्तुत है उदाहरण -

> षाये भी मरिये अणषाये भी मरिये । गोरष कहै पूता संजमि ही तरिये ।
> मधि निरंतर कीजै बास । निहचल मनुवा थिर होई सास ।।
>
> [गोरखबानी, सबदी, 3]

नारी भावना के सम्बन्ध में पद —

भग राकसि लो भग राकसि लो, विंबदन्ता जग खाया लो ।
ग्यानी हुता सु ग्यानमुख रहिया, जीव लोक आये आप मँवाया लो ।
दिन दिन बाघिनी सीया लागी, रावि सरीरं सोषे ।
विषे लुबधी तत न बूझे, घीर लो बाघिनी पोषे ।।

x x x x

घामें घाम धसंता लोई दिन दिन छीजे काया ।।
आपा परचै गुरमुषि न चीन्हैं फाडि फाडि बाघिनी खाया ।

[गोरखबानी पद 48]

गोरखनाथ ने अपने सिद्धान्तों में नारी के प्रति कठोर दृष्टिकोण अपनाया है ।

गोरखनाथ का शिल्प विधान — "गोरखनाथ की भाषा खड़ी बोली - श्रृंखला की वह आदिकालीन कड़ी है, जो हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहासों में अब तक टूटी पड़ी थी तथा साथ ही बिखरी हुई इन कड़ियों को जोड़कर खड़ी बोली - श्रृंखला के पूर्ण करने का प्रयास किया गया है।"[1] गोरखनाथ की भाषा के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत इस प्रकार हैं —

[1] धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार - "प्रारम्भिक सिद्धों की कृतियों की भाषा स्पष्टतया अपभ्रंश [मागधी] है ।[2]

[1]गोरखनाथ और उनका हिन्दी साहित्य - कमल सिंह [पृ0 59]

[2] पं० राहुल सांस्कृत्यायन के अनुसार — "सर्व पुरातन सिद्ध सरहपाद नालन्दा से सम्बन्ध रखते थे, इसलिए उनकी भाषा का मगही होना स्वाभाविक ठहरा। अन्य सिद्धों ने भी इसी भाषा को कविता की भाषा बनाया। चौरासी सिद्ध नालन्दा और विक्रमशिला से सम्बन्ध रखते थे।"[1]

[3] डा० दयानन्द श्रीवास्तव के अनुसार — "आधुनिक भारतीय आर्य भाषा के पूर्वीय तथा पश्चिमी इन दोनों अंचलों के भाषा-रूपों के उदाहरण इन रचनाओं में मिल जाते हैं।"[2]

[4] डा० हरदेव बाहरी के अनुसार — "गोरख, नामदेव आदि की मिली-जुली बोलियों, पाली भाषा से कबीर आदि संतों की "सधुक्कड़ी" भाषा का विकास हुआ, जिसमें पश्चिमी हिन्दी का ही बाहुल्य था।"[3]

---

[1]पुरातत्व निबन्धावली, [पृ० 167]

[2]हिन्दी साहित्य का इतिहास, [पृ० 203]

[3]हिन्दी : उद्भव विकास और स्वरूप, [पृ० 240]

|5| डा० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार — उन्होंने |सिद्धों| ने भरसक उसी सर्वमान्य व्यापक काव्य-भाषा में लिखा है, जो उस समय गुजरात, राजपूताने और ब्रजमण्डल से लेकर बिहार तक पढ़ने-लिखने की शिष्ट भाषा थी। .... पुरानी हिन्दी की व्यापक काव्य-भाषा का ढाँचा शौरसेनी प्रसूत अपभ्रंश अर्थात् ब्रज और खड़ी बोली |पश्चिमी हिन्दी| को था।"[1]

|6| डा० रांगेय राघव ने निम्न पाँच निष्कर्ष निकाले हैं —

|क| भाषा अन्य सिद्धों की कविता जैसी नहीं है।

|ख| संस्कृत का प्रयोग अपने भ्रष्ट रूप में भी है।

|ग| अनेक बोलियों का पुट उसमें मिश्रित है।

|घ| कहीं - कहीं उर्दू-फारसी के भी भ्रष्ट रूप मिलते हैं।

|ङ| भाषा सधुक्कड़ी है।[2]

|7| डा० विश्वनाथ दास बाजपेई ने गोरखनाथ की भाषा के सम्बन्ध में कहा है कि "इनकी कुछ रचनाओं में हिन्दी |राष्ट्र भाषा, खड़ी बोली| की भी झलक है। गोरख सहज जनभाषा में सब कुछ

---

[1]हिन्दी साहित्य का इतिहास

[2]गोरखनाथ और उनका समय — डा० रांगेय राघव, पृ० 19।

कहते हैं और दूसरे कवि प्राकृत- व्याकरण टटोलते हैं ।"[1]

[8] डा0 राम कुमार वर्मा के अनुसार - "गोरखनाथ की भाषा में जन बोली "मगही" का आभास देखा जाता है ।"[2]

[9] डा0 माता प्रसाद गुप्त ने "कुतुब शतक और उसकी हिन्दुई" पुस्तक की प्रस्तावना में लिखा है --- "गोरखनाथ की बानियों और उनकी भाषा का रूप संदिग्ध मानने के कारण ही कदाचित् उनकी उपेक्षा हुई है ; किन्तु विश्लेषण से यह निश्चित रूप से प्रमाणित हुआ है कि गोरखनाथ की बानियों की भाषा पूर्वीय हिन्दी न होकर, जैसाकि सामान्यतः माना जाता है, पुरानी खड़ी बोली है ।"[3]

अतः विद्वानों के उपर्युक्त मतों के आधार पर डा0 बड़थ्वाल द्वारा सम्पादित "गोरखबानी" में संकलित रचनाओं की भाषा, पूर्वी, हिन्दी, पश्चिमी हिन्दी तथा दोनों का मिश्रण या पुरानी खड़ी बोली है ।" गोरखनाथ के समय की जनभाषा का मिश्रित रूप निर्गुण परम्परा के ही साथ कबीर तक

---

[1]हिन्दी शब्द - पं0 किशोरी दास बाजपेई , पूर्व पीठिका, पृ0 13
[2]हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - डा0 राम कुमार वर्मा पृ0 65
[3]हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ0 21

चलता आया है ।

गोरखनाथ का प्रभाव परवर्ती हिन्दी साहित्य पर —

"गोरखनाथ की साधना पद्धति समाज - सापेक्ष एवम् बहुजन हिताय थी । एक ओर उनकी साधना पद्धति में अनेक धर्म साधनाओं की अच्छाइयों का समन्वय है तो दूसरी ओर बुराइयों का बहिष्कार । अतः उनकी साधना पद्धति में समन्वयवादी एवम् क्रान्तिकारी दोनों दृष्टिकोण निहित हैं। गोरखनाथ के इस समन्वय एवम् क्रान्ति ने तत्कालीन दार्शनिक क्षेत्र में एक हलचल मचा दी थी और यही उनके साहित्य के व्यापकता का मूल कारण है ।"[1] गोरखनाथ ने अपने समय तथा परवर्ती काल के सभी क्षेत्रों तथा लोगों को प्रभावित किया । इनका सर्वाधिक प्रभाव सम सामयिक तथा परवर्ती नाथ-सिद्धों पर पड़ा और यह सही भी था, क्योंकि नाथ सिद्ध तो गोरखनाथ के अनुयायी हैं योग का सर्वाधिक विकास इसी समय हुआ था । गोरखनाथ एक नवीन एवम् बहुमुखी प्रतिभा लेकर अवतरित हुए । हालांकि इनसे पूर्व भी सिद्धों की परम्परा थी परन्तु उस समय नाथ-सम्प्रदाय का रूप कुछ और था । गोरखनाथ के प्रभावशाली व्यक्तित्व ने पूर्ववर्ती तथा

---

[1]गोरखनाथ और उनका हिन्दी साहित्य - कमल सिंह, पृ0 104

परवर्ती सभी साधकों को अपनी ओर आकर्षित किया । इनके उपरान्त इनका सर्वाधिक प्रभाव निर्गुण साहित्य पर पड़ा । "गुरु गोरखनाथ द्वारा निर्दिष्ट योग - साधना के अन्तर्गत बीज - रूप में प्राय: वे ही बातें प्रधानत: दीख पड़ती हैं जिनका प्रचार आगे चलकर कबीर आदि संतों ने भी किया है ।"[1] इस प्रकार सन्त साहित्य गोरखनाथ का अनुयायी है ही सूफी कवियों पर भी इनका प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ता है । यह प्रभाव जायसी के पद्मावत, मुल्लादाऊद के "चन्दायन" कुतुबन की "मृगावती" मंझन की "मधुमालती" और उस्मान की "चित्रावली" पर अधिक तथा स्पष्ट परिलक्षित होता है । आज भी इस परम्परा के मुसलमान फकीर जो गोरखनाथ को अपना गुरु बताते हैं । योगियों के वेश में सारंगी बजाते हुए घूमते फिरते हैं ।

"भारतीय सूफी अपनी प्रेम साधना के अन्तर्गत नाथयोगी - सम्प्रदाय की अनेक यौगिक क्रियाओं का भी समावेश करते थे । अपनी प्रेम कथाओं में उनके द्वारा शरीर के भीतर कल्पित किये गये विविध महत्वपूर्ण स्थलों के वर्णन रूपकों की सहायता से किया करते थे ।"[2] गोरखनाथ के द्वारा

---

[1]उत्तर भारत की संत परम्परा - आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, पृ0 54

[2]उत्तर भारत की संत परम्परा - आ0 परशुराम चतुर्वेदी, पृ0 74

प्रस्तुत हठयोग का भी पर्याप्त मात्रा में प्रभाव सूफी कवियों में मिलता है। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, षट्चक्र, नवरंध्र, ब्रह्मरंध्र आदि से सम्बन्धित सामग्री सूफी कवियों की रचनाओं में प्राप्त होती है, कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं —

गोरख — "चंद सूर दोउ सीम करि राख्या आपैं आप नु मिलिया"[1]

जायसी - "गही पिंगला सुखमन नारी। सुन्नि समाधि लागि और तारी।"[2]

कुतुबन — "चाँद कहा अब सूरुज आवउ। एकहि रासि बैठि नित धावउ।"[3]

कृष्ण-भक्ति शाखा के कवि योग साधना को नहीं मानते थे परन्तु उन्होंने भी गोरखनाथ की योग-भावना तथा हठयोग को महत्व दिया है। "दार्शनिक दृष्टि से शिव शक्ति और पुरुष प्रकृति की भाँति कृष्ण-राधा भी अभिन्न तत्वों के रूप में सम्मान्य हैं इस शास्त्रीय धारणा को योग-भावना से विलग समझना बड़ी भूल है। अष्टछाप के कवियों ने समवेत स्वर से वैराग्यपूर्ण जीवन की श्रेष्ठता सर्वत्र प्रतिपादित की है। वैराग्य वस्तुतः योग-साधना का प्रधान अंग है।"[4]

---

[1]गोरखबानी पृ0 92

[2]पद्मावत - जायसी 23/235

[3]मृगावती - कुतुबन 130/2

[4]योगवाणी [अगस्त 77] - हिन्दी के भक्ति साहित्य में योग भावना डा0 शिव शंकर शर्मा, पृ0 23

मीरा बाई के पदों में भी नाथ-पंथ की पारिभाषिक शब्दावली का उपयोग योग-भावना के लिए मिल जाता है । "गोरख जगायो जोगु भगति भगायो लोगु, निगम नियोग तें तो केलि ही छरो सो है"[1] के आधार पर तुलसी तथा रामभक्ति साहित्य का अनुशीलन पर ज्ञात होता है कि रामभक्ति साहित्य पर गोरखनाथ का प्रभाव कृष्ण भक्ति साहित्य की अपेक्षा अधिक पड़ा ।

योग साधना हमेशा से सम्पूर्ण भारतीय धर्म - साधना के केन्द्र में रही है, यही वह मार्ग है जहाँ सारे मार्ग आकर मिलते हैं व उसमें लीन हो जाते हैं । यही कारण है कि गोरखनाथ के बाद के हिन्दी साहित्य पर योग का व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है ।

[4] <u>भर्तृहरि</u> — भर्तृहरि का प्राकृत नाम भरथरी है, संस्कृत के रचित तीन शतकों के लिए ये प्रसिद्ध हैं इत्सिंग नामक चीनी यात्री ने [678 - 695 ई0] इनका विवरण प्रस्तुत किया है । ह्वेनसांग ने इनकी चर्चा की है और इन्हें बौद्ध बताया है वैराग्यशतक के कुछ दोहे अत्यन्त

---

[1]कवितावली - तुलसी, 7/84

भ्रष्ट भाषा में मिलते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि —
ये भरथरी, उपरोक्त भर्तृहरि से भिन्न हैं। भर्तृहरि के गीतों में ये
उज्जैन के राजा बताये गये हैं एवम् मयनावति रानी के भाई हैं।
मयनावति का विवाह बंगाल के राजा मानिक चन्द [1095 ई0]
से हुआ था। इस आधार पर भरथरी का समय 11 वीं शती निश्चित
होता है।

[5] चौरंगी नाथ — इनका नाम पूरणमल भी बताया गया है।
दन्त कथाओं में इनके विषय में जानकारी मिलती है जिसके अनुसार - ये
शालि वाहन के पुत्र और गोरखनाथ के गुरु भाई हैं, इतिहास में पाँच शालि
वाहन प्रसिद्ध हुए जिसमें स्यालकोट का राजा शालिवाहन [1080 वि सं0]
तथा जैसलमेर का राजा शालिवाहन [1245 वि0 सं0] के समकालीन हो
सकते हैं पंजाब में जनकथाओं में प्रचलित रसालू इनकी विमाता का पुत्र बताया
गया है। परन्तु यहाँ पर भी तीन रसालू का इतिहास में उल्लेख मिलता
है जैसलमेर का रसालू [750 वि0 सं0], दूसरा रसालू वह जो मुहम्मद बिन
कासिम से सन्धि के लिए भेजा गया था। परन्तु इन्हें शालिवाहन का पुत्र
तथा पूरनभगत का वैमातृक भाई बताया जाता है। उपरोक्त विवरण के

के आधार पर इनका समय 12 वीं शती ठहरता है । इनकी पुस्तक "प्राण संकली" है जिसमें इन्होंने अपना कुछ परिचय दिया है ।

(ग) जैन साहित्य

हिन्दी साहित्य की आदिकालीन परम्परा में बौद्ध सिद्धों ने जिस प्रकार हिन्दी के पूर्वी क्षेत्र में बौद्ध धर्म के वज्रयान मत का प्रचार हिन्दी कविता के माध्यम से किया उसी प्रकार पश्चिम क्षेत्र में जैन-साधुओं ने अपने मत का प्रचार हिन्दी कविता के माध्यम से किया। आठवीं शताब्दी में जब बौद्ध सिद्धाचार्य "सरहपा" अपने पदों का गान करके विचरण कर रहे थे, तभी जैन कवि "स्वयंभूदेव" अपने काव्यों की रचना में संलग्न थे। जैन साहित्य के विकास में जैन धर्म का महान योगदान है। जैन धर्म बौद्ध धर्म के समान अत्यन्त प्राचीन धर्म है लेकिन बौद्ध धर्म का भारत में प्रभाव समाप्त होने के बाद जैन-धर्म आज भी यहाँ अस्तित्व में है। यह ब्राह्मण-धर्म के पश्चात् आने वाली धार्मिक व्यवस्था है। वैसे इसके संस्थापक के विषय में कुछ स्पष्ट ज्ञात नहीं होता है। महावीर वर्धमान जैन गुरुओं में से अन्तिम थे जिनको "तीर्थंकर" के नाम से पुकारा जाता है। जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्त अहिंसा, वेदों में अविश्वास, आत्मा का अमरत्व, प्रत्येक वस्तु, वृक्ष, पौधे, पदार्थ में जीवन है। जीवन का महान उद्देश्य निर्वाण प्राप्ति है। बौद्ध धर्म से जैन धर्म इस बात में कम रहा कि

बौद्ध धर्म भारत में और बाहर भी खूब फैला, किन्तु जैन-धर्म भारत की सीमा तक ही सीमित रहा । जैन-धर्म के दो पंथ श्वेताम्बर तथा दिगम्बर और तीन रत्न - सत्य भाव, सत्य ज्ञान, सत्य आचार है ।

जैन दर्शन चौबीस तीर्थंकर हुए ऐसा माना जाता है । चौबिसवें तीर्थंकर भगवान महावीर इस धर्म के सर्वाधिक प्रभावशाली तथा प्रचारक हुए । ये कुण्डग्राम [वैशाली, मुजफ्फर नगर] के निवासी ज्ञात कुल के राजा सिद्धार्थ के पुत्र थे । इनकी माता वैशाली के प्रसिद्ध लिच्छवी राजा चेटक की बहन थी । जैन धर्म को महावीर ने एक सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया । इन्होंने 30 वर्ष की अवस्था तक गृहस्थ जीवन व्यतीत किया, तदानुपरान्त इन्होंने गृह त्याग कर सन्यास धारण किया और एक वर्ष तक वस्त्र धारण किए रहे । इसके उपरान्त इन्होंने वस्त्र भी त्याग दिए और निर्ग्रन्थ [निगण्ठ = बन्धनों से रहित] हो गये । इस प्रकार 12 वर्ष तपस्या करके उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया । 42 वर्ष की अवस्था में इन्हें कैवल्य प्राप्त हुआ । शेष तीस वर्षों तक ये निरन्तर विचरण करते रहे तथा धर्म प्रचार में लगे रहे । लगातार भ्रमण करते हुए तथा घूम-घूम कर उपदेश देते रहे, उन्होंने किसी भी गाँव में एक दिन तथा नगर में पाँच दिन से अधिक न रुकने का व्रत ले लिया था ।

प्रारम्भ में इन्हें निर्वस्त्र देख कर इन्हें सताया गया, किन्तु इनकी क्षमा, शान्त स्वभाव से लोग नतमस्तक हुए और इनके धर्म को ग्रहण किया। शीघ्र ही अनेक राजाओं ने भी इनके धर्म को ग्रहण किया। ईसा पूर्व 468 में राजगृह के निकट पावापुरी में इनका निधन हो गया। इस स्थान पर एक बड़ी सी झील के अन्दर स्थित जैन मन्दिर आज भी उनकी समाधि की स्मरण दिलाता है।

महावीर के अतिरिक्त 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में भी कुछ जानकारी मिलती है। ये इक्ष्वाकुवंशी बनारस के राजा थे। इन्होंने 83 दिनों का बनारस में उपवास कर वैराग्य लिया और 83 दिनों के गहन चिन्तन के बाद इन्हें कैवल्य मिला था। इन्होंने चार सूत्र प्रस्तुत किए - अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह। महावीर ने इसमें पाँचवां सूत्र ब्रह्मचर्य जोड़ा था। एक और तीर्थंकर ऋषभदेव के राजा होने का उल्लेख मिलता है। अन्य शेष तीर्थंकरों के विषय में कोई स्पष्ट जान-कारी नहीं मिलती। महावीर के बाद जैन धर्म इनके दो प्रधान शिष्यों "इन्द्रभूति" और "सुधर्मा" ने सुचारु रूप से प्रचार तथा प्रसार किया। इन्होंने महावीर की समस्त वाणी को बारह अंगों में विभक्त किया। इसीलिए इन्हें द्वादशांगी कहा गया है।

मगध में चंद्रगुप्त मौर्य के शासन काल में बारहवर्षों का लम्बा अकाल पड़ा था, जिससे भयभीत होकर जैनों के आचार्य "भद्रबाहु" अपने शिष्यों को लेकर कर्नाटक चले गये तथा अपने धर्म के नियमों का कठोरता से पालन करते रहे, परन्तु जब बारह वर्ष बाद अकाल की समाप्ति पर वे मगध आये तो मगध के जैनियों तथा कर्नाटक के जैनियों में इतने समय तक   रहने के कारण आचार-विचार में पर्याप्त भिन्नता आ गई थी। मगध के जैन साधुओं ने श्वेत वस्त्र धारण कर लिए थे इसलिए वे श्वेताम्बर कहलाए जिनका क्षेत्र राजस्थान और गुजरात ही रहा। कर्नाटक से आये जैन साधुओं को दिगम्बरी कहा गया। ये निर्वस्त्र रहते थे। यहीं से जैन धर्म दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया — श्वेताम्बर व दिगम्बर। ये अन्तिम बार सन् 79 या 82 ई0 में जुदा हुए। जैन धार्मिक ग्रंथ छ: अंगों में विभक्त है :-

- |1| बारह अंग |ग्यारह|
- |2| बारह उपांग
- |3| दस प्रकीर्णक
- |4| छ: छेद सूत्र
- |5| दो ग्रंथ सूत्र
- |6| चार मूल सूत्र

"इस प्रकार 45 ग्रंथों को सिद्धान्त ग्रंथ माना जाता है। पर कहीं-कहीं इन

ग्रंथों के नामों में मतभेद पाया जाता है, मतभेद वाले ग्रंथों को भी सिद्धांत ग्रंथ मान लिया जाए तो उनकी संख्या सब मिलाकर 50 के आस-पास होतीहैं।"[1] दिगम्बरों में उक्त साहित्य का सिर्फ नाम मिलता है। वस्तुतः इन नामों के ग्रंथ इनके पास नहीं हैं। जैनों का सिद्धान्तेतर साहित्य भी प्राप्त होता है जिसका वल्लभी की संगीति में देवर्द्धिगण ने जो सिद्धान्त-ग्रंथों का संकलन किया था, उनसे बहुत पहले से ही जैन आचार्यों के ग्रंथ लिखे का प्रमाण पाया जाता है। साधारणतः ये ग्रन्थ प्राकृत में लिखे जाते रहे, पर संस्कृत में भी सन् ईसवी के बाद प्रवेश पाया।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल की अमूल्य निधि जैन साहित्य है। जिसने आदिकाल की भाषा को सुरक्षात्मक रूप प्रदान किया है। जैन साहित्य के रचनाकाल के समय भी परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं थीं। जैनियों द्वारा अधिकांश साहित्य विलास और श्रृंगार से हटकर आत्म समर्पण और उत्सर्ग की भावना से अनुप्राणित जैन साहित्य के लगभग 500 ग्रंथ हमें प्राप्त होते हैं।

---

[1]डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० 174

परन्तु धार्मिक संकीर्णता के कारण संगठित जैन-धर्म सम्प्रदाय के प्रयत्न से जैनियों का अधिकांश साहित्य जैन मन्दिरों के भण्डारों में सुरक्षित रहा। जैन साहित्य हमें काफी समय बाद प्राप्त हुआ है, क्योंकि जैन मन्दिर के पुजारी - पण्डित अपने साहित्य को बाहर नहीं लाना चाहते थे। धीरे-धीरे समय बदला, मानसिकता में भी परिवर्तन आया और मन्दिरों के भाण्डारों का जैन साहित्य प्रकाश में आया। शोध करने पर गुजरात, बीकानेर, जैसलमेर, अजमेर, अहमदाबाद और जयपुर आदि स्थानों में यह आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुआ। इसकी जन्मदात्री भाषा अपभ्रंश है। जिसका जन्म प्राकृत से हुआ है। अपभ्रंश भाषा तो साहित्य के लिए वरदान सिद्ध हुई है, जिससे समस्त आधुनिक बोलियों का उद्भव हुआ है। "देश्य भाषाओं की समस्त क्रियाएँ एवं धातु रूप प्राकृत संस्कृत संभूत अपभ्रंश के ढले हैं, इतना ही नहीं, हिन्दी को तो अपभ्रंश में कई वरदान व अमूल्य देन प्राप्त हुई है। हिन्दी के विकास के अध्ययन के लिए अपभ्रंश का साहित्य बहुपयोगी है, क्योंकि अपभ्रंश में प्राचीन भाषा अथवा हिन्दी कहा जाने वाला स्वरूप यथावत् विद्यमान है, और अपभ्रंश में प्राचीन हिंदी का गद्य का मूल सुरक्षित है। हिन्दी के लिए अपभ्रंश की यह सेवा सुरक्षा की

दृष्टि से कम महत्वपूर्ण नहीं है ।"[1]

अत: अपभ्रंश भाषा उस वृक्ष के समान है, जिसकी शाखाएँ - उप शाखाएँ समस्त भाषाओं के वांगमय को उद्भूत तथा विकसित करती है । इस भाषा को जैनियों ने साहित्य का माध्यम बनाने का भरसक प्रयास तथा प्रयोग किया है । जैन धर्म के दो सम्प्रदाय श्वेताम्बर तथा दिगम्बरों के द्वारा साहित्य का सृजन कार्य हुआ । किन्तु हमें दिगम्बरों द्वारा प्रस्तुत साहित्य अधिकांशतया मिलता है । वैसे श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा भी कुछ साहित्य लिखा गया है । दिगम्बर साधुओं और कवियों का क्षेत्र दक्षिण भारत और मध्य देश रहा है ।

जैनियों के साहित्य को धार्मिक साहित्य समझकर उपेक्षा के साथ छोड़ नहीं देना चाहिए, जैसाकि काफी समय तक होता रहा है । जैन साहित्य में सामाजिक एवं लोकोपयोगी साहित्य भी सृजित हुआ है। "श्रृंगार, वीर, शान्त, स्तुपरक, योगपरक, व्याकरण, वैद्यक, इतिहास, मनोविनोद, शिक्षा आदि अनेक साहित्य और साहित्येतर विषयों से

---

[1] श्री मद् राजेन्द्र सूरि स्मारक ग्रंथ; पृ0 620 पर श्री अगर चंद नाहटा और दौलत सिंह लोढ़ा मुरविन्द द्वारा लिखित हिन्दी जैन साहित्य पर लेख

सम्बन्धित ग्रंथ उपलब्ध होते हैं । रचनाकाल की दृष्टि से ये रचनाएं ।।वीं से 15 वीं शताब्दी के हर चरण का प्रतिनिधित्व करती हैं । इसमें विशाल-काय प्रबन्ध-काव्यों के अलावा खण्ड काव्य और मुक्तक भी मिलते हैं । इन चरित काव्यों के अध्ययन से परवर्ती काल के हिन्दी साहित्य के कथानकों कथानक-रूढ़ियों, काव्य रूपों, कवि प्रसिद्धियों, छन्द-योजना, वर्णन शैली, वस्तु विन्यास, कवि कौशल आदि की कहानी बहुत स्पष्ट हो जाती है । इसीलिए इन काव्यों से हिन्दी साहित्य के विकास के अध्ययन में महत्वपूर्ण सहायता प्राप्त होती है ।"[1] इस प्रकार अपभ्रंश भाषा और साहित्य की समृद्धि में जैन कवियों का बहुत बड़ा सहयोग है इनके द्वारा रचित साहित्य को डा0 वासुदेव सिंह ने निम्न भागों में वर्गीकृत किया है उसकी रूप रेखा इस प्रकार है —

---
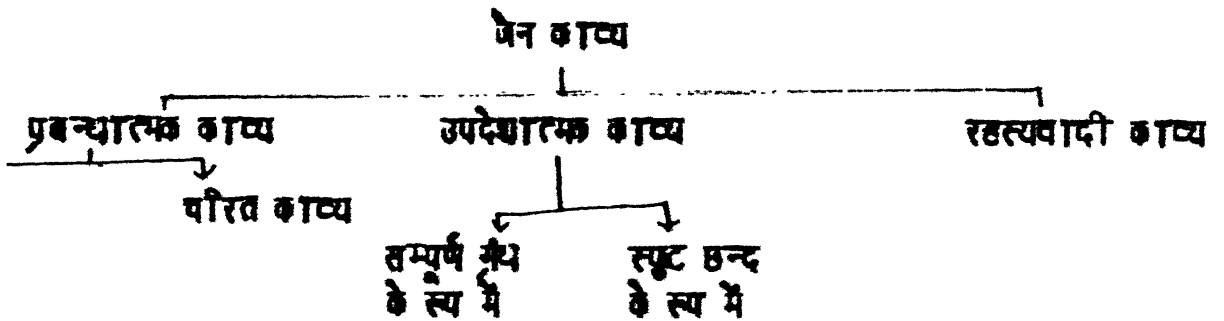
[1] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य पृ0 21

"प्रबन्धात्मक काव्यों और रहस्यवादी काव्यों में भाषा की दृष्टि से एक स्पष्ट अन्तर मिलता है। यद्यपि दोनों प्रकार के काव्यों के रचयिता समकालीन जैन कवि ही थे अर्थात् अधिकांश का समय 8 वीं शताब्दी से 12 वीं - 13 वीं शताब्दी के मध्य था तथापि एक की भाषा शिष्ट या परिनिष्ठित अपभ्रंश है और दूसरे की भाषा ग्राम्य अपभ्रंश, लोक भाषा या पुरानी हिन्दी। दोनों वर्ग की रचनाओं में जो भाषागत अंतर है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वस्तुत: एक प्राकृत के निकट है और दूसरी हिन्दी के।"[1]

इस प्रकार दो रूपों में हिन्दी साहित्य में इन रचनाओं का महत्व है। पहला काव्य रूप, छन्द विधान, तथा काव्य रूढ़ियों की दृष्टि से, दूसरे रूप में भाषा और साहित्य की दृष्टि से ऐतिहासिक धरोहर के रूप में महत्वपूर्ण है, ये प्राचीन हिन्दी की महत्वपूर्ण धरोहर है प्रस्तुत है आदिकालीन जैन साहित्य का विवरण —

<u>प्रबन्ध काव्य</u> — जैन कवियों ने प्रबन्ध काव्य की रचना की।

---

[1] हिन्दी साहित्य का उद्भव काल - डा० वासुदेव सिंह पृ० 117

ये समस्त काव्य धार्मिक भावना से अत्यधिक ओत प्रोत हैं चाहे वह पुराण हो या चरित काव्य। इन काव्यों के नायक भी जैन धर्म के पौराणिक पात्र हैं या फिर उस धर्म में अपनी सम्पूर्ण निष्ठा रखने वाले मनुष्य हैं। डा० देवेन्द्र कुमार जैन के अनुसार - "कथा कह कर कुतूहल जगाना या मात्र मनोविनोद करना उनका लक्ष्य नहीं था। वे ऐसे कथा साहित्य की रचना करना चाहते थे, जिससे काव्य कला के विधान और उद्देश्य की पूर्ति के साथ नैतिकता और धार्मिक उद्देश्य भी प्रतिफलित हो जाए।"[1] डा० देवेन्द्र कुमार जैन के मत से शत प्रतिशत सहमत नहीं हुआ जा सकता लेकिन फिर भी हम जैन साहित्य को उस समय की काव्य शैलियों तथा विचारों को जानने के लिए माध्यम के रूप में प्रयोग कर सकते हैं जोकि इतिहास को समझने के लिए नितान्त आवश्यक भी है, भले ही हम उनकी कृतियों को शुद्ध साहित्य का दर्जा न दें इतिहास में उनका उल्लेख आवश्यक है इसके अन्तर्गत प्रमुख कवि और उनकी रचनाएं इस प्रकार हैं —

---

[1]अपभ्रंश भाषा और साहित्य पृष्ठ 85 - 86

स्वयंभू देव — स्वयंभू देव अपभ्रंश के बड़े यशस्वी कवि हैं । इनका समय आठवीं शताब्दी है उनके जीवन काल में ही उन्हें "कवि राज चक्रवर्ती", छन्दस चूड़ामणि" आदि उपाधियाँ मिल गई थीं । स्वयंभू रचित छः ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है जिसमें "सुध्य चरिय", "पंचमि" और "स्वयंभू व्याकरण" आज तक प्राप्त नहीं हुए हैं । प्राप्त रचनाएँ तीन हैं ।"पउमचरिउ" [रामकथा], "रिट्ठणेमि चरिउ" [कृष्ण कथा] और "स्वयंभू छन्द" [प्राकृत तथा अपभ्रंश कवियों के छन्द संकलित करके कवि का विवेचन] है । इसमें "पउमचरिउ" सर्वाधिक प्रसिद्ध प्रबन्ध काव्य की श्रेणी में आता है ।

पुष्पदन्त: — दसवीं शताब्दी में ही अपभ्रंश के सर्वश्रेष्ठ कवि पुष्पदन्त का आविर्भाव हुआ । महाकवि पुष्पदन्त के पिता का नाम केदार भट्ट और माता का नाम मुग्धा देवी था । इनके पिता प्रारम्भ में शैव थे किन्तु बाद में जैन मुनि से प्रभावित हो कर जैन धर्म में दीक्षित हो गये —

> सिव भत्ताइं मि जिण सण्णासे वे वि मयाइं दुरियणिण्णासें ।
> बंभणाइं कास वरिसी गोत्तइं गुरुवयणमिय पूरियसोत्तमं ।। [1]

---

[1] णायकुमारचरिउ

पुष्पदन्त देखने में सुन्दर नहीं थे[1] किन्तु पूरे आत्माभिमानी थे । इसीलिए उन्होंने अपने नाम के साथ "अभिमानमेरु", "काव्यरत्नाकर" और कवि कुलतिलक जैसे विरुद लगाये । पुष्पदन्त एक समय अपने आश्रयदाता से रुष्ट हो कर वन में चले गये और वहाँ निम्नलिखित छन्द की रचना की —

> गिरिकन्दरा घासु खज्जइ, गउ दुज्जन भउहा वंकियाइं, दीसंतु कलुसभावंकियाइं ।
> वर णारवरु धवलच्छिहे होंतु म कुच्छिहे मरउ सोणिमुहणिग्गमे ।
> खल कुच्छिय पहुवयणाइं भिउडियणयणाइं मणिहालउ सूरूग्गमे ।।

(गिरी-कन्दराओं में घास खाकर रहना उचित है किन्तु दुर्जनों की टेढ़ी भौंहें देखना अच्छा नहीं है माँ के गर्भ से पैदा होते ही मर जाना उत्तम है । किन्तु राजा की टेढ़ी भौंहें स्वयं नेत्र देखना तथा उसके दुर्वचन सुनना उचित नहीं ।)[2]

पुष्पदन्त राष्ट्रकूट वंश के महाराजा कृष्ण के महामात्य भरत और भरत के पुत्र नन्न थे जो भरत के पश्चात् महामात्य हुए, इन दोनों आश्रयदाताओं के दरबार में कवि रहे । पुष्पदन्त द्वारा रचित "महापुराण"

---

[1]उत्तर पुराण, ।।

[2]हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० 8।

{तिसाट्ठ महापुरिस गुणालंकार या त्रिषष्टि महापुराण गुणालंकार} "जसहर चरिउ" {यशोधर चरित} "णाय कुमार चरिउ" तथा "कोष" है जिसमें प्रथम तीन का प्रकाशन भी हो चुका है ।

{क} <u>महापुराण</u> :- इसमें दो खण्ड - आदि पुराण और उत्तर पुराण/आदि पुराण में 80 और उत्तर पुराण में 42 संधियाँ हैं । इसमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ वासुदेव, नौ बलदेव और नौ प्रति वासुदेवों की कथा है । इस प्रकार इसमें तिरसठ {63} महापुरुषों के चरित्र का चित्रण है ।

{ख} <u>णाय कुमार चरित</u> :- {नाग कुमार चरित्र} यह ग्रन्थ महामात्य नन्न की प्रेरणा से लिखा गया यह एक खण्ड काव्य है । जिसमें नौ संधियाँ है । श्रुत पंचमी के उपवास का फल कहने वाले नागकुमार का चरित्र इनका विषय है ।

{ग} <u>जसहर चरिउ</u> :- {यशोधर चरित्र} इसमें यशोधर कथा कही गई है तथा हिंसा के भयंकर परिणाम बतायें गये हैं । यह खण्ड काव्य भी "णायकुमार चरिउ" के समान है ।

(घ) कोष :- यह देशज शब्दों का एक कोष है। इसमें महाकवि का भाषा पर अधिकार ज्ञात होता है।

महाकवि पुष्पदन्त एक महान पंडित और प्रतिभाशाली कवि थे। इनका काव्य-पक्ष अत्यन्त विस्तृत और उत्कृष्ट था। अलंकारों का प्रयोग इनकी निरीक्षण और अध्ययन शक्ति का परिचायक है।

पद्मकीर्ति :- पद्मकीर्ति ने "पासचरिउ" नामक काव्य की रचना की, जिसमें बाइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित्र वर्णन किया है। इनका रचना समय सं0 992 वि0 है। इनकी रचना की हस्तलिखित प्रति आमेरशास्त्र भण्डार, जयपुर में सुरक्षित है कवि ने अपने को जिनसेन का शिष्य बताया है।

माइल्ल धवल :- श्री माइल्ल धवल देवसेन के शिष्य थे। इन्होंने अपने गुरु की रचना "नयचक्र" (जो उपदेशात्मक जैन साहित्यकी रचना है) के अपने ग्रन्थ "दव्व सहाव पयास" में अन्तर्भावित कर उसे माहा रूप दिया। इनका समय दसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है इन्होंने "हरिवंश पुराण" की भी रचना की जिसमें 1800 ह श्लोक हैं इन्होंने जैन धर्म के चरित नायकों का वर्णन भी किया है।

इन प्रमुख प्रबन्ध काव्य कृतियों के अतिरिक्त जैन चरित काव्यों में हरिषेण कृत धम्मपरिक्ख [वि०सं० 1040], नयनन्दि कृत "सुदर्शन चरित" [सं० 1100] मुनि कनकामर विरचित "करकंडचरिउ" [12 वीं शताब्दी] श्रीधर कृत "पासणाह चरिउ" [12वीं शताब्दी], कवि लाखू कृत "जिन दत्त चरिउ" [13 वीं शती] तथा हरिभद्र सूरि कृत "सनत्कुमार" चरिउ [13 वीं शताब्दी] मुख्य है ।

इन समस्त चरितकाव्य का उद्देश्य जैन धर्म की विशेषताओं तथा महत्व को स्पष्ट करना है । परन्तु इनका साहित्यिक महत्व अल्पमात्र है ।

उपदेशात्मक काव्य :- जैन कवियों ने चरित काव्य के अतिरिक्त नीति तथा उपदेशात्मक साहित्य भी लिखा, जो दो रूपों में प्राप्त होता है - सम्पूर्ण ग्रन्थ के रूप में और विभिन्न संग्रहों में स्फुट छन्दों के रूप में, नीति तथा उपदेश प्रधान रचनाओं में प्रमुख कवि तथा उनकी कृतियाँ इस प्रकार हैं —

आचार्य देवसेन :- देवसेन दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्य थे । इनका समय दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में माना जाता है । इन्होंने "दर्शनसार"

"तत्वसार", "भाव संग्रह", "नयचक्र" तथा "सावयधम्मदोहा", कृतियाँ लिखीं जो जैनियों में पर्याप्त सम्मान प्राप्त कर चुकी हैं। इसमें "सावयधम्म-दोहा" जो दसवीं शताब्दी में लिखा गया नीति तथा उपदेश प्रधान रचनाओं में अपना प्रमुख स्थान रखता है। ये ग्रन्थ गृहस्थों के लिए था इसकी भाषा तथा सिद्धान्त प्रतिपादन शैली में व्यवहारिकता है —

दंसण रहित कुपत्ति जइ दिज्जइ तह कुभोउ ।
खार घडई अह पिपडियउ णीरू पि खारउ होउ ।।

[यदि दर्शन रहित कुपात्र को दान दिया जाए तो वह दान कु भोग ही देता है। खारे घड़े में डाला गया जल भी खारा हो जाता है।]

धम्मु करतंह होउ धण इत्थुण कायउ भंति ।
जलु कड्ढंतहं कूव यहं अवसइं सिर घडंति ।

[धर्मकर्ता के धन होता है इसमें किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं है। कुएं से पानी खींचने वाले के सिर पर घड़ा अवश्य होता है।

<u>जिनदत्त सूरि</u> :- श्री जिनदत्त सूरि श्री जिन वल्लभ सूरि की भाँति विधि मार्गी थे। ये धवलक [गुजरात] के निवासी थे। ये जाति के वणिक् थे, तथापि आगे चल कर जैन साधु हो गये थे। इनके ग्रन्थों में "चाँचरि", "कालस्वरूप कुलक" और उवस्स रसायण [उपदेश रसायन] प्रसिद्ध हैं।

इनका समय 1150 के लगभग माना गया इनकी रचना उपदेश रसायण रास ‖सं0 1200‖ उपदेशात्मक काव्य है । इसके अतिरिक्त महेश्वर सूरि की "संयम मंजरी" ‖ 12वीं शताब्दी ‖, विनयप्रभसूरि का "सोमन्धर स्वामि स्तवन" ‖ 14 वीं शताब्दी ‖ अन्य मुख्य नीति तथा उपदेश प्रधान काव्य है । इनके द्वारा चरित निर्माण, सामाजिक वातावरण को अच्छा एवम् आदर्शपूर्ण बनाने से सम्बन्धित उपदेश दिये गये हैं । इनमें कवित्व के अभाव के कारण शुष्कता तथा नीरसता आ गई है ।

इसके अतिरिक्त नीति तथा उपदेश से सम्बन्धित नाना प्रकार की उक्तियों वाले छन्द संग्रह मिलते हैं । उनमें निम्न ग्रंथ आते हैं । ‖क‖ हेमचन्द्र के व्याकरण का अपभ्रंश भाग, ‖ख‖ प्राकृत पैंगलम्, ‖ग‖ मेरुतुंगाचार्य कृत "प्रबन्ध चिन्तामणि" ‖सं0 1361‖, ‖ग‖ राजशेखर सूरि कृत "प्रबन्ध कोष" ‖वि0 सं0 1405‖ तथा ‖घ‖ पुरातन प्रबन्ध संग्रह आते हैं ।

हेमचन्द्र सूरि जैन सन्तों में सबसे प्रसिद्ध साहित्यकार हैं ये चंगदेव ‖असलीनाम‖ नाम से भी जाने जाते हैं । भाषा के प्रयोग और पाण्डित्य के दृष्टिकोण से इनका अद्वितीय महत्व है । संस्कृत, प्राकृत,

और अपभ्रंश का एक साथ प्रयोग इनके ज्ञान का स्पष्ट प्रमाण है । इनका जन्म सं0 1145 में हुआ । गुजरात के प्रकाण्ड विद्वान सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह [रा0 का0 सन् 1095-1143] ने इनका बड़ा सम्मान किया । उन्हीं के लिए हेमचन्द्र सूरि ने अपना व्याकरण बनाया, जो "सिद्ध हेम" या "सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन" नाम से प्रसिद्ध है । जिसमें इन्होंने पूर्ववर्ती कवियों से संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के उदाहरण दिये हैं । इस शब्दानुशासन का महत्व इसलिए है कि इसमें अपभ्रंश के पद्य पूरे के पूरे उद्धृत हैं —

भल्ला हुआ जु मारिया बहिण महारा कंतु,
लज्जेजंतु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु ।

"इस "सिद्ध हेम" व्याकरण 179 छन्द है, इसमें श्रृंगार रस के सुन्दर वर्णन, वीर रस के ओजस्वी कथन, नायिकाओं का सौन्दर्य वर्णन तथा भक्ति एवम् वैराग्यपूर्ण कथन मिलते हैं । इनके द्वारा तत्कालीन सामाजिक एवम् साहित्यिक वैशिष्ट्य को भली-भाँति जाना जा सकता है । दोहा छन्द में कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक बात कहना, इनकी अन्य विशेषता है ।"[1] इस "सिद्ध हेम" व्याकरण ग्रंथ के अतिरिक्त हेम चंद्र सूरि ने "देशी नाम माला"

---

[1]हिन्दी साहित्य का उद्भव काल : डा0 वासुदेव सिंह

छन्दानुशासन "कुमार पाल चरित" तथा योग शास्त्र नामक ग्रंथों की रचना भी की है परन्तु उपदेशात्मक-काव्य में "सिद्ध हेम" व्याकरण का ही महत्व है । इस व्याकरण को पूर्ण करने का समय वि0सं0 1195 का प्रारम्भ काल है ।

<u>रहस्यवादी काव्य</u> :- रहस्यवादी काव्यों की रचना हिन्दी साहित्य के प्रत्येक काल-खण्ड में विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखे गये इस चराचर विश्व का नियमन करने वाली उस "अज्ञात" "अव्यक्त" सत्ता की खोज मानव चिरकाल से करता चला आया है । उसे जगत की विभिन्न प्रक्रियाओं को संचालित करने वाली उस सत्ता का आभास तो होता रहा है । परन्तु निश्चित रूप से यह नहीं जान सकता कि वह कौन है ? उसका स्वरूप कैसा है ? वह कहाँ रहती है ? सांसारिक चक्र का नियमन कैसे करती है ? इसी अप्राप्त "ब्रह्म" को प्राप्त करने के लिए जैन मुनियों तथा आचार्यों के मन-मस्तिष्क में इन विचारों ने जन्म लिया उसी की प्रतिक्रिया स्वरूप इनके द्वारा रहस्यवादी काव्य का सृजन हुआ । जैन मत के प्रारम्भिक रूप में ही रहस्यवादी भावना के दर्शन होते हैं जैन धर्म के 24 तीर्थंकरों में ऋषभदेव, नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ आदि प्रमुख रहस्यवादी

हुए । तदनुपरान्त विभिन्न जैन कवियों ने इस परम्परा को बनाये रखा इसमें - कुन्दकुन्दाचार्य, स्वामी कार्तिकेय, पूज्यपाद, अमृतचन्द्र, गुणभद्र अमितगति आदि ने संस्कृत-प्राकृत की रचनाओं में रहस्य परक काव्य का सृजन किया । इस परम्परा में 8 वीं - 9 वीं शताब्दी के लगभग परिवर्तन का युग आया नवीन विचार धारा का जन्म हुआ प्राचीन पूर्व आचार्यों एवम् तीर्थंकरों के द्वारा निर्धारित कर्म-काण्डों के बन्धन से मुक्ति की भावना जागृत हुई तथा इस परम्परा पर अन्य बाह्य प्रभाव भी पड़ा, इसके परिणाम स्वरूप उस समय के आत्मदर्शी योगियों तथा सिद्धों ने पाखण्ड आडम्बर का प्रतिरोध किया उन्होंने आत्मशुद्धि पर बल दिया, आत्मा की तीन अवस्थाएँ मानी गई - बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा । जिसमें अज्ञान और मोह बाधक है जो अपना कल्याण न कर सके वह है बहिरात्मा, विवेक की जागृति और रागद्वेष से निवृत्ति है अन्तरात्मा आत्मिक शक्ति को क्षीण करने वाले कारणों के क्षीण हो जाने पर परमात्मा अवस्था का प्रादुर्भाव होता है । रत्नत्रय ‖सम्यक् दर्शन, सम्यक ज्ञान, सम्यक चरित्र‖ के अभाव, प्रादुर्भाव और विकास के कारण आत्मिक शक्ति क्षीण होती है । सम्यक् दर्शन के न रहने पर भी जीव में सदैव ज्ञान स्थित रहता

है और बन्धनों से मुक्त होने पर सम्यक् ज्ञान का उदय भी जीव में होता है । जीव का कभी नाश नहीं होता है । शरीर समाप्त होता है जीव नहीं । इसके अतिरिक्त इन्होंने शरीर को ही सभी साधनाओं का केन्द्र बिन्दु के रूप मे स्वीकार किया है समरसी भाव से स्वसंवेदन आनन्द के उपभोग का वर्णन किया गया । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का विश्वास है कि "अगर उनकी रचनाओं के ऊपर से "जैन" विशेषण हटा दिया जाय तो वे योगियों और तान्त्रिकों की रचनाओं से बहुत भिन्न नहीं लगेंगी । वे ही भाव और वे ही प्रयोग घूम फिर कर उस युग के सभी साधकों के अनुभव मे आया करते थे ।"[1]

हिन्दी जैन साहित्य मे रहस्यवादी काव्य के अन्तर्गत उस समय की प्रचलित लोक भाषा अथवा पुरानी हिन्दी की दृष्टि से योगीन्द्र मुनि, मुनिराम सिंह, लक्ष्मीचन्द्र विशेष रूप से महत्वपूर्ण है । इनके अतिरिक्त आनन्दतिलक, महमीन्दरा मुनि भी इस परम्परा में आते हैं प्रस्तुत है प्रमुख मुनियों का विवरण :-

---

[1] मध्यकालीन धर्म साधना, पृ0 43

योगीन्दु मुनि :- जोइन्दु, योगीन्दु या योगचन्द मुनि के जीवन काल के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है इनके आविर्भाव पर विद्वानों का मतभेद है । "अपभ्रंश काव्यत्रयी" की भूमिका में इन्हें प्राकृत व्याकरण के रचनाकार चण्ड से पहले इनका समय विक्रम की छठीं शताब्दी ठहराया गया है । मधुसूदन ने उनको दसवीं शती का कवि बताया है । देवेन्द्र कुमार जैन तथा उनके पूज्यपाद और चन्द्र के बीच छठी सदी का बताया है ।[2] हजारी प्रसाद द्विवेदी इनको आठवीं नवी शताब्दी का कवि मानते हैं ।[3] उदय सिंह के भटनागर के मत से "प्रसिद्ध जैन साधु योगीन्दु, जो एक महान् विद्वान वैयाकरण और कवि था, उसका समय विक्रम की दसवीं सदी का था ।[4]

---

[1]अपभ्रंश पाठावली, टिप्पणी, पृ0 77 ।

[2]अपभ्रंश भाषा और साहित्य, पृ0 80

[3]मध्यकालीन धर्म साधना, पृ0 44

[4]राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज [तृतीय भाग] की प्रस्तावना, पृ0 3

कामता प्रसाद जैन ने उन्हें बारहवीं शताब्दी का "पुरानी हिन्दी" का कवि माना है।[1] डा० रामसिंह तोमर "निश्चित प्रमाणों के अभाव में इन्हें हेमचन्द्र के पूर्व[2] का कवि मानते हैं। श्री ए० एन० उपाध्ये ने योगीन्द्र मुनि पर विचार से चर्चा की और इनका समय छठी शताब्दी निश्चित किया।[3] योगीन्दु मुनि प्रसिद्ध दोहाकार थे इनके कुछ दोहों को "सिद्धों और नाथ योगियों के विचारों से प्रभावित देखा जा सकता है। योगीन्दु की रचनाओं में वही शब्दावली और वैसे ही प्रयोग पाये जाते हैं, जो योगियों, सिद्धों और तान्त्रिकों की विशेषताएँ हैं। आठवीं शताब्दी के पूर्व सिद्धों अथवा योगियों के अस्तित्व का पता नहीं चलता।"[4] कुछ विद्वान इन्हें भाषा की दृष्टि से आठवीं शताब्दी के पूर्व का बताते हैं। परन्तु इनके ग्रन्थ "परमात्मा प्रकाश" और "योगसार" की भाषा बहुत साफ सुथरी है, इस भाषा में हिन्दी अपने स्पष्ट रूप में आने को प्रस्तुत हुई जान पड़ती है। यह परीनिष्ठित अपभ्रंश में नहीं लिखा गया है जैसे-

---

[1]हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० 54

[2]प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य, पृ० 76

[3]परमात्म प्रकाश की भूमिका पृ० 67

[4]हिन्दी साहित्य का उद्भवकाल डा० वासुदेव सिंह पृ० 122

देहादिउ जे परि कहिया ते अप्पाणु होहिं ।
इउ जाणे विण जीव तुहं अप्पा अप्प मुणेहिं ।। ।। ।।

(योगसार)

इस दोहे में अधिकतर शब्द हिन्दी के ही हैं । इस प्रकार योगीन्दु मुनि का समय आठवीं शती का अन्त अथवा नवीं शती का प्रारम्भ है ।[1]

ग्रन्थ :- श्री ए0 एन0 उपाध्ये ने योगीन्दु मुनि के सम्बन्ध में विस्तार से कार्य किया है उनके अनुसार योगीन्दु रचित नौ ग्रन्थ की सूची है — (1) परमात्म प्रकाश, (2) योगसार, (3) नौकार श्रावकाचार, (4) अध्यात्मसंदोह, (5) सुभाषित तन्त्र, (6) तत्वार्थ टीका, (7) दोहा पाहुड, (8) अमृताशीति और (9) निजात्माष्टक इसमें अमृताशीति उपदेश प्रधान रचना है, जिसके अन्त में "योगीन्दु" शब्द आया है किन्तु यह मुनि योगीन्दु की ही रचना है इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता है । "निजात्माष्टक" प्राकृत भाषा का ग्रन्थ है । इसके रचनाकार का कोई उल्लेख नहीं मिलता है नौक श्रावकाचार या सावयधम्म दोहा, देवसेन की रचना है । दोहा पाहुड मुनि राम सिंह की रचना है । उपर्युक्त रचनाओं

---

[1]अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद - डा0 वासुदेव सिंह पृ0 39-42

में अध्यात्मसंदोह, सुभाषित तन्त्र, तत्वार्थ टीका नोटिस मात्र है । इस प्रकार योगीन्दु मुनि के दो ग्रन्थ ही रह जाते हैं — "परमात्म प्रकाश" और "योगसार" । परमात्मा प्रकाश दो महाधिकारों में विभक्त है यद्यपि विषय दोनों में एक समान ही है । किसी भट्ट प्रभाकर शिष्य के ईश्वर, आत्मा मोक्ष, विषयक प्रश्नों का उत्तर देने के लिए योगीन्दु ने कृति की रचना की है । परमात्मा को वे ज्ञानमय, नित्य, निरंजन रूप बताते हैं, योग, वेद शास्त्रों से वह परमात्मा नहीं जाना जा सकता, वह निर्मल ध्यान का विषय है ।[1] वह ब्रह्म देह में निवास करता है किन्तु मन इन्द्रियादि के व्यापरों से वह भिन्न है । समाधि द्वारा उस परमात्मा के अनुभव से पूर्व संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं । वह समस्त जगत में व्याप्त है किन्तु उसे हरि-हर भी नहीं जानते । वह निर्लिप्त है ।[2]

आत्मा के सम्बन्ध में योगीन्दु ने कहा है कि आत्मा सर्वगत जड़ भी है परम शरीर प्रमाण भी है और शून्य भी है ।[3] इस प्रकार परमात्म प्रकाश दो महाधिकार में विभक्त है । पहले महाधिकार में 123 तथा दूसरे

---

[1] परमात्म प्रकाश पद्य 11,24

2 वही पद्य 25,49

3 वही पद्य 50-58

महाधिकार में 214 दोहे हैं । इन दोहों का स्वर नाथ योगियों के स्वर से अत्यधिक मिलता है । भाषा, भाव, शैली की दृष्टि से ये दोहे निर्गुणियाँ साधकों की श्रेणी में ही आते हैं ।

"योग सार" - परमात्म प्रकाश के समान ही योग सार का विषय भी अध्यात्म प्रधान है । प्रारम्भ में आत्मा के तीन भेदों का निरूपण करते हुए परमात्मा के ध्यान का आग्रह किया है । आगे पाप पुण्य दोनों ही प्रकार के कर्मों को त्यागकर आत्मध्यान को मोक्ष प्राप्ति का साधक बताया है । आत्मा का निरूपण करते हुए योगसार में कहा गया है कि वह सर्वव्यापक है उसे देवालय, पत्थर-मूर्तियों, तीर्थों में खोजना व्यर्थ है वह देह में रहता है । शास्त्र-ज्ञान आदि निस्सार हैं । इसी प्रकार संसार के सभी बन्धन दुःखदायी हैं । सांसारिक बन्धनों तथा पाप-पुण्यादि को त्याग करने वाले सच्चे ज्ञानी हैं । आत्मास्वरूप में रमने वाला योगी निर्वाण प्राप्त करता है और मोक्ष प्राप्त करता है । मोक्षसुख का स्वरूप एक पद्य में इस प्रकार बताया गया है :-[1]

---

[1]डा० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित परमात्म प्रकाश के साथ प्रकाशित

[illegible] ,
जै पिंदीह ताण्डु कवि तो सिव सुक्ख भणीत ।।

योगसार के पद्यों की रचना मोक्ष की कामना करने वाले आत्मसंबोधनार्थ हुई है । योगीन्दु की कृतियों का प्रमुख छन्द दोहा है । योगसार में के 108 पद्यों में केवल तीन पद्य अन्य छन्दों में है । योगीन्द्र ने अपनी कृति को दोहबद्ध होने का उल्लेख किया है । योगीन्दु की इन दोनों कृतियों को ए0 एन0 उपाध्ये ने सम्पादित करके रामचन्द्र जैन शास्त्र माला में प्रकाशित कराया है ।

योगीन्दु मुनि जैन धर्म के प्रमुख रहस्यवादी साधक थे । "इनके द्वारा प्रचारित साधना - पथ उदार और व्यापक है । अन्य रहस्यवादियों से वह भिन्न नहीं है । वाह्य आचार, कर्मकाण्ड, तीर्थव्रत, मूर्ति का बहिष्कार, देहरूपी देवालय में ही ईश्वर की स्थिति बताना तथा अपनी देह में स्थित परमात्मा की अनुभूति पाकर परम समाधि द्वारा सहजसुख प्राप्त करना इनकी साधना के मुख्य स्वर हैं । इन जैन संतों ने अत्यन्त सरल, आडम्बरहीन भाषा और शैली में अपने साधना पक्ष तथा उपदेशों को प्रकट किया है । इस धारा के ज्ञात कवियों में योगीन्दु सबसे प्राचीन है ।" योगीन्दु मुनि की अपभ्रंश लोकभाषा के स्वरूप को प्रस्तुत करती है

शास्त्रीय और साहित्यिक अपभ्रंश का नहीं; जिसमें यत्र तत्र देशी प्रयोग भी मिल जाता है ।

योगीन्दु का क्षेत्र जैन धर्म का पिष्ट पेषण और व्याख्या करना ही नहीं था । उन्होंने इस मत की रूढ़ियों का विरोध किया, साथ ही दूसरे धर्मों के प्रचलित शब्दों को भी अपनाया और उन्होंने आत्मा की तीन अवस्थाएँ बताई है - पहली बहिरात्मा, दूसरी अन्तरात्मा व तीसरी अवस्था परमात्मा है, जिसको प्राप्त करना ही परम उद्देश्य व लक्ष्य है । उसकी प्राप्ति के लिए किसी आडम्बर की भी आवश्यकता नहीं । उन्होंने तीसरी अवस्था को प्राप्त करने का मार्ग भी बतलाया । जो व्यक्ति निर्मल हृदय का होगा वहाँ परमात्मा का वास होगा ही । उसकी प्राप्ति के लिए जप, तप व ध्यान लगाने की आवश्यकता नहीं, तीर्थाटन के नाम पर जगह-जगह घूमने की आवश्यकता नहीं । वह परम ब्रह्म परमात्मा एक ही तत्व है, जिसे उन्होंने निरंजन, शिव, विष्णु, ब्रह्मा इत्यादि नामों से विभूषित किया ।

मानसरोवर के हंस की तरह निर्मल चित्त में ब्रह्म का वास होता है उसे कहीं ढूँढना व्यर्थ है -

देउण देवले रावि सिलए रावि लिथइ रावि चित्त
अखउ रिारंजरा राारराम्ज सिउ संठिउ सम चित्त

॥123॥ ॥परमात्म प्रकाश
प्रथम महा0॥

जब मन ईश्वर से मिल जाता है और ईश्वर मन से मिल जाता है दोनों समरस हो जाते हैं । तब किसी प्रकार की पूजा इत्यादि की आवश्यकता नहीं रह जाती । जब मन परमेश्वर से विलीन हो जाता है और परमेश्वर मन से तब पूजा विधान की आवश्यकता पड़ती है । क्योंकि दोनों समरस हो जाते हैं ।

मणु मिलियउ परमेसरहं, परमेसर वि मणस्स ।
बीहि वि समरस हूवाहं, पुज चडावउं कस्स ॥12 ॥

अतः योगीन्दु भाषा कवि है इन्होंने परिनिष्ठित या क्लिष्ट अपभ्रंश को न अपना कर जन सामान्य मे व्यवहृत भाषा मे कविता की । श्री ए0 एन0 उपाध्ये ने आपके सम्बन्ध मे ठीक ही लिखा है कि "उच्चकोटि की रचनाओं मे प्रयुक्त की जाने वाली संस्कृत तथा प्राकृत भाषा को छोड़कर योगीन्दु का उस समय की प्रचलित भाषा को अपनाना महत्व से खाली नहीं है इस दृष्टि से वे महाराष्ट्र के सन्त ज्ञानदेव, नामदेव

तुकाराम, एकनाथ और रामदेव तथा कर्नाटक के वसवन्न आदि साधकों की कोटि मे आते हैं, क्योंकि वे भी इसी प्रकार मराठी और कन्नड़ मे अपनी अनुभूतियों को बड़े गर्व से व्यक्त करते है ।"[1]

<u>लक्ष्मी चन्द्र</u> :- लक्ष्मी चन्द्र द्वारा रचित आमेर शास्त्र भण्डार मे एक हस्त लिखित अन्य कृति "दोहाणुपेहा" या "दोहानुपेक्षा" प्राप्त हुई है प्रस्तुत रचनाकर लक्ष्मीचन्द्र के सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है । न ही मूल रचना मे कवि के नाम का कहीं भी पता नहीं चलता है । मात्र कुछ आधारों पर इनके रचनाकार का निर्धारण किया जा सकता है । परमानन्द जैन ने अपने "अपभ्रंश भाषा के अप्रकाशित कुछ ग्रन्थ" मे "दोहानुपेक्षा" के रचयिता लक्ष्मीचन्द्र का उल्लेख किया है ।[2] "जैन हितैषी" (अंक 5-6) मे प्रकाशित "दिगम्बर जैन ग्रन्थकारों की सूची" मे एक लक्ष्मीचन्द्र का नाम आया है । ये अग्रवाल जाति के थे और संवत् 1033 मे विद्यमान थे । इनकी एक रचना "श्रावकाचार या दोहाछन्दोबद्ध" का भी उल्लेख किया गया है ।[3] यदि यही लक्ष्मीचन्द्र "दोहाणुपेक्षा" के

---

[1]परमात्म प्रकाश की भूमिका, पृ0 27

[2]अनेकान्त वर्ष 12, किरण 9, पृ0 296

[3] जैन हितैषी (अंक-5-6), पृ0 55

कर्त्ता हैं तो इनका प्रारम्भिक काल विक्रम की 11 वीं शताब्दी ठहरता है ।

"दोहानुप्रेक्षा" में 47 दोहा छन्द हैं । "प्रारम्भ के कुछ दोहों में जैन मत में स्वीकृत सिद्धों की वन्दना, आस्रव-संवर-निर्जरा आदि का वर्णन है । इन दोहों में नीरस सिद्धान्त कथन मात्र है । किन्तु बाद के दोहों में कवि की शैली योगीन्दु मुनि जैसी हो गई है, जब वह कहता है कि मोक्ष के लिए अथवा परमात्मा की प्राप्ति के लिए मन्दिर, तीर्थाटन, भ्रमण आदि की आवश्यकता नहीं है । परमात्मा का आवास देह रूपी देवालय में ही है ।"[1]

इस प्रकार राग-द्वेष छोड़कर उसी परमात्मा की आराधना करो, प्रस्तुत है इनका पद :-

सोहं सोहं जि हउ, पुणु, पुणु, अप्पु मुणेह ।
मोक्खहं कारण जोइण, अण्णउ म स चिंतेह ।। 35 ।।

हत्थ अहुट्ठ जु देवलि, तहि, सिव संतु मुणेइ ।
मूढा देवलि देव णवि, भुल्लउ काईं भमेइ ।। 38 ।।

---

[1]हिन्दी साहित्य का उद्भवकाल - डा0 वासुदेव पृ0 125

मुनि राम सिंह :- मुनि राम सिंह की कृति "पाहुड दोहा" का भी प्रधान विषय आध्यात्मिक रहस्यवाद ही है । डा० हीरा लाल जैन ने इनका सम्पादन करके सन् 1932 में कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसायटी, कारंजा बरार से प्रकाशित कराया है । "दोहा पाहुड" के भी मुनि रामसिंह लिखित होने में सन्देह उठाया गया है । इसको प्राप्त भिन्न-भिन्न हस्तलिखित प्रतियों में लेखक का अलग-अलग नाम मिलता है । डा० हीरा लाल जैन को दो प्राप्त प्रतियाँ हुई हैं । उसमें प्रथम दिल्ली वाली प्रति जिसमें लिखा है- "इति श्री मुनि रामसिंह विरचित पाहुडदोहा समाप्तं" और दूसरी प्रति कोल्हापुर वाली है जिसमें लिखा है - "इति श्री योगेन्द्र देव विरचित दोहा पाहुड नाम ग्रन्थ समाप्त ।" दोहा नं० 211 में भी रामसिंह का नाम आया है । डा० वासुदेव सिंह को "आमेर शास्त्र भाण्डार" में जयपुर कीएक हस्तलिखित प्रति प्राप्त होती है इस प्रति के अन्त में लिखा है — "इति द्वितीय प्रसिद्ध नाम योगीन्द्र विरचित दोहा पाहुडयं समाप्तानि ।" इस प्रति से कर्ता के सम्बन्ध में विवाद उत्पन्न हो जाता है कि योगीन्द्र मुनि और मुनि राम सिंह में क्या सम्बन्ध है ? दोनों व्यक्ति एक ही है या फिर अलग-अलग ? "परमात्म प्रकाश" में 40 दोहे "दोहापाहुड" के मिलते हैं । इसके द्वारा "दोहापाहुड" के कर्ता को योगीन्द्र मुनि समझ लिया

गया है । डा० वासुदेव सिंह के अनुसार - "इस सम्बन्ध में हमारा अनुमान है कि मुनि राम सिंह और योगीन्दु मुनि एक ही व्यक्ति के दो नाम रहे होंगे । रामसिंह पहले का नाम होगा और जब वह मुनि हो गए होंगे तो उनका नाम योगीन्दु हो गया होगा ।"[1] इस प्रकार के और भी उदाहरण भारतीय इतिहास और साहित्य में मिलते हैं परन्तु यहाँ पर यह सही नहीं है क्योंकि श्री ए० एन० उपाध्ये को "परमात्म प्रकाश" तथा योगासार ग्रंथों की जितनी भी प्रतियाँ प्राप्त हुई उसमें मुनि रामसिंह का नाम कहीं नहीं है और न ही "परमात्मप्रकाश" की प्राप्त प्रति जो वासुदेव सिंह को मिली उसमें भी इनका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है । अतः "मुनि रामसिंह" ही "पाहुडदोहा" के कर्ता है भले ही इनका दूसरा नाम "योगीन्दु" रहा हो जैन साहित्य में एक ही नाम से अनेक लेखक हुए हैं इसी कारण उनके समय तथा ग्रन्थों में एक दूसरे का भ्रम हो जाता है ।

दोहापाहुड का रचनाकाल भी स्पष्ट नहीं है । डा० हीरालाल जैन की प्राप्त प्रतियों के आधार पर उसमें एक स्थान पर

---

[1]पृष्ठ 126

सं0 1794 है । डा0 वासुदेव सिंह की जयपुर की प्राप्त प्रति में लिपिकाल सं0 1711 है । हेमचन्द्र, देवसेन, योगीन्द्र मुनि की रचनाओं में काफी समानता है कुछ ही अन्तर है । इस आधार पर पाहुडदोहा इनसे पूर्व की रचना है इस प्रकार इनका समय 12वीं शताब्दी के लगभग ठहरता है ।

"दोहापाहुड" में "पाहुड" शब्द (प्राभृत = उपहार दोहों का) जिसका अर्थ "समस्त श्रुत ज्ञान" है । प्रस्तुत कृति में क्रमबद्ध रूप से विषय विवेचन नहीं मिलता है । कृति के विवेच्य विषय का अध्ययन कुछ शीर्षक द्वारा प्रस्तुत किया गया है । इसमें गुरु-महिमा, आत्म सुख आत्मा और देह, समरसी भाव, सत्संग, अहिंसा आदि की प्रशंसा, शास्त्र, तीर्थ, मूर्तिपूजा आदि बाह्याडम्बरों का खण्डन एवं मन संयम तथा मोक्ष का प्रतिपादन है । आत्मतत्व के निरूपण तथा आध्यात्मिकता के सन्निवेश से इस काव्य की प्रवृत्ति रहस्यवादी हो गयी है । "पाहुड दोहा के 222 पद्यों में से 12 पद्य प्राकृत में है तीन पद्य संस्कृत में शेष पद्य अपभ्रंश में हैं, जिसमें 16 पद्यों को छोड़कर शेष दोहा छन्द में है । कृति की अपभ्रंश "शौर सैनी अपभ्रंश" कही जा सकती है । प्रस्तुत कृति के कुछ दोहे किंचित

परिवर्तन के साथ हेमचन्द्र व्याकरण में उद्धृत हुए हैं ।"[1]

मुनि राम सिंह जैन रहस्यवाद के बहुत बड़े कवि हुए । इनकी विचार धारा बहुत कुछ सिद्ध कवियों की विचार धारा से साम्य रखती है, इन्होंने तत्कालीन शैव शाक्त की शब्दावली का भी प्रयोग किया है । "वहकभी सहज भाव की बात करते हैं तो कभी सामरस्य अवस्था की, कभी शिव-शक्ति के अद्वय रूप की कल्पना करते हैं तो कभी रवि-शशि अथवा वाम दक्षिण की ।"

आत्मा और देह के सम्बन्ध में इनके अनुसार आत्मा अजरामर ज्ञानमय, सँत आत्मा को जान लेने पर और कुछ जानने को नहीं रहता, वह परमात्मा, अनन्त और त्रिभुवन का स्वामी है :-

णवि गोरउ णवि सामलउ ण वि तुहुँ एक्कु विवण्णु
ण वि तणु अंगउ थूलु णवि एहउ जाणि सवण्णु ॥ 30 ॥

तरुणउ बूढउ बालु हउँ सूरउ पंडिउ दिव्वु ।
खवणउ वंदउ सेवउ एहउ चिंति म सव्वु ॥ 32 ॥

---

[1]प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य तथा उनका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव
राम सिंह तोमर - पृ० 79

हिन्दी साहित्य का उद्भव काल - डा० वासुदेव पृ० 129

बाह्याचार का खण्डन करते हुए वे कहते हैं वस्त्र त्याग के दिगम्बर बन कर घूमने से ईश्वर की प्राप्ति सम्भव नहीं । भोग से युक्त द्रव्य-लिंगी मुनि तो उस सर्प के समान है जिसने कंचुली को छोड़ दिया है, किन्तु विष का त्याग नहीं किया है —

सप्पिं मुक्की कंचुलिय जं विसुतं ण मुएह ।
भोयह भाउण परिहरह लिंगग्गहणु करेइ ।। 15 ।।

इस प्रकार मुनि रामसिंह सच्चे साधक थे इनकी एक निश्चित विचारधारा मिलती है और उसके साथ ही इनके उपदेश, खण्डन-मण्डन और सुभाषितादि से युक्त पद्य भी मिलते हैं । आडम्बर हीनता और सरलता पद्यों की एक सामान्य विशेषता है ।

<u>हिन्दी साहित्येतिहास में जैन साहित्य का स्थान</u> :- हिन्दी साहित्येतिहास में जैन साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है इसमें विभिन्न काव्य-रूपों का दृष्टावलोकन होता है । रास, फागु, छप्पय, चौपाई, प्रबन्ध, गाथा, चच्चरी, गुर्वावली गीत, वर्णन, स्तुति, दोहा, बेलि, महात्म्य, उत्साह, अभिषेक, कलश, चैत्यपरिपाटी, सत, धवल, मंगल, छत्तीसी, बत्तीसी, अष्टक, वीनती, दीपक लता, बारहमासा, झूलना, लावनी,

बधावा, पवाड़ो चरित, आख्यान, ककहरा, अखरावट आदि अनेक प्रकार के शीर्षकों से काव्यरूपों का प्रयोग हुआ है ।

हिन्दी जैन साहित्य अपभ्रंश साहित्य की सीधी परम्परा में लिखा गया है, इसका कारण जैन धर्म है । इसमें समान कथानकों, कथानक रूढ़ियों और आचार-विचारों का प्रयोग हुआ है । डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपभ्रंश जैन काव्य के बहुत थोड़ा प्रभाव पड़ने की बात कही थी, परन्तु यदि हिन्दी के जैन साहित्य को दृष्टिपथ में रखा जाय तो यह प्रभाव बहुत अधिक हो जाता है । जैन धार्मिक साहित्य अपभ्रंश से निकली प्राचीन हिन्दी में है । प्रारम्भ की रचनाओं में अपभ्रंश का प्रचलित रूप ही अधिक पाया जाता है । इस प्रकार जैन साहित्य का महत्व जैन धर्म के प्रतिपादन की दृष्टि से ही नहीं वरन् भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी है । यह साहित्य अविकृत रूप मे प्राप्त होने के कारण भाषा के विकासात्मक अध्ययन के लिए सर्वाधिक प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत करता है । जैन साहित्य ने लोक भाषाओं को निरन्तर प्रश्रय दिया है, हेमचन्द्र सूरि का साहित्य इसका प्रमाण है ।

हिन्दी जैन साहित्य को प्राप्त होने वाली अधिकांश साहित्य सामग्री प्रामाणिक है उसकी मूल प्रतियाँ उपलब्ध हैं । प्राय: उसमें रचनाकाल, स्थान, कवि के सन्दर्भ में विवरण आदि का स्पष्ट उल्लेख मिल जाता है । यहीं सबसे बड़ा कारण है कि इन रचनाओं को हिन्दी साहित्येतिहास में महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है । डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है — "दसवीं शताब्दी से पहले की जो रचनाएँ नि:संदिग्ध रूप में हिन्दी की रचनाएँ मानी जाती हैं, उनमें प्राय: सबकी प्रामाणिकता संदिग्ध है, यदि किसी प्रकार उनके मूल रूप का पता लग भी जाय, तो भी वे मूल मध्यदेश के किनारे पर पड़े हुए प्रदेशों की रचनाएँ हैं, परन्तु इन जैन आचार्यों और कवियों की रचनाएँ नि:सन्देह मूल रूप में और प्रामाणिक रूप में सुरक्षित हैं, उनके अध्ययन से तत्कालीन साहित्यिक परिस्थिति पर जो प्रकाश पड़ता है वह वास्तविक और विश्वसनीय है इस दृष्टि से जैन रचनाओं का महत्व बहुत अधिक है ।"[1]

जैन साहित्य के इतिहास की सुरक्षा का प्रयत्न किया गया जो उस समय की जटिल समस्या थी| "ऐतिहासिक प्रबन्ध", जैन साहित्य की प्रमुख विधा है जिसमें इतिहास का सही रूप भले ही न हो परन्तु

उसमें जो किंवदन्तियों का संकलन तथा प्राचीन काव्य के दुर्लभ उद्धरण हैं वह आदिकाल के साहित्य पर प्रकाश डालते हैं। इस प्रकार साहित्यिक विकास में क्रम बद्ध अध्ययन के लिए जैन साहित्य की भूमिका महत्वपूर्ण है । अपनी विशाल संख्या के कारण यह साहित्य प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक चरण का प्रतिनिधित्व करने में समर्थ है, तथा उस युग की सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों की झांकी प्रस्तुत करने के लिए उपयोगी है डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में — इन चरित काव्यों के अध्ययन से परवर्ती काल के हिन्दी साहित्य के कथानकों, कथानक-रूढ़ियों, काव्य-रूपों, कवि-प्रसिद्धियों, छन्द-योजना, वर्णन-शैली, वस्तु-विन्यास, कवि-कौशल आदि की कहानी बहुत स्पष्ट हो जाती है । इसलिए इन काव्यों से हिन्दी साहित्य के विकास के अध्ययन में बहुत महत्वपूर्ण सहायता प्राप्त होती है । हिन्दी साहित्य का आदिकाल ही नहीं, भक्ति एवम् रीति युग भी अपभ्रंश साहित्य से प्रभावित हुआ है । विद्वान समीक्षकों ने अपभ्रंश साहित्य का परवर्ती हिन्दी साहित्य पर प्रभाव विशद ढंग से निरूपित किया है [1]

जैन साहित्य में धार्मिक -लौकिक, जैन-अजैन काव्य शैली में

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन आदिकालीन साहित्य की प्रवृत्तियाँ: डॉ0 जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल

अन्तर है जो इस प्रकार है —

§1§ जैन शैली की रचनाएँ किसी उद्देश्य पूर्ति के लिए लिखी गयी जिसमें धर्म का प्रतिपादन सबसे प्रमुख उद्देश्य सदैव उनके सामने रहा है इसी कारण अक्सर कवि उपदेशक के रूप में प्रस्तुत होता है। लौकिक शैली का मात्र उद्देश्य प्रेम-कथा कहना है।

§2§ जैन शैली में कथा के रोमांचक तत्व का प्राधान्य है इसीलिए आश्चर्यतत्व को अत्यधिक गति मिली है परन्तु लौकिक शैली में रोमांचक तत्व का समावेश वहीं तक हुआ है जहाँ वे कथा के विकास में सहायता प्रदान करते हैं।

§3§ जैन शैली में आवान्तर कथाओं की अधिकता है, इस कारण कथा में सरलीकरण नहीं है। परन्तु लौकिक शैली में आवान्तर कथाएँ मुख्य कथा में अच्छी तरह से मिश्रित होकर चित्रित की गयी हैं।

§4§ जैन शैली वर्णनात्मकता के अन्तर्गत अधिक है इसीलिए कथा कहने पर ही सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित हो जाता है इसके विपरीत लौकिक शैली में भावात्मक स्थलों को सुन्दर कलात्मक अभिव्यक्ति मिलती है।

§5§ जैन शैली के आचार्य मुनि किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्धित होने

के कारण श्रृंगार का चित्रण न कर उसका कथन कर दिया गया है परन्तु लौकिक शैली में श्रृंगार के संयोग - वियोग दोनों पक्षों तथा नखशिख वर्णन विस्तार से हुआ है ।

§6§ जैन शैली में प्रकृति वर्णन गौण है लौकिक शैली में षटऋतु तथा बारहमासे का वर्णन हुआ है ।

§7§ जैन शैली में प्रेम स्वरूप परम्परागत धारणाओं से बंधा हुआ है परन्तु लौकिक शैली में प्रेम का स्वरूप बहुत ही सूक्ष्म भावनाएँ के सन्दर्भ में हुआ है, जो मर्मस्पर्शी हैं ।

§8§ जैन शैली में न सुखान्त चित्रण है न दु:खान्त यह वैराग्यान्त है, जबकि लौकिक शैली की अधिकांश तथा रचनाएँ सुखान्त हैं ।

§9§ जैन शैली में बहुत सा साहित्य लिखा गया उसमें कुछ ही श्रेष्ठ उच्चकोटि की रचनाएँ हैं, जबकि लौकिक शैली में प्राय: श्रेष्ठ स्वस्थ प्रेम कथाएँ हैं ।

(घ) सूफी एवम् सन्त काव्य

(1) सन्त काव्य

मध्यकालीन हिन्दी सन्त कवियों का भक्ति से सम्बन्ध रखने वाली विचार धारा के अन्तर्गत विशेष महत्व है। "भक्ति" से सम्बन्धित काव्य की रचना करने वाले को "सन्त" एवम् उनके काव्य को "सन्त काव्य" कहा गया है, जिन्होंने निर्गुण सम्प्रदाय के अन्तर्गत काव्य रचना की। यह निर्गुण सम्प्रदाय उस युग की समस्त परम्पराओं से प्रभावित था जो दक्षिण भारत तथा उत्तर भारत में प्रचलित थी। "सन्त काव्य" अपने समय की सभी परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करने में सफल हुआ, परन्तु सभी परम्पराओं को अपना न सका। सन्तों ने सामान्य भाव भूमि पर धार्मिक प्रेरणाओं की अभिव्यक्ति जनभाषा द्वारा की है। इस प्रकार सन्त काव्य जन भाषा का सहारा लेकर राम और कृष्ण की भक्ति के लिए काव्य का मार्ग खोलता है। इससे पूर्व नाथ सम्प्रदाय भी जन भाषा के माध्यम से अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर चुका था, परन्तु यह क्षेत्र सीमित होने के कारण अपनी भाषा को व्यापकता प्रदान करने में असमर्थ रहा, साथ ही इसमें काव्यात्मकता का अभाव था। इसके विपरीत संत काव्य की

सफलता का कारण यह था कि उसमें सभी धार्मिक तत्वों का सहज-सरल सम्मिश्रण था । भाषा का स्वरूप व्यापक, जन-जीवन का स्पर्श करने वाला तथा उसमें काव्यात्मकता का प्रयोग भी हुआ था । इस प्रकार निर्गुण सम्प्रदाय की छत्र-छाया में पोषित जन-जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों को सामान्य भाषा के माध्यम से सन्त काव्य हिन्दी के भक्ति काव्य का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया । यह एक अटूट साहित्यिक परम्परा की एक कड़ी है, जिसमें औपनिषदिक "कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः" तत्व द्रष्टा कवियों से लेकर अद्यतन आध्यात्मिक कवि अन्तर्भुक्त हैं । ये भारतीय हिन्दू धर्म और संस्कृति के समुद्धारक हैं, क्योंकि जन साधारण के लिए दुर्बोध निगमागम के सार रूप उनकी सहज, सरल तथा सरस वाणी एक लम्बे समय से जन-जन को प्रभावित करती रही । इस कारण सही अर्थों में सन्त ही भारतीय संस्कृति, धर्म तथा नीति के उपदेशक तथा प्रचारक हैं । सन्त साहित्य मुसलमानों के सूफी दर्शन, शंकर के अद्वैतवाद, सिद्धों एवम् हठयोगियों के प्रभाव बुद्ध-वचन तथा उपनिषद से प्रभावित है ।

सन्त साहित्य की प्रकृति उदार एवम समन्वयात्मक रही है । इसके माध्यम से जनतान्त्रिक प्रवृत्तियों को पोषण मिलता रहा है ।

सन्त साहित्य की उत्पत्ति हमारे देश में उस समय हुई, जब जाति, धर्म व राष्ट्र में परस्पर वैषम्य की वृद्धि हुई । सन्त साहित्य ने अपने अवदानों से सर्वत्र समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया ।

मध्य कालीन हिन्दी सन्त कवियों की विचारधारा कोई नई विचार धारा नहीं है, इसकी पृष्ठभूमि 15वीं शताब्दी में अचानक तैयार नहीं हुई, यह तो 8वीं से 15वीं शती तक की परम्परागत चली आ रही विचारधारा का प्रतिफल है, अर्थात् सन्त कवियों के आचार-विचार, उनका अक्खड़पन, खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति, पुस्तकीय ज्ञान की उपेक्षा जाति-पाँति का विरोध बाह्याचार के प्रति अनास्था, आत्मशुद्धि पर बल, धार्मिक कट्टरता तथा दुराग्रह के प्रति खण्डन की भावना, समरसी भाव से स्वसम्वेदन ज्ञान पर/और आदि जो इन सन्तों ने कहा उसकी एक लम्बी परम्परा है, जो सहस्रों वर्षों से चली आ रही है" निर्गुण मतवादी सन्तों के केवल उग्र विचार ही भारतीय नहीं हैं, उनकी समस्त रीति-नीति, साधना, वक्तव्य वस्तु कि उपस्थापन की प्रणाली छन्द और भाषा पुराने भारतीय आचार्यों की देन है" [1]

सन्त काव्य के पहले कवि नामदेव माने जाते है जिनका समय 14वीं शती है । नामदेव ज्ञानदेव कि सम्पर्क में आकर निर्गुण वादी बने व

1· हिन्दी साहित्य की भूमिका - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ028

ज्ञानदेव की परम्परा गोरखनाथ से जोड़ी जाती है अतः सन्त काव्य प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से नाथों की विचारधारा से प्रभावित दिखाई देता है शुक्ल जी का यह कथन कि "कबीर के लिए नाथ पंथी योगी बहुत कुछ रास्ता दिखा गये थे" काफी सही है नाथों और सिद्धों से ली गई निर्गुण विचारधारा की परम्परा का मूल उपनिषदों से जुड़ता है सिद्धों नाथों तथा संतों ने प्रत्यक्ष रूप से उपनिषद वेदान्त सम्बन्धी अनेक भाष्यों अन्य शास्त्रीय प्रणालियों का अध्ययन भले हो न किया हो किन्तु इस प्रकार की शास्त्र सम्मत सैद्धान्तिक बातें साधकों को परम्परा से गुरु परम्परा से मौखिक परम्परा से उपलब्ध थी । इसलिए संतों का सैद्धान्तिक पक्ष उनके अनजाने ही शास्त्र सम्मत था । "निर्गुण नाम से उपास्य के गुण की ओर संकेत होता यों कहें कि "निर्गुण"शब्द ईश्वर के विशेष रूप का वाचक है ईश्वर का विशेषण है यह स्पष्ट है कि यह नकारात्मक शब्द है । गुणों से निषेध जिसमें हो, ऐसा ईश्वर जिसे मान्य हो, वही निर्गुणी सन्त है । निर्गुण कहने में सबसे पहली बात यह है कि वह सगुण नही है अर्थात वह अवतरित नही होता [अवतार वाद के सन्दर्भ में यह बात कही गयी है] ऐसे ईश्वर को सन्त व सूफी कवि अलख निरंजन, निराकार, निष्कल, अगुण, अविगत, निर्मल, अमर, अनादि, अनन्त, अजर, अवर्ण, अरूप आदि कहते हैं । निर्गुण सन्तों को अवतार वाद में बिल्कुल आस्था नही

थी । किन्तु लोक प्रचलित ईश्वर का नाम लेने में संकोच न था । एकेश्वर वादी होने के कारण इन्हें मुस्लिम विचारधारा से प्रभावित भी मान लिया जाता है । एक ब्रह्म पर विश्वास था किन्तु इनका यह एक ब्रह्म वेदान्त के अद्वैत ब्रह्म जैसा ही हूबहू था । गुरु महिमा, बिना गुरु के इस मार्ग में ज्ञान असंभव है । सत्संग तथा प्रेम पर बल दिया गया है यद्यपि संतों का काव्य ज्ञानाश्रयी शाखा का काव्य कहा गया है, किन्तु इसमें भी प्रेम पर ही बल है । निर्गुण काव्य में योग का भी समावेश है इसमें योग्य गुरु की आवश्यकता है । भक्ति मार्ग में कुसंग, वेदशास्त्र, आलस्य, विषय, वासना, कामना, मन में विचार तथा अहंकार बाधाएं हैं । निर्गुण कवियों का दार्शनिक वर्णन ब्रम्ह, जीव, जगत, माया के सम्बन्ध में अनेकों विचारों का दर्शन कराता है शंकराचार्य के अनुसार – निर्गुण कवियों के लिए जगत सपने जैसा है जीव व ब्रह्म के सम्बन्धों में यह बाधा बन गया है माया को अनेकों रूपों में बांधा है, नटिनी, महाठगिनी व झूठी कहा गया है । भक्त और भगवान के साथ भाव सम्बन्ध जुड़ जाता है । संत कवियों ने इसे दाम्पत्य व दास्य रूप में लिया है ।प्रेमाश्रयी शाखा में केवल दाम्पत्य सम्बन्ध ही मिलता है । ब्रह्म अनुभूति का विषय है वह इन्द्रियों मन वाणी से परे है फिर भी वह अनुभूति बनता है । तब रहस्यवादी स्थिति का आविर्भाव

होता है, "मोक्ष" का लक्ष्य मुक्ति है यह निर्गुण धारा हिन्दू-मुस्लिम, शूद्र-सवर्ण के भेद भाव व छुआछूत से परे थी । निर्गुण संतों का आडम्बर हीन मुक्त जीवन था । इन्होंने सुधारात्मक संदेश भी दिए । संत कवियों की वाणी में एक सुष्ठ भाषा का अभाव था किन्तु एक तीखा पन प्रभाव शाली ढंग था, व्यंग्य था, तथा चमत्कार था ।

हिन्दी भक्तिकाव्य को सच्चे रूप में समझने के लिए पूर्ववर्ती निर्गुण साहित्य और विचारधारा का दृष्टावलोकन करने पर हम पाते हैं कि 8वीं से 15वीं शती का निर्गुण साहित्य काफी प्रभावशाली है 15वीं शताब्दी में जिस धार्मिक आन्दोलन ने सम्पूर्ण भारत में प्रसार विस्तार अतितीव्र गति से किया उसका जन्म अचानक ही नहीं हो गया इसकी पृष्ठभूमि बहुत पहले तैयार हो गयी थी जिसके लक्षण 8वीं शती में मिलने लगे थे इसी पृष्ठभूमि पर एक विशाल जन समूह एकत्र हुआ और देश में इसी समय लोकमत तथा वेदमत का समन्वय हो रहा था, भाषा और विचार दोनों ही दृष्टियों से धार्मिक आन्दोलन लोकाभिमुख हो रहा था । संस्कृत के स्थान पर जन भाषाएँ प्रभावी हो गयी थी जिसे सन्तों ने अपनी वाणी का माध्यम बनाया जिसके जिसके द्वारा शास्त्र निरपेक्ष विचारधारा ने अपना शंख ऊँचे स्वर में

बजाया । 8वीं शती से प्रारम्भ इस आन्दोलन ने राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवम् सामाजिक दृष्टियों से प्रभावित किया । इन सभी दृष्टियों से इस आन्दोलन का महत्व और भी बढ़ जाता है जिसने जागरूकता का बिगुल बजाया ।

सामाजिक दृष्टि से यह आन्दोलन बहुत महत्व रखता है उस समय सामाजिक व्यवस्था का रूप जर्जरित होकर तार-तार हो गया था । जनता पीड़ित थी सामाजिक विखण्डन वर्णाश्रम व्यवस्था की कठोरता ऊँचनीच तथा अस्पृश्यता इत्यादि इन्हीं कारणों से शोषित जनता का क्रन्दन मुखरित होकर सामने आया ।

राजनीतिक दृष्टि से यह समय बहुत ही उथल पुथल का था, फिर भी इस आन्दोलन ने इस रूप में भी कुछ प्रभावी तत्वों को आन्दोलन में सम्मिलित किया जो उसे अति तीव्र गति प्रदान करने में सफल हुआ । उत्तर भारत में शक, हूण, गुर्जर, मंगोल आदि विदेशियों का आगमन हो चुका था, जिसने सम्पूर्ण जनता को लूटा, मारा, काटा । इतना ही नहीं यह भारतीय वर्ण व्यवस्था में भी मिल गये । मुसलमानों के आगमन से स्थिति और भी विकट हो गयी, क्योंकि यह जाति किसी के साथ समन्वय या समझौता करने को तैयार नहीं थी वरन् अपने धर्म का प्रचार तीव्र गति से कर रही थी ।

भारतीय जनता की धार्मिक भावना पर कुठाराघात हुआ, उच्चवर्ण ब्राम्हण, क्षत्रिय, आदि धर्म रक्षा की भावना से संकीर्णता तथा पाखण्ड में लिप्त हो गये । मुसलमानों से पीड़ित ये लोग निम्न वर्ग की उपेक्षा करने लगे और इन्हें कठोर नियमों में जकड़ दिया । इस कारण निम्न वर्ग कमजोर, दयनीय स्थिति में पहुंच गया । दलित पीड़ित कमजोर निम्न वर्ण जो अपने ही स्वधर्मियों से हेय दृष्टि से देखा जा रहा था, उसी के सामने एक सरल मार्ग इस्लाम धर्म स्वीकारने का था । यह वह द्वार था जो समानता का द्वार खोले हुए था । जिसकारण हिन्दू धर्म की संकीर्णता ने निम्न वर्ण को दूसरे धर्म को अपनाने के लिए स्वंय ही मजबूर किया । दक्षिण भारत जहाँ कोई भी विदेशी सीमा स्पर्श नहीं करती है तथा न किसी विदेशी का आगमन यहाँ सम्भव है अर्थात् पूर्ण रूप से सुरक्षित यह स्थान उत्तर भारत से भिन्न स्थिति रखता है । शोषण यहाँ पर भी है पर कुछ दूसरे रूप में सामन्ती व्यवस्था अपने पंजे अधिक जकड़ती जा रही थी । ब्राम्हण तथा सामन्त लोग एक होकर सर्वोच्च सत्ता कायम रखने तथा सामाजिक प्रमुखता बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील थे, जिस कारण अन्य जातियों की सुख-सुविधा का ध्यान रखना तो दूर वरन् उन पर अत्याचार और शोषण की प्रवृत्ति का शिकन्जा कसते जा रहे थे । परिणामस्वरूप अन्य जाति

के लोग आर्थिक रूप से बहुत ही कमजोर हो गये, इनकी प्राथमिक आवश्यकतायें भी पूरी नहीं होती थी। सामाजिक दृष्टि से भी यह निम्न समझे जाते थे। अतः परिस्थितियाँ इतनी भयंकर हो गयी थीं कि पीड़ित दलित तथा शोषित वर्ग सम्पूर्ण देश में त्राहि-त्राहि करने लगा और उनकी यही आवाज आक्रोश में परिवर्तित होकर धार्मिक आन्दोलन में परिवर्तित होकर धार्मिक आन्दोलन के रूप में मुखरित हुई। जो शोषण करने वालों के प्रति थी, उनकी मुख्य माँग अपने अधिकारों की पूर्ति तथा समाज में उचित स्थान पाना था। 8वीं सदी और उसके बाद जितने भी नये धार्मिक आन्दोलनों का स्वर मुखरित हुआ, उन सभी में समता, न्याय का प्रथम बिगुल था, साथ ही इसमें वैदिक मान्यताओं को न मानना, शास्त्रीय ज्ञान की उपेक्षा, उच्चवर्ण की भेदभाव मूलक नीति के प्रति आक्रोश दिखाई पड़ता है, किन्तु आगे चलकर इस समता-न्याय पर आश्रित आन्दोलन के जो प्रवर्तक हुए वे जाति के ब्राह्मण थे, जिसमें शंकराचार्य और रामानुजाचार्य प्रमुख हैं। शंकराचार्य ने हिन्दू-धर्म के नव-जागरण को प्रोत्साहन दिया। बारह वैष्णव सन्तों [अलवर] और तत्पश्चात् आचार्यों रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य आदि ने इसका प्रचार-प्रसार दक्षिण में किया। उत्तर भारत में इसे सर्वप्रथम रामानुजाचार्य के शिष्य "रामानन्द" ने इन्हें

लोकप्रिय बनाया । इस प्रकार भक्ति आन्दोलन आठवीं शताब्दी में हिन्दू-धर्म के नव-जागरण आन्दोलन के रूप में प्रारम्भ हुआ और 14 वीं और 15 वीं शताब्दी में अपने आदर्श रूप में प्राप्त हुआ । दक्षिण भारत में आलवार भक्तों में अनेक निम्न वर्ग के थे । महाराष्ट्र के सन्तों में राका और गोरा कुम्हार, जोगा-तेली, शाम-चूड़ीवाला, सांवला-माली नरहरि सुनार, बंका और चोखा महार और कान्हों पात्रा वेश्या थी । काश्मीर की सन्त लल्ला मेहतर जाति की थी । इस प्रकार हिन्दी निर्गुनियाँ सन्तों में कबीर जुलाहा, सेन नाई, धना जाट, और रैदास चमार जाति के थे । अधिकतर सन्त अशिक्षित थे या अल्प शिक्षित । उनके अनुसार अनुभव सबसे बड़ा ज्ञान का भण्डार है, इसीलिए ये लोग शास्त्रविद् नहीं थे वरन् बहुश्रुत अवश्य थे । इनकी वैदिक परम्परा में आस्था नहीं थी । वे पुस्तकीय ज्ञान की अवहेलना करते थे क्योंकि पुस्तकीय ज्ञान सभी परिस्थितियों में सटीक नहीं बैठता । इस समय के सन्तों ने अपने समय में प्रचलित विभिन्न साधना सम्प्रदायों की विचारधारा तथा उन बातों को अपनाया जो उनकी परिस्थितियों के अनुकूल बैठते थीं । इसी कारण इन पर अनेक साधना पन्थों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है ।

इस सन्त परम्परा में बहुत से पन्थ तथा उनकी ऐसी मान्यताएँ हैं जो सभी पन्थ और सम्प्रदायों ने स्वीकार की हैं। आठवीं से 15वीं सदी तक मुख्य रूप में निम्नलिखित निर्गुण मतावलम्बी साधना सम्प्रदाय विद्यमान थे -

(1) दक्षिण भारत की संत परम्परा

(क) आलवार भक्त
(ख) आचार्य
(ग) महाराष्ट्र के सन्त

(2) उत्तर भारत की सन्त परम्परा

(1) दक्षिण भारत की सन्त परम्परा :- दक्षिण भारत के सन्तों ने यद्यपि हिन्दी भाषा में रचना नहीं की, परन्तु परवर्ती काल में हिन्दी के सन्त कवियों पर इनकी परम्परा, विचार शैली आदि का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। इनकी इसी विशेषता को देखते हुए दक्षिण भारत के पूर्ववर्ती सन्तों का संक्षिप्त परिचय दे रही हूँ।

(क) आलवार भक्त :- भक्ति को दक्षिण में व्यवहारिक रूप देने में सबसे बड़ा हाथ आलवार भक्तों का है। ईसवी सन् की दूसरी, तीसरी शताब्दी के बाद आलवारों की रचनाएँ उपलब्ध होने लगीं और कई शताब्दियों तक उसकी शृंखला दिखलाई देती है। यह विचारधारा हर्ष के

काल में शंकर के अद्वैत सिद्धान्त के कारण 7वीं शताब्दी में कुछ क्षीण हुई, फिर कुछ राजनीतिक उलटफेर, इसी तरह बनते-बिगड़ते उथल-पुथल के रूप में 13 वीं से 14 वीं शताब्दी तक चलता रहा । अनेक आचार्यों का जन्म हुआ एवम् विविध शास्त्रीय परम्पराओं का प्रादुर्भाव हुआ, अनेक सम्प्रदायों का निर्माण हुआ । आलवारों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि ईसा से तीन चार सहस्त्रपूर्व इनका आविर्भाव हुआ था । परन्तु भारतीय एवम् पाश्चात्य विद्वानों ने इनका समय चौथी से नवीं शताब्दी तक निश्चित किया है । आलवार सर्वश्रेष्ठ सन्त थे ईश्वर की भक्ति में लीन रहते थे । आलवार शब्द का अर्थ ही है "मग्न होना" आलवार उस सन्त को कहते थे जिसने आध्यात्मिक ज्ञान रूपी सागर में गोता लगाया हो ।[1] इनके पदों को नवीं शती के अंत में नथमुनि ने "दिव्य प्रबन्धम्" नाम से संगृहीत किया था । सामान्यतया ये सगुण भक्त माने जाते हैं जिन्होंने कृष्ण भक्ति में अपूर्व सहयोग दिया तथा उसके विकास की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया । ये लोग निर्गुण ब्रह्म को भी मानते थे । उनके अनुसार सगुण निर्गुण में कोई भेद भाव नहीं है । उन्होंने

---

[1] "The word 'Alvar' has peculiar Singigicance of its own. It means one who has sunk into the depth of his existence or one who is lost in a rooturous devotion to the Lord"

(R. S. Desikau: Grains of Gold P.6)

निर्गुण-सगुण दोनों ब्रह्म का वर्णन किया है । आलवार का कहना है —

"तमस्कन्द स्वुरुत्वम् अव्युरुत्वम् ताने
तमस्कन्दतु एप्पेर मरप्पेर तमस्कन्दु
एव्वणराम चिंचितु एम्मयादिरुप्पेर
अव्वणमालियानाम ।"

अर्थात् भक्त जिस रूप में ईश्वर की आराधना करता है वही रूप उसका है जिस नाम से स्तुति करे वही नाम उसका है तथा जिस ढंग से उपासना करे, उसी ढंग से विष्णु भगवान मिल जाता है ।

आलवार भक्तों में स्त्रियाँ भी प्रसिद्ध हुई हैं । "अन्दाल" प्रसिद्ध भक्तिन थी उसका भक्ति भाव मीरा जैसा था ।

जनश्रुति में निम्नलिखित पंक्तियाँ प्रसिद्ध हैं -

भक्ति द्राविड़ उपजी लाये रामानन्द ।
परगट करी कबीर ने सप्तदीप नव खण्ड ।।

<u>आचार्य</u> :- आलवार भक्तों की परम्परा के बाद भक्ति को दार्शनिक क्षेत्र में जो समर्थन प्राप्त हुआ उसके प्रतिपादक आचार्यों का आगमन भी दक्षिण में ही हुआ । ये दार्शनिक आचार्य कहलाये । आचार्यों ने आलवार भक्तों की वाणी का संग्रह और सम्पादन का कार्य किया साथ ही

अपनी तर्कपूर्ण शैली के माध्यम से संस्कृत से प्रस्थानत्रयी (उपनिषद, ब्रह्मसूत्र, गीता) पर भाष्य लिखे और शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन किया ।

आठवीं शताब्दी के हिन्दू नव-जागरण काल के सन्त शंकराचार्य थे । इनका जन्म 788 ई0 में मालाबार जनपद में आलवाय नदी के तट पर कालडी नामक स्थान में एक नम्बूदरी ब्राह्मण परिवार में हुआ था । यह शैव मतावलम्बी थे । जैन-बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रचार-प्रसार किया, इन्होंने भी इसके व्याभिचार को उजागर किया । ये हिन्दू धर्म में संकीर्णता के पक्षधर नहीं थे । जैन, बौद्ध तथा हिन्दू सन्तों को शास्त्रार्थ में परास्त किया । इन्होंने भागवत गीता तथा उपनिषदों पर कई टीकाएँ लिखी । और अद्वैतवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । चतुर्दिश मठों का निर्माण कराया और हिन्दूओं के चारों धामों की स्थापना की । शंकर के अद्वैतवाद के अनुसार ईश्वर एक है, संसार की विभिन्न सत्ताएँ ईश्वर का ही रूप हैं । ईश्वर ही इसका कारण है और सबकुछ उसी में निहित है । सब कुछ उसी से अथवा उसके एक भाग से उत्पन्न होता है और उसी में विलय होता है । इन्होंने अपने मायावाद सिद्धान्त का उल्लेख किया है कि सृष्टि का कारण माया है । यह ईश्वर की वह शक्ति है जिससे ईश्वर, संसार का भ्रम उत्पन्न

करता है । संसार मिथ्या है । हम अज्ञानवश उसे यथार्थ समझ बैठते हैं और उसके माया जाल में फंस जाते हैं । हमारी आत्मा बंधित होती जाती है ज्ञान होने पर आत्मा माया के बन्धन से मुक्त होकर परमात्मा में विलीन हो जाती है और सत्, चित्, आनन्द को प्राप्त होती है इन्होंने कर्म को वैदिक कर्मकाण्डों से निकाल कर ज्ञान की खोज के निर्देश दिये । इस प्रकार इन्होंने वैदिक कर्मकाण्डों के प्रभावों को मिथ्या बताकर ज्ञान और भक्ति की सत्ता स्थापित की । सद्ज्ञान होने पर ईश्वर के प्रति समर्पण भाव जागृत होता है और जो भक्ति उत्पन्न होती है, वह मोक्ष का कारण बनती है शंकर ने जो ज्ञान और भक्ति के उपदेश दिये उससे वेद विरोधी शक्तियों का दमन हुआ ज्ञान प्रधान आध्यात्मिक एवम् औपनिषदिक परम्परा का पुन: विकास हुआ । शंकर का अद्वैतवाद विस्तृत था जो उपासना के क्षेत्र में जन-मानस को प्रभावित न कर सका एक भावुक भक्त को जिस सहारे की आवश्यकता थी वह शांकरमत से सम्भव न हो सका । इस प्रकार आलवारों ने जिस प्रवृत्ति मूलक भक्ति का प्रतिपादन किया उसके प्रचारार्थ एवम् वैदिक भक्ति के महत्व स्थापनार्थ आचार्यों ने शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन किया ।

आचार्य नाथमुनि :- आचार्यों मे नाथमुनि का नाम पहले आता है । ये नवीं शती के अन्त मे पैदा हुए थे । इन्होंने बहुत ही कठिन परिश्रम करके आलवार भक्तों के पदों का संकलन किया और भक्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया । इनके अनेक शिष्य थे, जिनमें पुण्डरीकाक्ष, कुरुकनाथ, और लक्ष्मीनाथ प्रमुख थे । इसकेअलावा इनके पौत्र यामुनाचार्य नथमुनि के समान आध्यात्म-निष्णात विद्वान थे । इन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की तथा आलवार भक्तों के ग्रन्थों के प्रचार-प्रसार का भी कार्य किया ।

रामानुजाचार्य :- श्री यामुनाचार्य के बाद दक्षिण में चार आचार्य हुए जिन्होंने अद्वैतवाद का खण्डन किया, और भक्ति मार्ग का प्रतिपादन किया । इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण ख्याति प्राप्त रामानुजाचार्य हुए । इनका जन्म मद्रास के निकट सन् 1016 में हुआ था । ये यामुनाचार्य के उत्तराधिकारी बने तथा श्री सम्प्रदाय के प्रवर्तक कहलाये । ये वैष्णवमतावलम्बी थे । इनका दर्शन विशिष्टाद्वैतवाद कहलाता है ।

इन्होंने दास्यभाव की उपासना स्वीकार की थी । प्रपत्ति या शरणागत-भक्ति का प्रादुर्भाव इन्हीं के द्वारा हुआ था । इनके अनुसार

ब्रह्म – चित् (जीव) और अचित् (जड़ प्रकृति) दोनों से संयुक्त है । चित् और अचित् अंशों से विशिष्ट होते हुए भी ब्रह्म एक ही है यही विशिष्टाद्वैत-वाद है ।

ब्रह्म की जड़ प्रकृति से सृष्टि का सृजन होता है । इनका संसार शंकर की भाँति मिथ्या-जगत नहीं, अपितु एक यथार्थता है । इन्होंने वैदिक कर्मकाण्ड पर बल दिया है, किन्तु कर्म को मात्र वर्णाश्रम धर्म के पालन तक ही सीमित रखा और यज्ञ और बलि आदि को नकार दिया । इन्होंने कर्म से ज्ञान, ज्ञान से भक्ति तथा भक्ति से मोक्ष का उल्लेख किया है । किन्तु इनके अनुसार भक्ति का तात्पर्य स्वयं की सत्ता समाप्त कर शंकराचार्य की भाँति ईश्वर में तादात्म्य स्थापित करना नहीं, अपितु ईश्वर के निरंतर स्मरण से है । इन्होंने गुरू महिमा एवम् सगुण उपासना पर बल देते हुए उल्लेख किया है कि मोक्ष ईश्वर की अनुकम्पा से ही उपलब्ध हो सकता है । इसलिए ईश्वर का सतत स्मरण आवश्यक है । यही ध्यान, उपासना या भक्ति है ।

रामानुजाचार्य ने भक्ति के क्षेत्र मे सभी जातियों को समान अधिकार दिये हैं । जिसका कारण कई आलवार भक्तों का शूद्र वंशोद्भव हो सकता है । इन्होंने ब्रह्म सूत्र पर भाष्य लिखा जो रामानुज अथवा

श्री भाष्य के नाम से सम्बोधित हुआ इन्हीं की शिष्य परम्परा में रामानंद हुए, जिन्होंने उत्तर भारत में राम की निर्गुण सगुण भक्ति का व्यापक रूप से प्रचार किया ।

<u>मध्वाचार्य</u> :- श्री रामानुजाचार्य के बाद मध्वाचार्य का नाम बड़े आचार्यों के रूप में लिया जाता है । इनका जन्म सन् 1197 में हुआ था । ये गुजरात के निवासी थे । ये वैष्णवमतावलम्बी तथा ब्रह्म सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे । इनका दर्शन द्वैतवाद कहलाया । इन्होंने अद्वैतवाद के सिद्धान्त को स्वीकारा, किन्तु इस विषय में वह शंकर तथा रामानुज दोनों से भिन्न हैं । इन्होंने जीव और ब्रह्म को पूर्णतः भिन्न माना । इनके अनुसार सृष्टि, स्थिति, संहार, आचरण, बोधन, बन्धन तथा मोक्ष इन आठों कार्यों पर केवल ईश्वर का अधिकार है । उनमें अनेक रूप धारण करने की शक्ति है । किन्तु उनके मूल रूप और अवतरित रूप में कोई अन्तर नहीं है ।

मध्वाचार्य ने भक्ति की श्रेष्ठता के विषय में उल्लेख किया । वे कहते हैं ज्ञान तथा कर्मकाण्ड मात्र से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है । ईश्वर तक पहुँचने का एक मात्र साधन भक्ति ही है । जिसके लिए मन की

तथा अध्ययन आदि पर बल दिया है। मध्वाचार्य के अनुसार उपासना के दो रूप है। शास्त्रानुशीलन और ध्यान। शास्त्र अभ्यास से अज्ञान का आवरण हटता है और ध्यान से अमला भक्ति प्राप्त होती है। इनके दर्शन का चैतन्यदेव पर काफी प्रभाव पड़ा है हिन्दी के कवि गोपाल भट्ट को इसी परम्परा मे गिना जाता है।

इस प्रकार 13 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे हिन्दू, धर्म का प्रचार प्रसार मध्वाचार्य ने किया, तथा"सूत्रभाष्य" पर समीक्षा लिखी। इनके प्रमुख शिष्यों मे जय तीर्थ थे।

निम्बार्काचार्य :- श्री निम्बार्काचार्य जो रामानुज के समकालीन थे इनका जन्म सं0 1172 में हुआ था। ये सनकादि सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं इनका दर्शन द्वैताद्वैतवाद है, जिसे भेदाभेदभाव नाम से भी जाना जाता है उनके अनुसार - जीव जगत् और ईश्वर यद्यपि एक दूसरे से भिन्न है, तथापि जीव और जगत का अस्तित्व ईश्वर की इच्छा के अधीन है। ब्रह्म अविभक्त और निर्विकार होते हुए भी सर्वज्ञ और समस्त गुणों का आश्रय है जीव अवस्था भेद से ब्रह्म से भिन्नाभिन्न है। ब्रह्म एक पूर्ण अंश है जीव उसका छोटा सा अंश है उन्होंनें भगवान की भक्ति के सभी तरीके उचित बताये है। परन्तु

उन्होंने माधुर्य या उज्जवल भाव की भक्ति पर विशेष जोर दिया है। इन्होंने भी अद्वैतवाद का खण्डन किया। भक्ति काल के सन्तों की भाँति भक्ति को ज्ञान तथा कर्मकाण्ड की अपेक्षा अधिक प्राथमिकता प्रदान किया है। कृष्ण की भक्ति से इन्होंने मोक्ष की प्राप्ति की सम्भावना व्यक्त की। इन्होंने ईश्वरोपासना पर बल दिया। इनके इष्ट कृष्ण थे। वह कृष्ण भक्ति में लीन रहते और कृष्ण भक्ति पर बल दिया है। इतना ही नहीं इन्होंने राधा की उपासना पर भी विशेष बल दिया। राधावल्लभ सम्प्रदाय इसी की एक शाखा है, जिसके प्रवर्तक स्वामी हितहरिवंश हैं।

<u>विष्णु स्वामी</u> :- विष्णु स्वामी का ऐतिहासिक विवरण ज्ञात नहीं है ये रुद्र सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। इस सम्प्रदाय में बल्लभाचार्य महान् दार्शनिक तथा विद्वान थे, जिन्होंने शुद्धाद्वैत दर्शन का प्रतिपादन किया और अष्टछाप की स्थापना की। सूरदास आदि हिन्दी के कृष्ण भक्त इसी छाप के कवि हैं। बल्लभाचार्य ने ईश्वर प्राप्ति के लिए भक्ति को अनिवार्य बताया इस भक्ति में कृष्ण को इष्ट

देव बनाया, सगुण उपासना पर बल दिया तथा कृष्ण को पुरुषोत्तम तथा परमानन्द संज्ञाओं से सम्बोधित किया । इनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पुष्टि मार्ग सम्बोधित हुआ । इनके द्वारा रचित श्री मद्भागवत की सुबोधिनी टीका लोकप्रिय हुई । इनकी शिष्य परम्परा में सूरदास, मीराबाई, नन्ददास, कृष्णदास, कृष्णदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, चतुर्भुजदास तथा रसखान हुए ।

<u>मानभाव सम्प्रदाय</u> :- इन आचार्यों के अतिरिक्त दक्षिण में 11 वीं शताब्दी में मानभाव नामक एक अन्य सम्प्रदाय विद्यमान था । इनके भी उपास्य देवता श्री कृष्ण माने जाते हैं, जो निर्गुण अव्यक्त होते हुए भी भक्तों के लिए सगुण रूप धारण करते हैं । मानभाव पंथ का सन्त ज्ञानेश्वर पर काफी प्रभाव पड़ा है ।

<u>महाराष्ट्र के सन्त</u> :- हिन्दी में सन्त काव्य परम्परा के प्रचलन के लगभग दो शताब्दी पूर्व ही महाराष्ट्र के सन्त काव्य की रचना आरम्भ हो गई थी । हिन्दी की सन्त काव्य परम्परा महाराष्ट्रीय परम्परा की एक शाखा है । महाराष्ट्र में इस परम्परा के अग्रणी कवि मुकुन्द राज माने जाते हैं । जिनका समय 1127 - 1200 ई0 है । इनका

जीवन परिचय अज्ञात सा है । "भक्ति रहस्य" नामक ग्रंथ के अध्ययन से पता चलता है कि ये वाराणसी में बहुत समय तक रहे । सन् 1190 में मराठी का पहला काव्य ग्रंथ "विवेक सिन्धु" लिखा था । इसमें ब्रह्म, जीव माया, पंचमहाभूत, गुरू का महत्व, सगुण-निर्गुण तत्व मत्ति आदि जटिल विषयों को अपनी सरल सुबोध शैली के माध्यम से जन साधारण की समझ के अनुकूल विश्लेषित किया । इनका एक प्रसिद्ध ग्रंथ "परमामृत" भी उपलब्ध है । "इन दोनों ग्रंथों में शंकर अद्वैत, योगानुभव और सगुणोपासना[1] का प्रतिपादन किया है । मुकुन्द राज स्वयं नाथ सम्प्रदाय में दीक्षित थे । परन्तु उनके ग्रंथों से यह बात सटीक नहीं बैठती । इनके ग्रंथों मे इनके विचार संत मत के समीप हैं । अत: मुकुन्द राज को नाथ पंथ संत मत के बीच की कड़ी मान सकते हैं ।

मुकुन्द राज की मृत्यु के कुछ समय पूर्व महात्मा चक्रधर का आविर्भाव हुआ । "ये स्वयं महाराष्ट्रीय नहीं थे, जन्म से वे गुजराती थे । गुजरात में भरवस नाम का क्षेत्र था, वही आज का भड़ोच है । वहाँ मल्लदेव नामक राजा था, उसके प्रधान का नाम विशालदेव और पत्नी माल्हण देवी का पुत्र हरिपाल देव था । यही हरिपाल देव आगे चलकर महाराष्ट्र में

---

[1]मराठी का भक्ति साहित्य - प्रो० भी० गो० देशपाण्डे, पृ० 15

"चक्रधर" नाम से प्रसिद्ध हुआ ।"[1] इनकी पत्नी का नाम कमलउसा था । महात्मा चक्रधर "महानुभाव सम्प्रदाय" के प्रवर्तक माने जाते हैं, इसी सम्प्रदाय के माध्यम से इन्होंने अपने क्रांतिकारी विचारों का प्रचार किया । इन्होंने वेदों और अद्वैतवाद की अवहेलना की, बौद्ध तथा जैन धर्मों का भी विरोध किया । यह बहुदेवोपासना के स्थान पर परमब्रह्म परमेश्वर की उपासना पर बल देते हैं । वर्ण विषमता के विरुद्ध थे, लेकिन उसे मिटाने के लिए सांसारिकों में उन्होंने प्रत्यक्ष प्रचार नहीं किया । इन्होंने जाति-पाति, छुआ-छूत के प्रति भी आवाज उठाई । ईश्वर प्राप्ति के लिए उन्होंने अनुसरण या संन्यास आवश्यक माना । जीवों में तुरन्त हृदय परिवर्तन और स्वयं ही सुधार की अपेक्षा रखते हैं । इन्होंने अपना संदेश गाँव-गाँव जाकर पहुँचाया, जिसके लिए जनता की मराठी भाषा को माध्यम बनाया । अपनी मातृभाषा गुजराती होने पर भी "चक्रधर" सुन्दर, मधुर मराठी बोलते थे । इस प्रकार मराठी को धर्मोपदेश का माध्यम बना कर जनता की भाषा का विकास किया,

---

[1] मराठी का भक्ति साहित्य - प्रो० भी०गो० देशपाण्डे, पृ० 8

परिणामस्वरूप इनके सम्प्रदायियों ने मराठी में अनेक तात्विक और काव्य ग्रंथ लिखे । मराठी को "चक्रधर" ने गौरव प्रदान किया और मराठी साहित्य का श्रीगणेश किया । मराठी के अतिरिक्त इन्होंने हिन्दी में भी रचना की है जैसे -

सुती पंथी स्थिर होई जेणो तुम्ही जाई ।
सो परो मोसे वैरी आशाता काई ।।

"चक्रधर के अतिरिक्त इस पंथ में "उमाम्बा" और कृष्ण मुनि नामक दो सन्त और विख्यात हुए । उमाम्बा चक्रधर के शिष्य नागदेवाचार्य की बहिन थी । इन्होंने भी हिन्दी में चौपाइयाँ लिखीं । कृष्ण मुनि ने महानुभाव पंथ का पंजाब में प्रचार किया । इन सभी सन्तों की रचनाओं का स्वर कबीर जैसा ही है ।"[1] ये बहुजन समाज के धार्मिक नेता बने । इस प्रकार धर्म क्षेत्र में इन्होंने एक नया दृष्टिकोण प्रारम्भ किया, जो परवर्ती सन्तों द्वारा भी स्वीकार किया गया । परन्तु संतमत की सम्पूर्ण प्रतिष्ठा को श्रेय महात्मा चक्रधर को नहीं दिया जा सकता । इसका कारण इनका अवतारवाद को अत्यधिक महत्व देना था, इसीलिए इनका मत निर्गुण भक्ति की अपेक्षा सगुण भक्ति के अधिक निकट है । इसलिए महानुभाव सम्प्रदाय के कवियों ने अपने काव्यों "वत्स-हरण" (1278) "रुक्मिणी स्वयंवर"

---

[1]डा० वासुदेव सिंह - हिन्दी साहित्य का उद्भव... पृ० 85

§ 1292 § "शिशुपाल वध" §1306§ आदि में अपने ईष्ट की लीलाओं का प्रचार-प्रसार पौराणिक आधार पर किया । वस्तुत: मुकुन्दराज एवम् चक्रधर दोनों का श्रेय इस बात में है कि उन्होंने संत परम्परा की पृष्ठभूमि का निर्माण किया और उसका विकास तथा अन्तिम पूर्ण अवस्था 13वीं शताब्दी के सन्तों द्वारा सम्पन्न की गई । सम्भवत: इसीलिए मुकुन्द राज और महात्मा चक्रधर के साथ "सन्त" विशेषण नहीं जोड़ा गया ।

वारकरी सम्प्रदाय :- इस सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक सन्त पुण्डलिक माने जाते हैं, किन्तु उनका ऐतिहासिक विवरण अज्ञात है । इनके साथ चमत्कार पूर्ण प्रसंग जुड़ जाते हैं, जिससे यह पौराणिक व्यक्ति प्रतीत होते हैं, ऐतिहासिक नहीं । इस दृष्टि से इस परम्परा के उन्नायक सन्त ज्ञानेश्वर माने गये हैं । इनका जन्म सं0 1332 में गोदावरी के निकट आपेगाँव में हुआ था । इन्होंने भक्ति और योग का अद्भुत सामंजस्य स्थापित किया आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए गुरु को महत्व दिया, उन्होंने उत्तर भारत की यात्रा की तथा हिन्दी में रचना की —

सोई कच्चावे, नहीं गुरु का बच्चा ।
दुनियाँ तजकर खाक रमाई,जाकर बैठावन मो ।
खेचरि मुद्रा वज्रासन मों, ध्यान धरत है मन मों ।
तीरथ करने उम्मर खोई, जागे जुगति भो सारी ।

उनके अनुसार - शूद्रों के लिए ईश्वर प्राप्ति का मार्ग बतलाने वाला महत्वपूर्ण ग्रंथ एक ही है "गीता" । ज्ञानेश्वर ने उसी का सहारा लिया तथा ईश्वर की आराधना की । ज्ञानेश्वर ब्राह्मण होते हुए भी शूद्र वर्ण में धकेल दिए गए, लेकिन सच्चे शूद्रों की संख्या समाज में कम नहीं है । इन्होंने "गीता" को आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग बताया । "इन्होंने गीता की प्रसिद्ध टीका "भावार्थ दीपिका §ज्ञानेश्वरी§की रचना की, जिसमें गीता को वेदों के समान बताते हुए सर्व वर्णों के लिए ईश्वर प्राप्ति में सहायक बताया है । इन्होंने गीता की टीका के अतिरिक्त "अमृतानुभव, हरिपाठ के अभंग, चांगदेव पैसठी और सैकड़ो फुटकर अभंगों की रचना की, जिसमें दार्शनिक विचारों एवम् भक्ति की अनुभूति की अभिव्यक्ति हुई है ।"[1] सन्त ज्ञानेश्वर अन्य चार सन्त- नामदेव § 1070 - 1350 § निवृत्तिनाथ § 1273 - 1293 § सोपान

---

[1] मराठी का भक्ति साहित्य - पृ0 46

देव § 1277 - 1296 §मुक्ताबाई §1279-1297§ का नाम लिया जाता है । इन सभी संतों ने अपनी अलौकिक अनुभूतियों को साहित्यिक माध्यम से प्रकाशित किया ।उपर्युक्त सन्तों में नामदेव को छोड़कर सभी सन्त भाई बहन हैं, जिन्होंने जीवनपर्यन्त आध्यात्मिक साधना की । मुक्ताबाई ने सन्त ज्ञानेश्वर के प्रभाव से सन्त मार्ग अपनाया था इसलिए भाई को ही गुरु मानती थी । इन्होंने भक्ति, ज्ञान, योग तथा वैराग्य पर विस्तृत प्रकाश डाला है ।

सन्त ज्ञानदेव के समकालीन नामदेव महाराष्ट्र के ही नहीं हिन्दी के भी प्रसिद्ध सन्तों में गिने जाते हैं । जिनका परिचय आगे दिया जायेगा/नामदेव के बाद अन्य सभी सन्त 15 वीं शती के बाद के थे ।

अत: 12 वीं - 13 वीं शताब्दी में महाराष्ट्र में दो साधना सम्प्रदाय का जन्म हुआ महानुभाव सम्प्रदाय और वारकरी सम्प्रदाय दोनों सम्प्रदाय निर्गुण उपासना पर बल देते थे । महानुभाव सम्प्रदाय के प्रवर्तक महात्मा चक्रधर हुए तथा व वारकरी सम्प्रदाय के प्रवर्तक सन्त पुण्डलिक §12 वीं शती§ हुए । वारकरी शब्द वार+करी के योग से बना

है जिसका अर्थ है – परिक्रमा करने वाला । वारकरी सम्प्रदाय वेद प्रमाण वर्णाश्रम को मानता है फिर भी भक्ति का मार्ग सभी जाति, स्त्री–पुरूष, ऊँचनीच, ब्राह्मण–चाण्डाल धनी–निर्धन के लिए समान रूप से खुला है । सभी इस सम्प्रदाय में प्रविष्ट हो सकते हैं । इस सम्प्रदाय में ज्ञानदेव, नामदेव, भानसिंह, देवनाथ, दयालनाथ, महीमातिनाथ आदि उच्च कोटि के सन्त हुए । इन सन्तों में ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम ने विशेष ख्याति प्राप्त की । वारकरी सम्प्रदाय के सन्त अपना सम्बन्ध नाथ सम्प्रदाय से जोड़ते हैं उनकी गुरु शिष्य परम्परा इस प्रकार है —
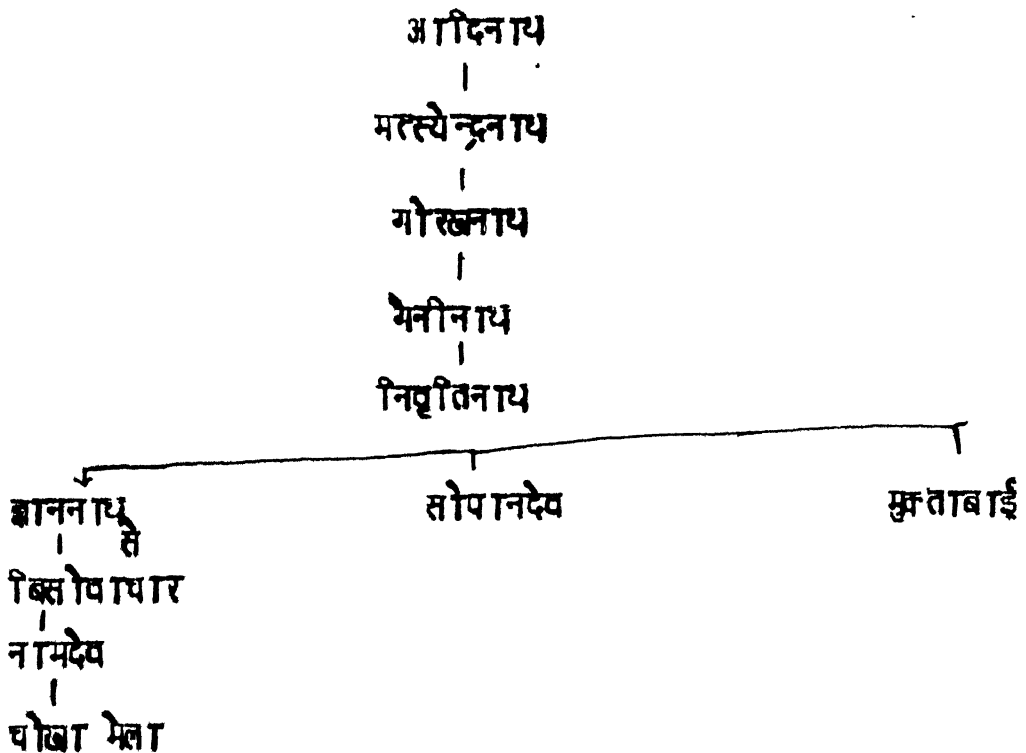
महाराष्ट्र के दोनों सम्प्रदाय के सन्तों ने निराकार रूप की उपासना की और सन्त कहलाये। "सन्त" शब्द महाराष्ट्र के निर्गुणी कवियों के लिए प्रयुक्त होने लगा। उन्हीं सन्त कवियों के प्रभाव और अनुकरण पर हिन्दी के कबीर आदि निर्गुणमार्गी कवियों को भी सन्त कहा गया। हिन्दी में भक्ति के निर्गुणमार्गी सन्तों को "सन्त काव्य शाखा या धारा" नाम से विभूषित किया गया। वारकरी सम्प्रदाय परवर्ती काल में चार भागों में विभक्त हो गया - चैतन्य, स्वरूप, आनन्द और प्रकाश। चैतन्य सम्प्रदाय में तुकाराम आते हैं। रामानन्द को आनन्द सम्प्रदाय का माना जाता है।

महाराष्ट्रीय सन्त-काव्य की बहुत सी विशेषताएँ हिन्दी सन्त - काव्य में भी प्रमुख रूप से मिलती हैं जिसमें अद्वैतवाद और भक्ति में सामंजस्य, सगुण और निर्गुण में समन्वय तथा माधुर्य भाव की अनुभूति आदि विशेष रूप से द्रष्टव्य होती है।

उत्तर भारत की सन्त परम्परा :-

दक्षिण भारत की सन्त परम्परा के समान उत्तर भारत में 8 वीं से 15 शताब्दी में अनेक सन्त साधनारत थे, जिनके विभिन्न पंथ तथा सम्प्रदाय थे । इनमें सहजयानी सिद्ध, नाथ-योगी, जैन मरमी तथा सूफियों के प्रमुख साधना सम्प्रदाय हिन्दी के निर्गुणमार्गी सन्तों के हैं । इसके अतिरिक्त राजस्थानी ब्रजभाषा साहित्य के अध्ययन से "विश्नोई सम्प्रदाय" नामक एक नये पंथ का पता चलता है, जिन्होंने मूर्ति पूजा का विरोध किया । ईश्वर के निर्गुण-सगुण दोनों रूप को स्वीकार किया, तथा दशावतार को भी माना है । इस प्रकार विभिन्न सम्प्रदायों को मानने वाले सन्त अपने अलग-अलग विचारों को प्रकट करते थे, यद्यपि इनके चिन्तन का विषय लगभग एक रहता था । जीव, जगत, ब्रह्म इनका मुख्य विषय था जिस पर चिन्तन करना तथा विचारों को प्रकट करना इनके जीवन का लक्ष्य था इसमें इन्होंने ईश्वर को विभिन्न नामों से सम्बोधित किया है । विभिन्न सन्तों के विचारों, भाषा, शैली में अन्तर होने पर भी विचारों में समानता दृष्टिगोचर होती है क्योंकि सबका लक्ष्य एक है सबका ईश्वर एक है अर्थात् सभी का केन्द्र एक है । जहाँ सभी एकाकार होकर विचारों को समान रूप प्रदान

करते हैं । अत: सभी एक हो जाते हैं ।

सन्त काव्य की प्रमुख विशेषताएँ गुरु को महत्व, प्रेम, §व्यक्तिगत साधना में व्यवहृत है§ हठयोग, भारतीय अद्वैतवाद, वैष्णवी अहिंसा, जाति-पाँति, ऊँच-नीच के भेदभाव का अभाव है । सन्तों ने माया को साधना पथ में बाधक माना है । जिसे कनक-कामिनी, महा-ठगिनी आदि कहा है । सन्त रहस्यवादी हैं । आचार्य शुक्ल ने सन्तों के रहस्यवाद को साधनात्मक कोटिक का कहा है । क्योंकि उसमें विविध यौगिक प्रक्रियाओं का उल्लेख है । सन्तों ने विरह का उन्मुक्त गान गया है जिसमें तीव्र कसक एवम् वेदना है जिसमें जगत् मिथ्या है तथा विरह वर्णन में प्रकृति की उपेक्षा की है, इनका विरह व्यक्तिगत बनकर रह जाता है। सन्तों ने प्रेम पद्धति विशुद्ध रूप से भारतीय स्वीकारी है इन्होंने आत्मा को स्त्री और परमात्मा को पुरुष माना है । हिन्दु-मुस्लिम एकता को धार्मिक समन्वय के आधार पर पूर्ण करने का प्रयास किया है । सन्तों ने सामाजिक सुधारों एवम् धार्मिक एकता के लिए खण्डनात्मक पक्ष अपनाया है । सन्तों ने अपने साधना पक्ष में प्रत्यक्ष ज्ञान पर बल दिया है । ये अक्खड़ एवम् अहं भावना से युक्त थे । सन्तों का ईश्वर घट-घट व्यापी है । वही सत्य है और जगत् मिथ्या ।

सन्त केवल साधक है उनका कवि रूप गौण है इन्होंने मुक्तक काव्य लिखे, इनकी उलटवाँसियाँ लोहे के चने हैं सन्तों की भाषा सधुक्कड़ी या खिचड़ी है । सन्तकाव्य बहुत लोकप्रिय हुआ जिसका कारण उसमें व्यवहार पक्ष की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई थी ।

आठवीं शताब्दी में जैन सम्प्रदाय के भी रूपों में काफी परिवर्तन आ गया था वह पूर्व तीर्थंकरों के नियमों, कर्मकाण्डों की अधिकता और अतिक्रमणता से त्रस्त हो गया था इसीलिए उसमें बौद्ध, शिव, शाक्त आदि योगियों और तान्त्रिकों का प्रभाव पड़ा इससे इनकी नई बातों का समावेश हुआ और जैन मुनियों की धर्म साधना में परिवर्तन आया इसी सन्दर्भ में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है "अगर उनकी रचनाओं के ऊपर से जैन विशेषण हटा लिया जाय तो वे योगियों और तान्त्रिकों की रचनाओं से बहुत भिन्न नहीं लगेंगी । वे ही भाव और वे ही प्रयोग घूम फिर कर उस युग के सभी साधकों के अनुभव में आया करते थे ।"[1]

---

[1] मध्ययुगीन धर्म साधना, पृ0 43

जैन तीर्थंकरों मुनियों ने भी आत्म शुद्धि पर बल, बाह्याचार पाखण्ड एवम् रूढ़िवादिता का विरोध किया है । शरीर के द्वारा ही सभी प्रकार की साधनाओं को सम्भव बताया है । सभी साधना सम्प्रदायों में समरसी भाव से स्वसंवेदन ज्ञान की प्राप्ति उसकी सामान्य विशेषता है ।

हिन्दी साहित्य के उद्भव काल में जो सन्त हुए, उनमें जयदेव, नामदेव, लल्ला, त्रिलोचन, सधना, वेनी, रामानन्द, सेन आदि प्रमुख है । इन सन्त कवियों की एक लम्बी परम्परा है । इस परम्परा में जयदेव को प्रथम कवि माना जाता है, किन्तु यह कवि इस दृष्टि से अत्यन्त विवादास्पद है । सधना कवि का समय नामदेव के साथ जोड़ कर 14 वीं शती के उत्तरार्द्ध में निर्धारित किया गया है । सन्त वेणी का परिचय गुरु ग्रन्थ साहब में मिलता है इस परम्परा के प्रथम उल्लेखनीय कवि नामदेव हैं । इन सभी प्रमुख संतों का परिचय इस प्रकार है —

<u>जयदेव</u> :- कबीर ने अपनी रचनाओं में जयदेव का उल्लेख किया है । "गुरु प्रसाद जैदेउ नामां, भगति के प्रेमिन इन्हीं है जाना"[1] अत: यह कबीर के पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं । ये तेरहवीं शताब्दी के कवि

माने जाते हैं इस आधार पर इन्हें प्रथम संत कवि मान सकते हैं किन्तु कुछ लोग इन्हे गीत गोविन्द के रचनाकार के रूप में मानते हैं कुछ भिन्न । "नामा दास" ने अपनी "भक्त माल" मे इन्हे गीत गोविन्द का रचियता माना है । गीत गोविन्द मे जयदेव का परिचय मिलता है । इनका जन्म "किन्दु विल्व" नामक ग्राम मे हुआ था, इनके पिता का नाम भोजदेव, माता का नाम राधादेवी व पत्नी का नाम पद्मावती था । ये राजा लक्ष्मणसेन कवि के समकालीन थे व उनकी सभा के रत्न थे । एक अन्य मत के अनुसार जयदेव उड़ीसा के राजा कामार्णव (सं० 1256 – 70) तथा पुरुषोत्तम देव (सं० 1284 – 1294) के समकालीन थे ।[1]

गुरु ग्रंथ साहब मे इनको हिन्दी के दो पद संग्रहीत है व इनकी दो रचनाएँ और मानी जाती हैं पहली "रसना राघव", "दूसरी चन्द्रालोक"

नामादास ने अपने भक्त माल मे व कबीर ने इनको महिमा का गुणगान किया है व इनका नाम आदर के साथ लिया है । कबीर दास

---

[1]The Journal of the Kalinga Historical Research Society March, 1347.

लिखते है उनके सम्मान में —

जाके सुक उद्धव अक्रूर, हणवन्त जागे ले लंगूर ।
संकर जागे चरन सेव, कलि जागे नामा जैदेव ।। [1]

12वीं तेरहवी शताब्दी के आते-आते कुछ संस्कृत के कवि हिन्दी काव्य की ओर उन्मुख हो चुके थे, अतः हम गीत गोविन्द के जयदेव व संत जयदेव को एक ही मानते हैं ।

नामदेव

सन्त नामदेव का जन्म सन् 1270 में सतारा जिले के नरसी बमनी नामक गांव में हुआ था । इनकी जाति छीपी थी, इनके पिता दामासेर व माता गोनाबाई थीं । यह महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत विसोवा खेचर के शिष्य थे इनके चार पुत्र थे - नारायण, महादेव, गोविन्द व विट्ठल । संत ज्ञानेश्वर इनके समकालीन थे ।

महाराष्ट्र में नामदेव नामक छ सन्त हुए हैं । इस कारण एक का दूसरे में भ्रम होता है । इन छः संतों में ये सर्वाधिक लोकप्रिय हुए । कहते है कि शुरू में यह डकैत थे बाद में संन्यासी हुए, इनके सम्बन्ध में अनेक चमत्कार पूर्ण किंवदन्तियाँ को जोड़ दिया गया है । कबीर व रैदास ने इनकी महिमा का गान किया है । सन् 1350 {संवत् 1407}

अनुयायी हैं, व इनके अनुयायियों में मुस्लिम भी हैं ।

नामदेव ने मराठी के अतिरिक्त हिन्दी में भी अभंगों की रचना की । "ग्रंथ साहब" में इनके 61 पद संगृहीत हैं । इनकी प्रमुख रचनाएँ —

नामदेव की साखी, रामसोरठाका पद, नामदेव जी का पद है । इसके अतिरिक्त मराठी संग्रहों में भी इनके पद मिलते हैं । डा० भागीरथ मिश्र ने इनके समस्त साहित्य को "सन्त नामदेव की हिन्दी पदावली" नाम से प्रकाशित करवाया है, इसमें 230 पद व 13 साखियाँ हैं ।

नामदेव पहले सगुण मार्गी भक्त थे बाद में निर्गुण मार्गी हो गये । वह विठोबा अथवा विष्णु के भक्त थे, जो सृष्टि व प्रलय दोनों का कारण हैं व घट-घट में व्याप्त हैं । इस "अलख निरंजन देव" को उन्होंने राम, केशव, विट्ठल, रहीम, करीम नाम से पुकारा । ये आडम्बर, मूर्तिपूजा व बहुदेव वाद के कट्टर विरोधी थे व इन्होंने मनुष्य-मनुष्य में भेद अनुचित माना । इन पर हठयोगियों का प्रभाव लक्षित होता है । इनकी भाषा उस युग की प्रचलित लोक भाषा है जिसमें ब्रज, खड़ी बोली, मराठी, अरबी तथा फारसी के शब्द पाये जाते हैं ।

हिन्दी में संत काव्य परम्परा का प्रवर्तन उसकी अपनी विशेषता नहीं है वरन् यह मराठी में विकसित होती हुई हिन्दी में पहुँची महाराष्ट्रीय संत नामदेव ने यह सराहनीय कार्य किया, उन्होंने उत्तर भारत में बहुत समय तक रह कर अपने विचारों का प्रचार-प्रसार किया और हिन्दी मे बहुत से पदों की रचना की, जो आज भी बहुत संख्या में प्राप्त हैं। "डा० गणपति चन्द्र गुप्त" ने इन्हें हिन्दी संत-परम्परा का प्रवर्तक माना है। "अब तक हिन्दी के प्राय: सभी इतिहास कारों ने इनकी चर्चा करते हुए भी हिन्दी संत परम्परा का प्रवर्तक इन्हें न मानकर कबीर को माना है। ······· नामदेव मूलत: मराठी थे, सम्भवत: इसलिए उन्हें इस श्रेय से वंचित कर दिया गया, किन्तु यह ठीक नहीं है। विद्यापति ने संस्कृत और अपभ्रंश के अतिरिक्त हिन्दी में पदों की रचना की, जिसके लिए उन्हें हिन्दी की कृष्ण गीति परम्परा का प्रवर्तक माना जाता है। नामदेव की स्थिति भी लगभग ऐसी ही है, फिर उन्हें प्रवर्तक क्यों न माना जाए ?"[1]

वास्तव में नामदेव के काव्य में भाषा, शैली, विचार और भाव आदि जैसी सभी विशेषताएँ परवर्ती सन्त काव्य में मिलती है। अत:

---

[1] डा० गणपति चन्द्र गुप्त: आदिकाल की प्रामाणिक रचनाएँ, पृ० 42-49

हिन्दी सन्त काव्य परम्परा का प्रवर्तक नामदेव को मानना चाहिए, यही न्याय संगत होगा । उत्तर भारत के सन्त मत की सारी विशेषताएँ इनमें मिलती है । उदाहरण के लिए नामदेव के पद जो उत्तरी भारत के सन्त मत से सम्बन्धित है तथा हिन्दी काव्य से उनकी परम्परा तथा सभी प्रवृत्तियों के प्रमाण प्रस्तुत करती है ।

§1§ ईश्वर की प्रति दृढ अनुराग, माधुर्य पूर्ण भक्ति एवं विरह व्यंजना :-

"मोहि लागत ताला बेलो । बछरे विनु गाइ अकेली ।
पानीआ बिनु मीन तलफे । ऐसे राम नामौं बिनु बापुरो नामा ।।

× × × ×

कामी पुरुष कामिनी पिआरो । ऐसो नामें प्रीत मुरारी

× × × ×

मै बउरी मेरा राम भरतार ।
रचि रचि ताकउ करउ सिंगार ।।

§2§ अद्वैत वाद का प्रतिपादन —

सभु गोविन्दु है, सभु गोविन्दु है, गोविन्दु विनु नही कोई ।
सूतु एकु मणि सत सहस जैसे उतिपोति प्रभु सोई ।।
जलतरंग अरु फेन बुदबुदा, जल ते भिन्न न कोई ।
इहु परपन्चु पारब्रह्म की लाला, विचरत आन न होई ।।

कहत नामदेऊ हरि की रचना देखहु रिदै विचारी ।
घट-घट अन्तरि सरब निरन्तरि केवल एक मुरारी ।।[1]

§3§ गुरू का महत्व स्वीकार करना —

जऊ गुरूदेऊ न मिलै मुरारी ।
जऊ गुरदेऊ न उतरै पारि ।।[2]

§4§ मूर्ति पूजा पर व्यंग्य —

एकै पाथर कीजै पाऊ । दूजै पाथर धरिए पाऊ ।।
जे इहु देऊ तऊ उहु भी देवा । कहि नामदेव हरिकी सेवा ।।

§5§ जाति पाँति भेद का विरोध —

कहा करऊ जाती, कहा करउ पाती ।
राम्रु का नाम्रु जपउ दिन राती ।[3]

§6§ अनहद नाद एवं अलौकिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति —

नादि समाइलो रे सति गुर भेटले देवा ।
जह झिलमिल कारू दिसता । वह अनहद सबद बजैता ।
जोति-जोति समानी । मैं गुर परसादी जानी ।
रतन कमल कटोरी । चमकार बिजुल तहि ।
नेरे नाही दूरि । निज आतमि रहिआ भरपूरि ।[4]

---

[1]हिन्दी को मराठी संतों की देन: विनय मोहनशर्मा पृ0 111
2 " " " " " पृ0 113
3 " " " " " पृ0 114
4 " " " " " पृ0 115

§7§ इडा, पिंगला, सुषम्ना आदि का संयमन एवं यौगिक साधना की चर्चा —

वेद पुरान सासत्र आनंता गीत कवित न गावउगो ।
अखण्ड मण्डल निरन्कार महि अनहद बेनु बजावउगो ।
बैरागी रामहि गावउगो ।
सबदि अतीत अनाहदि राता, आकुल कै घरि जाउगो ।
इडा पिंगुला अउरु सुखमना पउनै बंधि रहाउगो ।

x x x x

अठ सठि तीरथ गुरू दिखाए घटहि भीतरि नाउगो ।

x x x x

नामा कहै चितु हरि सिउ राता सुन्न समाधि पावउगो ।[1]

§8§ हिन्दू मुस्लिम एकता का प्रतिपादन —

हिन्दू अंधा तुरकू काणा, दोहाँ ते गियानी सिआणा ।
हिन्दू पूजै देहुरा मुसलमाणु मसीत ।
नामै सोई सविआ जह देहुरा न मसीत ।[2]

इसके अतिरिक्त परवर्ती युग के सन्तों पर नामदेव का प्रभाव पर्याप्त मात्रा मे परिलक्षित होता है । कबीर, रज्जब, रैदास, दादू आदि ने नामदेव

---

[1]हिन्दी को मराठी संतों की देन-विनय मोहन शर्मा पृ0 116

[2]पंजाबी तोल, नामदेव, पृ0 111

का नाम बड़े सम्मान सूचक शब्दों में किया है, जो उस परम्परा की ओर स्पष्ट संकेत करता है । जैसे —

§1§ गुरु परसादी जैदेव को नामा ।
प्रगति के प्रेम इन्हहिं है जाना । — कबीर

§2§ नामा, कबीर सुकोन थे कून रांका बांका,
भगति समानी सब धरती तजि कुल काना का ।

— रज्जब

§3§ नामदेव, कबीर, त्रिलोचन, सधना धरनी सैनु तरै ।
कह रविदास सुनहु रे संतों, हरि जीउ ते सभै सरै ।
— रैदास

§4§ नामदेव कबीर जुलाहों जन रैदास तिरै ।
दादू वैगि बार नहिं लागें, हरि सौं सबै सरै ।

— दादू

इस प्रकार इन कवियों ने एक स्वर से नामदेव को अपनी परम्परा में प्रथम स्थान दिया है । इन सभी दृष्टियों से "विनय मोहन शर्मा" इसी निष्कर्ष पर जा पहुँचे हैं कि "नामदेव" में उत्तरी भारत के सन्त मत की सारी विशेषताएँ विद्यमान हैं वे कहते हैं — नामदेव में उत्तरी भारत के सन्त मत की सारी विशेषताएँ विद्यमान हैं । इसीलिए हम उन्हें उत्तर भारत में निर्गुण भक्ति मत का प्रथम प्रचारक एवम् प्रवर्तक

तथा कबीर आदि सन्तों का पथ प्रदर्शक मानते हैं। ..... यह सत्य है कि कबीर के समान नामदेव की रचनाएँ [हिन्दी] प्रचुर मात्रा में नहीं मिलती हैं, परन्तु जो कुछ भी प्राप्य है उनमें उत्तर भारत की सन्त परम्परा का पूर्वाभास मिलता है और उनके परवर्ती सन्तों पर उनका निश्चय ही प्रभाव पड़ा है — जिसे उन्होंने मुक्त कंठ से स्वीकारा है, ऐसी दशा में उन्हें उत्तर भारत में निर्गुण भक्ति का प्रवर्तक मानने में हमें कोई झिझक नहीं होनी चाहिए।[1]

नामदेव से कबीर तक यह परम्परा अखण्ड रूप में मिलती है तो यह सवाल उठता है कि अन्य महाराष्ट्रीय कवियों को जिन्होंने हिन्दी में रचना की है, इसमें स्थान क्यों न दिया जाए? महाराष्ट्र हो या अन्य कोई, जिन कवियों ने भी हिन्दी में पद रचना की उन्हें इतिहास में स्थान मिलना चाहिए। नामदेव के अतिरिक्त चक्रधर, महदासिया, दामोदर, पण्डित, ज्ञानेश्वर मुक्ता बाई आदि के भी हिन्दी में पद मिलते हैं किन्तु ये संख्या में अल्प मात्र है, रचनाकार के रूप में उनके नाम का मात्र उल्लेख ही किया जा सकता है। नामदेव के अनंतर भी संत एकनाथ,

---

[1]हिन्दी को मराठी संतों की देन- पृ0 128-129

अनन्त महाराज, तुकाराम, समर्थ रामदास, रंगनाथ, केशव स्वामी आदि प्रभृत्ति संतों ने मराठी के अतिरिक्त हिन्दी में रचना की परन्तु इसमें साहित्यिकता का अभाव है, हिन्दी जगत आज भी इनका ऋणी है। जो स्थान इन संत कवियों को दिया जाना चाहिए वह इन्हें दिया गया है। इन सभी में नामदेव का ऐतिहासिक एवम् साहित्यिक महत्व है तथा परवर्ती कवियों पर इनका अक्षुण्ण प्रभाव देखते हुए इन्हें सन्त परम्परा में स्थान दे दिया जा सकता है।

<u>सधना</u> :- सन्त सधना 14वीं शताब्दी के कवि थे। ये जाति के कसाई थे। डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने रामानन्द के शिष्यों में सधना को भी बताया है, और इन्हें जाति का खटिक बताया है। सन्त रैदास ने नामदेव, कबीर और त्रिलोचन के साथ सधना को भी उच्च कोटि का सन्त बताया है। इनके जीवन के सम्बन्ध में कोई खास उल्लेख नहीं मिलता है, अपने जाति गत व्यवसाय के अनुसार यह मांस बेचने का कार्य करते थे और शालिग्राम की मूर्ति का प्रयोग "बाँट" के रूप में करते थे। "सन्त गाथा" में इनके छ: पद दिए हुए हैं। डा० गियर्सन ने "सधना पंथ" के प्रचलित होने का उल्लेख किया है, किन्तु इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट प्रमाण

नहीं मिलता । सधना को बाद में सांसारिक जीवन से विरक्ति हो गई । गृह त्याग कर वह ईश्वर की आराधना तथा सत्य मार्ग पर अग्रसर हुए । जीवन में अनेक परिस्थितियों का सामना करते हुए अनेक कष्टों को भोगा । इन्होंने बहुत कुछ नहीं लिखा, जो लिखा वह भक्ति के क्षेत्र में अपना महत्व रखता है । "गुरु ग्रन्थ" में इनका लिखा एक पद मिलता है जो अनन्य भक्ति-भावना और रचनात्मक प्रौढ़ता का प्रमाण है । इनकी भाषा प्राचीन है तथा नामदेव के समान तथा इसमें अरबी-फारसी के भी शब्दों का प्रयोग हुआ है । इनके पद इस प्रकार है --

नृप कन्या के कारने इक भया भेखधारी ।
कामारथी सुआरथी बाको पैज संवारी ।। 2 ।।

तव गुन कहा जगतगुरो जो कर्म न नासै ।
सिंह सरन कत जाइए जो जम्बुक ग्रासै ।। 2 ।।

एक बूंद जल कारने चातक दुख पावै ।
प्रान गये सागर मिलै, फुनि काम न आवै ।। 3 ।।

प्रान जु थाके थिर नहीं कैसे बिरमावौं ।
बूडि मुए नौका मिलै कहु काहि चढावौं ।। 4 ।।

मैं नाहीं कुछ हौं, नही कछु आहि जु मोरा ।
औसर लज्जा राखि ले सधना जन तोरा ।। 5 ।।

त्रिलोचन :- त्रिलोचन का जन्म वैश्य वंश में संवत् 1324 (सन् 1267) में हुआ था। ये पंढरपुर के निवासी और नामदेव के समकालीन थे भक्त माल के अनुसार ये ज्ञानदेव के शिष्य थे। नामदेव ने स्वयं त्रिलोचन के प्रति अनेक पद कहे हैं, नामदेव और त्रिलोचन के संवाद का भी उल्लेख मिलता है। इनका नाम त्रिलोचन इसलिए पड़ा क्योंकि ये भूत, भविष्य और वर्तमान के दृष्टा थे। ये अतिथियों का सत्कार करने में सिद्धहस्त थे। जब अनेक सन्त इनके यहाँ आने लगे तो इन्होंने नौकर की खोज की। किंवदन्ती है कि स्वयं भगवान कुछ दिनों तक इनके यहाँ नौकर बन के इनकी सहायता की।

त्रिलोचन के चार पद "गुरु ग्रंथ साहब" में मिलते हैं। इनकी धारणा थी कि बिना राम की कृपा से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं। इन्होंने वाह्याचार का खण्डन किया। इनकी भाषा पर नामदेव के समान मराठी का प्रभाव है। गुरु ग्रंथ साहब में इनके ये पद मिलते हैं —

"नारायण निंदसि भूल गवारी। दुक्रित सुक्रित थारो करम री।
संकरा मसतकि बसता सुरसरि ईसान रे। कुल जन मधे मिलो
सारग पान रे।
करम कर कलंक मफीटसि री। विसव का दीपक सवामी तोथे रे
सुआरथी पंखि।

सोइ गुरुहूं तो पे बाधवा । करम कर अरुण पिंगलारो ।

अनिक पातिक हरता त्रिभवन नाथ को । करम कर कपाल मफोटसि रो

अमृत ससोआ धेन लक्ष्मी, कल पतर तिरिखर सुनागर नदो पे नाथे ।

करम कर खार मफोटसि को । दाधो ले लेकागद उपाड़ो ले ।

रावण वणि सल विसलि अन तोखीले हरि

करम कर कथ उटो मफोटसिरी ।

पूरबलो कृत कर्म न मिटे री ।

घर गहेरिणा तावे मोहि जीपाई ले राम पे नाम ।

बदित त्रिलोचन राम जी ।

<u>सन्त बेनी-</u> सन्त बेनो भी नामदेव के समकालीन थे और पश्चिमोत्तर भारत के रहने वाले थे । बेनी का विशेष विवरण ज्ञात नहीं है । गुरु ग्रंथ साहब में इनके तीन पद संगृहित हैं । इन पदों में बाह्याचार और खण्डन-मण्डन, कथनी-करनी में सामंजस्य स्थापित करने पर जोर दिया गया है । इन्होंने हठयोग के साधन से अध्यात्म की शिक्षा दी है । हठयोग ने इड़ा-पिंगला सुषुम्ना, अनहद, दशमद्वार और मोक्ष की चर्चा की है । और "राम" नाम से ही मोक्ष की प्राप्ति का उपदेश दिया है । इनकी भाषा प्राचीन और

असंस्कृत है । सिक्खों के पाँचवे गुरु अर्जुनदेव ने इनका उल्लेख किया है -

"वेणी कउ गुरि कीउ प्रगासु,

रे मन तभी होहि दासु ‡राग वसंत महला 5‡

संत काव्य-

सन्त लल्ला कश्मीर की रहने वाली साधिका थीं । इन्हें "लाल देव" नाम से भी जाना जाता है । ये जाति की मेहतर थीं । इनका समय 14वीं शताब्दी माना जाता है । सन् 1920 में डा० ग्रियर्सन और बर्नेट ने इनके पदों का संग्रह "लल्ला" वाक्यानि" नाम से प्रकाशित किया । गुरु ग्रंथ साहब में इनका ये पद मिलता है —

कर पलाव साखा बीचारे ।
अपना जनम न जुए हारे ।
असुर नदी का बन्धे मूल ।
पच्छमि फेर चढ़ावे सूर्य ।
अजर जरे सु निझर झरे ।
जगनाथ सिउ गोसटि करे ।
चउमुख दीवा जोत अपार ।
पलू अनंत जी मू ल विचाकार ।
सरब कला ले आप रहे ।

मन मानक रतन महि गहे ।

मसतकि पदम दुआले मणि ।

माहि निरंजन त्रिभुवन धनी ।

पंच शबद निरमाइल बाजे ।

ढुलके चवर संख घन गाजे ।

दलि मल देतहु गुरमुख ग्यान ।

बेनी जाचे तेरा नाम ।

रामानन्द [सं0 1356 - 1467]

स्वामी रामानन्द का जन्म प्रयागराज के एक कान्य कुब्ज ब्राम्हण परिवार में सं0 1356 में हुआ था । ये वैष्णव धर्मानुयायी थे इनके विषय में मतभेद है कुछ लोग इन्हें दक्षिण का बताते हैं जहाँ ये रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में चौदहवीं पीढ़ी में पड़ते हैं । कतिपय सैद्धान्तिक विषयों में विवाद के कारण इन्होंने वह स्थान छोड़ दिया और दक्षिण से उत्तर चले आये और काशी में रहकर राम भक्ति का प्रचार किया । परन्तु इनका दक्षिण वासी होना प्रमाणित नहीं हुआ है । कुछ लोग इन्हें राघवानन्द का शिष्य बताते हैं । इनके जन्म स्थान, तिथि के सम्बन्ध में स्पष्ट प्रमाण नहीं मिले हैं कुछ लोग इन्हें सं0 1400 के आसपास का बताते हैं ।

रामानन्द ने उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन का प्रचार किया, इनके इष्टदेव राम थे जिनकी भक्ति का प्रचार इन्होंने किया। इन्होंने सगुण की उपासना में विश्वास व्यक्त किया। ये राम के अनन्य उपासक थे राम की ही भक्ति पर जोर दिया सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया अन्त में काशी को अपना निवास स्थान बनाया।

रामानन्द ने ईश्वर के प्रति प्रेम, आपसी भाई चारे तथा मानवतावाद का संदेश दिया। इन्होंने आम जनता की भाषा हिन्दी में उपदेश दिये। इनके विचार सीधे जन-मानस तक पहुँचे। इन्होंने धर्म जात-पाँत, स्त्री-पुरुष आदि में भेद नहीं किया और ईश्वर के द्वार सभी के लिए खोल दिये। हिन्दू-मुसलमान, ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष सभी इनके अनुयायी हुए। इन्होंने अपने शिष्यों को "अवधूत" संज्ञा प्रदान की इनके प्रमुख बारह शिष्य थे, — अनन्तानन्द, कबीर, सुखानन्द, पद्मावत, नरहरि, रविदास, धना, सेन, सुरसुर, पीपा भावानन्द, रैदास।

इन बारह शिष्यों की सूची नाभादास ने भक्तमाल में दी है इनके द्वारा "दशधा भक्ति" के प्रचार का उल्लेख है पद इस प्रकार है —

अनन्तावाद कबीर सुखा सुरसुरा पदमावत नरहरि।
पीपा भावानन्द रैदास धना सेन सुरसुर की धरहरि।।

और शिष्य प्रशिष्य एक ते एक उजागर ।
विश्व मंगल आधार भक्ति दशधा के आगर ।।
बहुत काल वपु धारिकै प्रणत जनन को पार दियो ।
श्री रामानन्द रघुनाथ ज्यों दुतिय सेत जग तरण कियो ।।

{भक्तमाल, छन्द 37}

इन शिष्यों में पाँच-व्यक्तियों - कबीर पीपा, रैदास, धना और सेन की हिन्दी रचनाएँ प्राप्त होती हैं । रामानन्द के प्रशिष्य और अनन्तानन्द के शिष्य गणेशानन्द ने "भक्ति भावती जोग" नामक ग्रन्थ में दशधा भक्ति के लक्षण बताये हैं -- संयमित गृहस्थ जीवन का पालन, स्वावलम्बी, परस्त्रीगमन न करें, भेदभाव न करें परनिन्दा न करें, बुरा न बोले, दूसरों के दोष न देखे, शत्रु-मित्र के प्रति समभाव रखना, दूसरों के कष्ट निवारण के लिए सदैव तत्पर रहें और हरि को हृदय में बसायें ।

रामानन्द ने हिन्दी में कितना कुछ लिखा इसका ठीक से पता नहीं चलता है । "गुरु ग्रन्थ साहब" में इनका एक पद मिलता है । जिसको देखकर लगता है उन्होंने अन्य पदों की रचना भी होगी । इस पद में रामानन्द ने बाह्य अनुष्ठानों से अलग रहने, परम ब्रम्ह की उपासना

तथा गुरु बचनों में प्रतीती करने का उपदेश देते हैं —

कत जाइये रे घर लागो रंग । मेरा चित न चले मन भोइउ पंग ।

एक दिवस मन भई उमंग । घसि चंदन चोआ बहु सुगंध ।

पूजन चालि ब्रह्म थाइ । सो ब्रम्ह बताइयों गुरु मनहि माहि ।

जहाँ जाईऐ तह जल परवान । तू पूर रहिउ है सब समान ।

वेद पुरान सब देखे जाहि । उहा तह जाईये जऊ हीदाँ न होइ ।

सतिगुरु मैं बलिहारी तोर । जिन सकल बिकल भ्रम कोठ मोर ।

रामानंद सुवामी रम ब्रह्म । गुर का सबद काटे कोट करम ।

रामानन्द ने शूद्रों में नव-जागृति उत्पन्न की और इन्हें समाज की मुख्य धारा में प्रवेश दिया । इनके शिष्यों में कबीर-मुसलमान और पेशे से जुलाहा थे सेन-नाई, रविदास-चर्मकार थे । उनके बाद इनके अनुयायी दो समूहों में विभक्त हुए एक रूढ़वादी दूसरा सुधारवादी कहलाया । प्रथम के उदाहरण "भक्तमाल" के रचनाकार नाभादास तथा "रामचरित मानस" के रचयिता तुलसीदास थे । कबीर, नानक, रविदास आदि सुधारवादी थे ।

सेन – इनका आविर्भाव – काल विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी माना गया है ये जाति के नाई थे और महाराष्ट्र के रहने वाले थे । इनकी

भक्ति के सम्बन्ध में कई कथाएँ प्रचलित है । इनके सम्बन्ध में अधिक विवरण नहीं मिलता है इनका एक पद गुरु ग्रन्थ साहब में मिलता है —

धूपदीप घृत साजि आरती ।
वारने जाउ कमलापति ।।
मंगला हरि मंगला ।
नित मंगलु राजा राम राइको ।।
ऊतम दियरा निरमल बाती ।
तुही निरंजनु कमलापती ।।
रामा भगति रामानंदु जाने ।
पूरनु परमानंदु बखाने ।।
मदन मुरति मै तारि गोविंदे ।
सैणु भणै भजु परमानंदे ।।

उपर्युक्त पद में रामानन्द का नाम तथा कमलापति की आरती । यह स्पष्ट करता है कि सेना रामानन्द के समकालीन थे तथा उनके शिष्य थे ।

पीपा

—— सन्त पीपा का समय संवत् 1417 से सं0 1442 तक माना जाता है लेकिन परशुराम चतुर्वेदी इन्हें सम्वत् 1465और 1472 के बीच का मानते हैं ।

1· उत्तर भारत की सन्त परम्परा, पृ0 234

पहले भगवती दुर्गा के उपासक थे, बाद में रामानन्द से दीक्षित होकर वैष्णव हो गए । पीपा की भक्ति उत्कृष्ट कोटि की थी इनके सम्बन्ध में भी अनेक अलौकिक चमत्कार कहे जाते हैं । पीपा के काव्य में अधिक लोक प्रियता प्राप्त की थी । इनका दृष्टिकोण अन्य समकालीन संतों से अधिक निर्गुण उपासना से लिप्त था । इनकी कविता काउदाहरण भी गुरू ग्रन्थ साहब में मिलता है —

"कायउ देवा, काइआउ देवल काइअऊ जैगम जाती ।
काइयउ धूप दीप नदवेदा धारअउ पूजउ पाती ।।
काइया बहु खंड खोजते नव विधि पाई ।
नाकहु आइवो ना कहु जाइबो राम की दोहाई ।।
जो ब्रम्हंडे सरी पिंडि जो खोजे सो पावै ।
पीपा प्रणमै परम ततु है सति गुरू होई लाखावै ।।"

अत: पीपा, सेन, कबीर के पूर्ववर्ती सन्त थे और आलोच्यकाल के अन्तिम समय में विधमान थे । इसके अतिरिक्त रैदास, गुरू नानक, दादू आदि परवर्ती काल में ख्याति प्राप्त सन्त इसी परम्परा में हुए ।

§2§ सूफी काव्य

सूफियों का उद्भव नवीं शताब्दी के लगभग अरब में हुआ। इस्लाम के रहस्यवादी सूफी कहलाये और उनका दर्शन तसव्वुफ। "सूफी" शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में सूफियों मुसलमान साधकों तथा विद्वानों में मतभेद हैं। "सूफी" शब्द की व्युत्पत्ति यूनानी शब्द सोफिया से मानते हैं, जिसका अर्थ विद्या या ज्ञान है। अपने ज्ञान स्वम् रहस्यवाद के लिए इसे सूफी संज्ञा से अभिहित किया गया। कुछ लोग "सूफी" शब्द को "सूफा" नामक जाति से जोड़ते हैं। जो मुहम्मद के पूर्व मक्का के मन्दिर में उपासना करती थी। "सूफी" शब्द तीसरे मतानुसार "सफ" से बना है, जिसका अर्थ है "पंक्ति" इस मत के अनुसार सूफी अपने त्याग व तपस्या के कारण "कयामत" के दिन अगली पंक्ति में खड़े होंगे। चौथे मत से "सूफी" सूफा से बना है जिसका अर्थ है "चबूतरा" कुछ लोगों की धारणा है कि मदीना में मस्जिद के सामने एक सूफा §चबूतरा§ था, उसी पर जो फकीर बैठा कर ध्यान मग्न हुआ करते थे वे ही "सूफी" कहलाएँ। पाँचवे मत से सूफी का सम्बन्ध "सूफ" से है जिसका अर्थ है — "ऊन", उन्हें ऊनी

कम्बल लपेटे रहने के कारण ये साधक सूफी कहलाए। छठे मत से ये सूफा से निष्पन्न हैं, जिसका अर्थ है पवित्र निर्मल ।

सूफी मत इस्लाम धर्म का एक प्रधान अंग माना जाता है । यद्यपि अनेक सूफियों ने अपने को "मुहम्मदी मत" से अलग रखने की चेष्टा की थी । सूफी मत मुसलमानों से काफी भिन्न तथा लचीला है । इसी आधार पर कट्टर मुसलमान उन्हें इस्लाम से कुछ भिन्न समझते हैं । इस्लाम के उदय से पूर्व ही सूफी मत के सभी अंग पुष्ट हो चले थे । अतः "मुहम्मद साहब" के जन्म से पहले ही "सूफी" मत का उद्भव एवम् विकास हो चला था । यही कारण है कि "मुहम्मद साहब" के ग्रंथ में सूफी सिद्धान्त पाये जाते हैं । इसी आधार पर सूफी अपने मत को इस्लाम के अन्तर्गत समझते हैं ।

मुसलमानों के पतन के बाद "मसीहियों" का विकास हुआ । सूफी और मसीही सन्तों में बहुत साम्य था । "मसीह" के निवृत्ति प्रधान मार्ग में आध्यात्मिक प्रणय का स्वागत हुआ और लौकिक रति अलौकिक रति में परिणित हो गई । यही परम्परा सूफियों ने ग्रहण की ।

बारहवीं शताब्दी के आरम्भ में सूफियों का भारत में आगमन हुआ । तब सूफी मत भारतीय प्रभाव से प्रभावितहुआ, जिसमें "बौद्ध धर्म"

एवम् वेदान्त का सबसे अधिक इस पर प्रभाव पड़ा । वेदान्त के प्रभाव को लेकर सूफी मत ने अपना स्वतन्त्र विकास किया, जिसमें कुरान से सात्विक सिद्धान्तों का विशेष रूप से सम्मिश्रण किया गया इस मत पर दूसरा प्रभाव हठ योगियों का पड़ा, जिसमें योगियों के प्राणायाम तथा हठयोगियों के सिद्धान्तों की यत्रन्तत्र छाप मिलती है ।

भारत पर जब पहले मुसलमान आक्रमण कारी "मुहम्मद बिन कासिम ने [सन् 711ई0] आक्रमण किया । कुछ विद्वान तभी से सूफीयों का भारत में प्रवेश मानते हैं । "श्री परशुराम चिरतो" इसका श्रेय "अल्हुज्वरी" को देते हैं । "अल्हुज्वरी" भारत में विक्रम की बारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में आए । इन्होंने सूफी मत के सिद्धान्तों का विश्लेषण करने के लिए ग्रन्थ "कश्फुल महजूब" लिखा । इसमें तत्कालीन विविध सूफी सम्प्रदायों करके उनका परिचय भी दिया है । "क्षितिमोहन सेन" ने भी इन्होंने के अनुसार प्रथम सूफी "मकदूम सैयद अली अल्हुज्वीरी" को माना है । वह गजनी का निवासी था और "दाता गंज बख्श" के नाम से विख्यात था ।[1]

सूफी कई सम्प्रदायों में विभक्त थे जिसे रहस्यवादी समूह

---

[1]An account of those sadhaks must begin with the famous Makhdum Saiyad Ali Al Hujwiri, popularly knbw as Data ganj Bukhsh or Al Jultwi. He was an

अथवा "सिलसिला" के नाम से अभिहित किया गया । "अबुल फजल" ने "आइने अकबरी" में चौदह सूफी "सिलसिलों" का उल्लेख किया है ।

भारत में चार सिलसिलों चिश्ती, सुहरावर्दी, कादिरी तथा नक्सबन्दी को विशेष मानस्ता मिली । सबसे प्राचीन सिलसिला भारत का "चिश्ती सिलसिला" था जो "खानगाह" में निवास करते थे । सूफी को सन्त तथा तथा उनके शिष्य को "मुरीद" संज्ञाओं से सम्बोधित किया गया था ।

सूफी सिलसिले मुख्यत: दो वर्गों में विभाजित है — पहला है — " बा-शरा" अर्थात जो इस्लामी विधान (शरा) को मानकर चलते हैं, और दूसरा - बे -शरा" अर्थात वे जो (शरा) से बँधे हुए नहीं है । भारत में दोनों सिलसिले मिलते हैं "बे - शिरा" अधिकतर घुम्मक्कड़ सूफी सन्त ही होते थे । यद्यपि इन सूफी सन्तों ने अपने मत नहीं चलाए, किन्तु उन में कुछ जनता में प्रसिद्ध हो गये और उन्हें हिन्दू और मुसलमान दोनों समान रूप से आदर देते थे ।

भारत में प्रचलित होने वाले प्रमुख सिल सिले हैं —

(1) चिश्ती सिलसिला

§3§ कादिरी सिलसिला

§4§ नक्शबन्दी सिलसिला

§5§ शत्तारी सिलसिला

§6§ ऋषि सम्प्रदाय

§1§ चिश्ती सिलसिला

§ए§ ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती :- ये सिजिस्तान के मूल निवासी थे । ये 1192 में शिहाबुद्दीन गोरी की सेना के साथ भारत आए और इन्होंने समस्त भारत का भ्रमण किया, अन्त में राजस्थान में "अजमेर" को अपना स्थाई निवास बनाया । इन्होंने चिश्ती वंश की स्थापना की । यह समस्त भारत में लोकप्रिय हुए, इन्हें "सुल्तान उल - हिन्दू"§ भारत के आध्यात्मिक सम्राट§ की उपाधि मिली । सन् 1236 में इनकी मृत्यु हुई व इन्हें अजमेर में दफनाया गया । इनकी समाधि "ख्वाजा साहब" की दरगाह के नाम से प्रसिद्ध है । "ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी" इनके प्रमुख शिष्य थे ।

§बी§ ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार - यह इल्तुतमिश के समकालीन थे । ख्वाजा चिश्ती के कहने पर इन्होंने दिल्ली को केन्द्र बनाया व इनके

प्रयास से चिश्ती सिलसिला दिल्ली व उसके आस-पास से जनता में लोकप्रिय हुआ। इन्होंने फरीदउद्दीन मसूद गंज शकर को चिश्ती सिलसिले में दीक्षित किया। इन्होंने इस सिलसिले को काफी आगे बढ़ाया।

(सी) <u>फरीदउद्दीन मसूद गंज शकर</u> - ये बलबन के समकालीन थे इनका पूरा नाम "शेख-उल-इस्लाम मौलाना, दीवान वाला फरीद्-उद्-दीन गंग-ए-शकर सुलेमानी अनोधन है। इनका जन्म मुल्तान के समीप खेतवानी गाँव में हुआ था। बलबन की पुत्री से इनका विवाह हुआ था, किन्तु बाबा ने एकान्त तथा गरीबी का जीवन व्यतीत किया तथा बलबन से कोई सहायता व लाभ नहीं प्राप्त किया, ये त्याग और बलिदान की मूर्ति थे। मृत्यु 1265 ई0 में हुई। इनके शिष्य-शेख निजामुद्दीन औलिया, हजरत अलाउद्दीन साबिर थे। वे बाबा फरीद के नाम से विख्यात हुए बाबा ने निजामुद्दीन औलिया को उत्तराधिकारी नियुक्त किया।

बाबा फरीद की रचनाओं के सम्बन्ध में स्थिति स्पष्ट नहीं है। मौ0 अब्दुल हक ने अपनी उर्दू की "इब्तदाई नशोवनुमा" में सूफियाय कराय का काय नामक पुस्तक में शेख फरीद्दीन को दो पद उद्धृत किए हैं। जिसका एक पद इस प्रकार है -

तन धोने से जो होता दिल पूक
पेश रव असफिया के होते गूक
रीश सुब्लत से गर बड़े होते
बो कड़वां से न कोई वासिल होते ।
खाक लाने से गर खुदा पाएं
गाय बैलां भी वासिलां हो जाए
गोश गीरी से गर खुदा मिलता
गोश जूथा कोई न वासिल था
इश्क का मूज न्यारा है
बुज मदद पीर के न पारा है ।[1]

शेख फरीद की एक छोटी पुस्तक "झूलना शेख फरीद शकर गंज" नाम से उपलब्ध है । इसमें ईश्वर को प्राप्त करने का साधन वर्णित है –

"जली को याद करना हर घड़ी, यक तिल हूजूर सो टलना नई
उठ बैठ में याद सों शाद रहना गवाह दार को छोड़कर चलना नई।
पाक रख तू दिल को गैर सनी, आज साई फरीद का आवता है
कदीप कदीपी के आवने से, लाजवाल दौलत को पावता है ।।[2]

गुरु ग्रंथ साहिब में "सलोक सेख फरीद जी" के अन्तर्गत कुछ रचनाएं उपलब्ध हैं फरीद को "प्रेम की पीर" तीव्र शब्दों में अभिव्यक्ति करते हैं

---

[1]उर्दू की इब्तदाई नशोव–नुमा में सूफियाय कराम का काम, पृ० 12

[2]वही

कागा करंग ढंढोलिया, सगला खारया मासु ।
ऐ दोउ नैना मीत छुहउ, पिय देखन को आसु ।।
कागा चूंडि न पिंजरा बसै त उडरो जाए ।
जित पिंजरे मेरा सुह बसै मास न तिन्दु खाय ।।
फरीदा खाक न निन्दिए खाक जेउ न कोई ।
जीविन्दयाँ पैरा तले मोइयाँ उपर होई ।।
सखर पन्खी हेकडे, फाहीवाल पचास ।
इहु तन लहरी गुडथिआ, सचे तेरी आस ।।
विरहा विरहा आखीअै, विरहा तू सुल्तानु ।
फरीदा जितु तनि विरहु न उपजे,सौं तनु जाण मसानु ।।

(डी) <u>शेख निजामुद्दीन औलिया</u> :- इनका जन्म 1236 में बदायूँ में हुआ । बीस वर्ष की अवस्था में "अजोधन" में चिश्ती सिलसिले में दीक्षित हुए । इनका स्थाई निवास ग्यासुर था, जो दिल्ली के निकट था । इनके शिष्यों ने देश भर में अपने मत का प्रचार किया । सल्तनत काल में ये कई सुल्तानों के समकालीन थे परन्तु ये कभी किसी के दरबार में नहीं गये । गयासुद्दीन ने दिल्ली पहुँचने से पूर्व संदेश भेजा मेरे दिल्ली पहुँचने से पूर्व दिल्ली छोड़ दे । उन्होंने जवाब भेजा "हुनूज दिल्ली दूर सस्त" अभी दिल्ली दूर है । इससे पूर्व ही वह दुर्घटना के शिकार हो गये ।

§ई§ शेख बुरहानुद्दीन गरीब :- ये निजामुद्दीन औलिया के शिष्य थे । इन्होंने दक्खन में सूफी चिश्ती सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार किया और दक्खन में ही "दौलताबाद"को अपना केन्द्र बनाया ।

§एफ§ शेख गेसू दराज :- यह दक्खन में सूफी चिश्ती सिलसिले के सन्त थे । इनका बचपन दौलाताबाद में बीता । इनके पिता "मुहम्मद तुगलक" के राजधानी परिवर्तन के समय इन्हें साथ ले गये । ये पुन: उत्तर भारत लौटे और जन सेवा में लगे रहे । बहमनी सुल्तान फिरोज शाह बहमन के आमंत्रण पर वह पुन: दक्खन गये, वहाँ गुलबर्गा को अपना केन्द्र बनाया और अपने प्रयास से वहाँ एक मदरसा बनवाया । यह गेसू बाबा के नाम से प्रसिद्ध हुए । इनके प्रभाव से बहमनी सुल्तानों में धार्मिक सहिष्णुता तथा हिन्दू मुसलिम एकता का भाव पल्लवित हुआ । सन् 1422 ई0 में इनका निधन हो गया तथा गुलबर्गा में इनकी समाधि बनाई गई । इनका नाम सैयद मुहम्मद हुसैन था, परन्तु वे अपने तखल्लुस से अधिक प्रसिद्ध हैं । दक्खिनी हिन्दी में इनकी तीन रचनाएँ बताई जाती हैं —

§1§ हिदायतनामा

§2§ मआरान अल आशकीन

§3§ रिसाला सिपारा

इनका रचना काल सन् 1412 - 1422 तक माना जा सकता है । दक्खिन मे सूफी काव्य का प्रारम्भ इन्हों के द्वारा हुआ व इन्हों के द्वारा प्रस्तुत सूफी सिद्धान्त आगे प्रेम गाथाओं में विकसित हुए । उन्होंने अपने उदाहरण बहुत ही सरलता एवम् व्यवहारिकता से प्रस्तुत किया । इन्होंने ईश्वर को माशूक व स्वयं को आशिक माना । जो ईश्वर सम्पूर्ण जगत मे विद्यमान है, व उसे देखने के लिए सभी लालायित है, वह अपना माया का परदा हटाकर साधक को अपना जलवा दिखलाए व उसे अपने पर आसक्त करे। उस ईश्वर को मन मे ढूंढना चाहिए ।

मैं आशिक उस पीर का जिने मुझे जीव दिया है ।
ऊ पीव मेरे जीवन का बरभा लिया है ।
और माशूक बेमिसाल है नूर नवी पाया ।
नूर नबी रसूल का ऊ मेरे जीवन मे भाया ।
अपसकूं अपने देखने कैसो आरसी लाया ।
खड़े-खड़े पीव जीव मे आपसी आप दिखावे ।
ऐसे मीठे माशूक कूं कोई क्यों देखे पावे ।
जिन्ह देखे उसी कूं उसे और न भावे ।
कुल शे मुहीत है उसी कूं पिछाने ।
जो कोई आशिक उस जीव के इस जीव मे जाने ।
उसे देखत कम होए है जैसे मे दीवाने ।
ख्वाजा नसीरुद्दीन जिन्हें साइयाँ पीव बनाए ।
जीव का घूंघट खोल कर पिया मुंह आप दिखाए ।
रखे सैयद मुहम्मद हुसैनी पीव संग कहिया न जाए ।

इनका रचना काल सन् 1412 - 1422 तक माना जा सकता है। दक्खिन में सूफी काव्य का प्रारम्भ इन्हीं के द्वारा हुआ व इन्हीं के द्वारा प्रस्तुत सूफी सिद्धान्त आगे प्रेम गाथाओं में विकसित हुए। उन्होंने अपने उदाहरण बहुत ही सरलता एवम् व्यवहारिकता से प्रस्तुत किया। इन्होंने ईश्वर को माशूक व स्वयं को आशिक माना। जो ईश्वर सम्पूर्ण जगत में विद्यमान है, व उसे देखने के लिए सभी लालायित हैं, वह अपना माया का परदा हटाकर साधक को अपना जलवा दिखलाए व उसे अपने पर आसक्त करे। उस ईश्वर को मन में ढूंढना चाहिए।

मैं आशिक उस पीर का जिने मुझे जीव दिया है।
ऊ पीव मेरे जीवन का बरमा लिया है ।
और माशूक बेमिसाल है नूर नबी पाया ।
नूर नबी रसूल का ऊ मेरे जीवन में भाया ।
अपसकूँ अपने देखने कैसो आरसो लाया ।
खड़े-खड़े पीव जीव में आपसी आप दिखावे ।
ऐसे मीठे माशूक कूँ कोई क्यों देखे पावे ।
जिन्ह देखे उसी कूँ उसे और न भावे ।
कुल शे मुहीत है उसी कूँ पिछाने ।
जो कोई आशिक उस जीव के इस जीव में जाने ।
उसे देखत कम होए है जैसे मैं दीवाने ।
ख्वाजा नसीरुद्दीन जिन्हें साइयाँ पीव बनाए ।
जीव का घूंघट खोल कर पिया मुँह आप दिखाए ।
रखे सैयद मुहम्मद हुसैनी पीव संग कहिया न जाए ।

नारी आदि के मोह से बचने तथा पवित्र आचरण पर बल दिया ।

चिश्ती सन्त उदारवादी व एकेश्वरवादी थे । उनका विश्वास था, कि ईश्वर तक पहुँचने के कई मार्ग है । इसीलिए वे सभी धर्मों की एकता पर बल देते थे । इन्होंने कभी भी किसी धर्म की बुराई नहीं की, किन्तु वे विभिन्न धर्मों के कर्मकाण्ड के विरोधी थे । इनके विचारानुसार कर्मकाण्ड भौतिकता से जुड़े रहने के कारण सच्ची आध्यात्मिकता के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करता है । यह विभिन्न प्रकार के अंधविश्वासों एवम् धार्मिक कट्टरता को जन्म देता है, इसीलिए इससे प्रेम एवम् भक्ति सम्भव नहीं । चिश्ती शेखों ने मानव एकता तथा मानव सेवा का सन्देश दिया । सभी प्रकार की भक्ति से समाज सेवा को श्रेष्ठ स्वीकार कर इन्होंने इसे सर्वाधिक महत्व दिया । चिश्ती सलसिला मानव एकता का सच्चा प्रतीक है । इन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता एवम् समाज सुधार में महत्वपूर्ण योगदान दिया । निर्धन एवम् दीन-दुखियों की सेवा में लगे रहने के कारण चिश्ती सम्प्रदाय के सन्तों का समाज के विभिन्न वर्गों से सीधा सम्पर्क हुआ । इनके सीधे सरल तथा पवित्र आचरण ने लोगों को प्रभावित किया । इनके उदारवादी दृष्टिकोण तथा संगीत एवम् नृत्य साधना के कारण बहुत से हिन्दू इस सिलसिले के प्रति समर्पित होने के लिए प्रेरित हुए । चिश्ती सम्प्रदाय ने बहुत हिन्दू रीति-रिवाजों तथा

समारोहों को अपनाया जैसे - पीर के समक्ष झुक कर आदर भाव प्रकट करना, अतिथि को जल प्रस्तुति, लोगों में जाविल पेश करना आदि। इसमें नये प्रवेशार्थी का मुण्डन संस्कार, प्रार्थनादल, "चिल्लायचाकूस" आदि प्रथाएँ हिन्दू एवम् बौद्ध रीति रिवाजों से मेल खाती थीं। उल्लेखनीय है कि इसका आधार भी अन्य सूफी सिलसिलों की भाँति इस्लाम में था। प्रत्येक उपासक के लिए प्रार्थना व्रत उपवास तथा हज अथवा मक्का तीर्थाटन आवश्यक समझा जाता था। भारतीय परिवेश में यह इस्लाम का आदर्श रूप था। इस लिए अन्य सिलसिलों की अपेक्षा यह अधिक लोकप्रिय हुआ।

प्रारम्भ में यह राजस्थान, दिल्ली तथा आसपास के क्षेत्र पंजाब एवम् उत्तर प्रदेश में प्रचलित हुआ। इसके मुख्य केन्द्र राजस्थान में अजमेर, नारनौल, सुवाल नागौर-मण्डल पंजाब में हांसी, और अजोधन व उत्तर प्रदेश में अयोध्या, बदायूँ, मानिकपुर आदि थे। "शेख नासिरुद्दीन चिराग" के शिष्य "शेख सिराजुद्दीन" ने इसे बंगाल तक पहुँचाया। गुजरात में "हसमुद्दीन मुल्तानी" ने इसे प्रारम्भ किया। मालवा में इसे "शेख बुरहानुद्दीन" से दक्षिण में इसका प्रसार हुआ। "बाबा गेसु" ने दक्षिण में इसका व्यापक प्रचार प्रसार किया।

2- सुहरावर्दी सिलसिला

(अ) सिहाबुद्दीन सुहरावर्दी :- यह इस सिलसिले के संस्थापक थे। ये बगदाद के निवासी थे व शिक्षक थे। इनकी मृत्यु 1134 ई0 में हुई। यह सिलसिला मुसलमानों में लोकप्रिय हुआ। इनके शिष्य थे - "जलालुद्दीन तबरीजी" तथा बहउद्दीन जकारिया। इन लोगों ने भारत में इसका प्रचार किया।

(आ) जलालुद्दीन तबरीजी :- ये इस सिलसिले के संत थे। इस सिलसिले का भारत में प्रचार-प्रसार किया व बंगाल को अपना केन्द्र बनाकर "खानकाह" स्थापित किया। बंगाल में इस सिलसिले को अपनाया गया।

(स) बहाउद्दीन जकारिया -- भारत में सुहरावर्दी सिलसिले के संस्थापक थे। इन्होंने मुल्तान को केन्द्र बनाया तथा इनके नेतृत्व में मुल्तान इस्लामी शिक्षा का केन्द्र बना।

(द) जलालुद्दीन सुर्ख बुखारी :- ये सन्त थे, इन्होंने भारत में इस सिलसिले का प्रचार प्रसार किया, "उच्च" को केन्द्र बनाकर खानगाह स्थापित किया।

§इ§ शेख सैयद जलालुद्दीन :- ये शेख बुखारी के पौत्र थे इन्होंने "उच्च" के आस-पास व्यापक प्रचार किया इन्होंने स्थानीय जनजाती के लोगों को इस सिलसिले में दीक्षित किया और उत्तराधिकारी भी नियुक्त किया ।

§ई§ रुकनुद्दीन अबुलाफत :- ये शेख बहाउद्दीन जकारिया के पौत्र थे । इन्होंने भारत में इस सिलसिले का प्रचार किया व इनके शिष्यों ने समस्त भारत में प्रचार किया ।

"सुहरावर्दी" सन्तों ने सूफी आदर्शों का पालन किया । वे "वहदत-उल वुजूद" के सिद्धान्त को मानते थे । ये भी हिन्दू-मुस्लिम एकता के पक्ष में थे किन्तु ये चिश्तियों की भाँति सिलसिले में हिन्दू प्रभावों के पक्ष में नहीं थे । उन्होंने "पीर के समक्ष सम्मान में झुकना", "मुण्डन-संस्कार", "चिल्ला-ए-माकूस" आदि का विरोध किया । वे सिलसिले में संगीत तथा नृत्य के पक्ष में नहीं थे, इसलिए यह सिलसिला हिन्दूओं में चिश्ती पंथ की भाँति लोकप्रिय नहीं हुआ ।

सुहरावर्दी संत चिश्तियों की भाँति शारीरिक कष्ट तथा आर्थिक विपन्नता के पक्षधर नहीं थे । इन्होंने कहा -" आर्थिक समृद्धि

अच्छे पवित्र आचरण में बाधक नहीं होती ।* धन संचय में बुराई नहीं है, अगर वह सत्कार्य के लिए किया जाए । वे शासकीय सम्पर्क के पक्षधर थे । इनका मानना था कि शासक से सम्पर्क स्थापित कर उसे धार्मिक सहिष्णुता तथा जनहित के कार्यों के लिए प्रेरित किया जा सकता है । सुहरावर्दी पीर आर्थिक रूप से सम्पन्न थे ।

3. कादिरी सिलसिला :-

§अ§ शेख अब्दुल कादिर गिलानी :- इन्होंने इस्लाम में सर्वप्रथम सूफी सिलसिले की स्थापना की । यह उनके नाम पर ही "कादिरी पंथ" सम्बोधित हुआ । इन्होंने इसकी स्थापना अरब में की थी । यह सिलसिला भारत में पन्द्रहवीं शताब्दी में आया । इनकी मृत्यु 1166 ई0 में हुई ।

§ब§ सैयद मुहम्मद गिलानी :- इन्होंने भारत में कादिरी सिलसिले की स्थापना की । इन्होंने अपना स्थाई निवास "उच्च" को बनाया, वहीं से अपने सिलसिले का प्रचार प्रसार किया । इसके पश्चात् इनके पुत्र अब्दुल कादिर उत्तराधिकारी हुए और अपने पंथ का प्रचार किया ।

§स§ <u>मीर मुहम्मद कादिरी</u> :- ये इस सिलसिले के सर्वाधिक लोकप्रिय सन्त थे । जो शाहजहाँ तथा औरंगजेब के समकालीन थे । इनका स्थाई निवास लाहौर था और वहीं पर इनकी समाधि बनी जो एक तीर्थ स्थल बन गई ।

कादिरी सिलसिला भारत में अधिक लोकप्रिय नहीं हो सका । इसके अधिकांश पीर उदारवादी थे और हिन्दू मुस्लिम एकता के समर्थक भी थे, किन्तु इसमें "<u>शेख दाउद</u>" तथा "अबुलमाली" जैसे कट्टरवादी संत भी हुए, जिससे लोकप्रियता का ह्रास हुआ, साथ ही भारत में प्रचार-प्रसार अवरूद्ध हो गया । कहते हैं कि दाराशिकोह ने इस सिलसिले में दीक्षा ली । वह अपने उदारवादी दृष्टिकोण के लिए चर्चित था । इस सिलसिले के एक अन्य सन्त मुल्ला शाह भी थे ।

4. <u>नक्श बन्दी सिलसिला</u> -

§अ§ <u>बकी बिल्ला</u> :- यह § 1526 - 1603§ सूफी पीर थे । इन्होंने नक्शबन्दी सिलसिले की स्थापना की । ये काबुल निवासी थे । अकबर की सुलह-ए-कुल नीति के विरोध में दिल्ली आए और वहीं आकर बस गये ।

ये हिन्दू-मुस्लिम एकता के विरोधी थे, इन्होंने धार्मिक कट्टरता को बढ़ावा दिया । अबुल फजल की मृत्यु के पश्चात इन्हे विशेष सफलता मिली । अब्दुर्रहीम खानखाना इनसे प्रभावित हुए ।

§ब§ <u>शेख अहमद सरहिन्दी</u> :- ये ख्वाजा वकी बिल्ला की शिष्य परम्परा में थे । इन्होंने इस सिलसिले को आगे बढ़ाया ।

इससे धार्मिक कट्टरता को बढ़ावा मिला । इन सूफी सन्तों ने "वुहदत-उल-वुजूद" सिद्धान्त का विरोध किया इसके स्थान पर "वुहदत-उल-शुहूद" सिद्धान्त को मान्यता दी §मनुष्य की प्रतिमूर्ति नहीं है§ वरन् ईश्वर मालिक है और सबकी स्थिति नौकरों जैसी है । राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है और प्रजा का अस्तित्व राजा से अलग नहीं है । प्रजा को राजा की आज्ञा का पालन करना चाहिए क्योंकि वह जो भी करता है उचित करता है । इस्लाम धर्म सभी धर्मों में श्रेष्ठ है राजा को इस्लाम के अनुसार शासन करना चाहिए तथा अन्य धार्मिक विश्वासों का दमन करना चाहिए । ये हिन्दू-मुस्लिम एकता के विरोधी थे और सभी के द्वारा इस्लाम के अनुसरण के पक्ष में थे, इनके समय में इन विचारों को

बल मिला । मुगल बादशाह औरंगजेब पूर्ण रूपेण इसके प्रभाव में था । उसने मुस्लिम कानून की पुस्तक "फतवा-ए-आलमगीरी" की रचना की, और उसे पूरे समाज ने मान्यता दी । उसने धार्मिक कट्टरता की नीति का पालन किया । हिन्दुओं, शियाओं तथा उदारवादी संतों, पीरों का दमन किया । उसने "दाराशिकोह" तथा सूफी शेख सर्मद को मृत्यु दण्ड दिया ।

5. शत्तारी सिलसिला -

(अ) मुहम्मद गौश :- ये सूफी सन्त थे । इस सिलसिले की स्थापना शेख शाह अब्दुल्ला ने भारत में 15 वीं शताब्दी में की थी । ये इन्हीं के शिष्य थे । इनका निवास स्थान ग्वालियर था तथा ये हुमायूँ व अकबर के समकालीन थे । इनकी रचनाएँ - जवाहर-ए-खानगाह, खालिद-ए-मुखाजिन, नहरे उल-हयात" है । ये हिन्दू व मुसलमान की एकता के पक्षधर थे । इनकी मृत्यु 1562 ई0 में हुई थी ।

6. ऋषि सम्प्रदाय -

नूरुद्दीन ऋषि - ये काश्मीर में ऋषि सम्प्रदाय के संस्थापक थे । ये शैव मतावलम्बी काश्मीरी महिला सन्त "लल्ला योगेश्वरी" अथवा

"लालदेव" से प्रभावित थे । इन्होंने मानव एकता धार्मिक सहिष्णुता तथा प्रेम का संदेश दिया । ये सभी के प्रति समान व्यवहार में विश्वास रखते थे । इन्होंने जाति तथा धर्म के आधार पर भेद नहीं किया, समाज सेवा पर बल दिया, दीन-दुखियों की सेवा में लगे रहे, अनेक लोकोपकारी कार्य किए, जैसे मार्ग के दोनों ओर वृक्ष लगाना, पशुओं के प्रति दया के समर्थक थे । इसीलिए इन्होंने शाकाहार को अपनाया इन्होंने काश्मीरी भाषा में सूक्तियों की रचना की । वह संगीत एवम् नृत्य को भक्ति का माध्यम मानते थे ।

सूफी रहस्यवाद का आधार "वहदत उल-वुजूद" है । इसके अनुसार ईश्वर सर्वव्यापी है उसमें सबकी झलक है । उसमें कुछ अलग नहीं है । सभी मनुष्य समान हैं प्राय: सभी सूफी मुसलमान थे, किन्तु वे इस्लाम के अन्धानुकरण के पक्ष में नहीं थे सूफी मत का इस्लाम से अनेक मुद्दों पर मतभेद था । कुरान, मुहम्मद के आचार-विचार को तर्क के आधार पर जो उचित प्रतीत होता था, इन्होंने उसे अपनाया था । इन्होंने इस्लामी कट्टरता तथा कर्मकाण्ड का विरोध किया तथा भक्ति मार्ग को अपनाया । इस भक्ति के मार्ग में अधिकांश सूफीयों ने नृत्य तथा संगीत को माध्यम बनाया

जिसे "समा" कहा जाता है । सूफियों ने लौकिक प्रेम और लौकिक सौन्दर्य को अलौकिक रूप में देखा और ध्वनित किया है । सूफी लोग हिन्दुओं के सर्वेश्वरवाद के बहुत निकट पहुँच जाते हैं । इन्होंने हिन्दुओं के घरों की प्रेमगाथाओं को लेकर अपने अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति की इस शाखा के प्रधान कवि मलिक मुहम्मद जायसी हैं कुतुबन, मंझन, उसमान, शेखनबी, कासिमशाह, नूर मुहम्मद फाजिलशाह आदि कवियों का नाम भी इस परम्परा में लिया जाता है कुछ हिन्दु कवियों जैसे — दामों, हरिराज, मोहनदास आदि ने भी प्रेममार्गी परम्परा को अपनाया सूफी मत का परम लक्ष्य ईश्वरीय सत्य को जानना और सांसारिक वस्तुओं का त्याग है । इनके अनुसार ईश्वर एक है जिसका नाम "हक" है । आत्मा और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं है सूफी सन्तों का ईश्वर सृष्टिकर्ता, अलख अनादि, सर्वशक्तिमान, अजन्मा, सर्वव्यापी, अनन्त और अवर्णनीय होने पर भी उनका प्रियतम है । सूफियों के ईश्वर में विशेषता यह है कि इनके ईश्वर की प्राप्ति का एक मात्र साधन प्रेम है इस प्रेम मार्ग में ईश्वर स्त्री के रूप में है जो उनके सम्मुख एक दैवी स्त्री के रूप में उपस्थित होता है । यह प्रेम निःस्वार्थ है । सूफी फकीर इस प्रेम के नशे में चूर होकर

परमात्मा में मन को लगा लेते हैं । इन्द्रिय संयम, त्याग, ईश्वर स्मरण और आध्यात्मिक कार्यों में लगे रहते हुए उस परमात्मा की प्राप्ति सम्भव मानते हैं । सूफी मत में बन्दे अपने ईश्वर के सम्मिलन में एक बाधा को स्वीकारते हैं वह है माया जिसे शैतान के रूप में कल्पना की है । इसके निवारण हेतु सूफियों ने एक पीर §गुरु§ की आवश्यकता होती है । इसीलिए सूफी मत में पीर को बहुत सम्मान प्राप्त है पीर ही ऐसा शक्तिशाली साधन है जो साधक §बंदे§ को शैतान से बचा सकता है ।

सूफियों ने वेदांतियों की तरह जीव को ब्रह्म माना है । सूफी मत में आदमी अल्लाह का प्रतिरूप है । मूलत: अल्लाह और बंदे में कोई अन्तर नहीं है । प्रसिद्ध सूफी मन्सूर बिनहल्लाज वेदान्त के "अहं ब्रह्मास्मि" के समान ही "अनहलक" का नारा बुलन्द करते थे । सूफियों पर यह प्रभाव किस रूप में पड़ा यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है । कुछ लोग इसके मूल में भारतीय अद्वैत दर्शन का प्रभाव मानते हैं और कुछ लोग इसे न्यु प्लेटोनिक दर्शन की देन मानते हैं । सूफियों की दृष्टि से सृष्टि का उपादान कारण "रूह" है । "रूह" का अर्थ "अलौकिक शक्ति" है । जो इन्सान में अंश के रूप में स्थित है । अर्थात् सूफियों के मतानुसार

सृष्टि वह दर्पण है जिसमें अल्लाह {ईश्वर} के आत्मदर्शन की कामना पूरी होती है इसी दर्पण में अल्लाह का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वही इन्सान है ।

सूफी प्रेम-काव्य की प्रवृत्तियाँ --

1- प्रेममार्गी कवियों की प्रेम गाथाओं पर फारसी की मसनवी पद्धति का प्रभाव है व उसी के अनुसार कथा आरम्भ होने से पहले ईश्वर की आराधना, मुहम्मद साहब की स्तुति तथा तत्कालीन शासक की प्रशंसा व कवि परिचय होता है । लेकिन हिन्दी प्रेमाख्यानकों में मध्यकाल की वर्णनात्मक शैली के अनुसार नगर, उपवन, बरात आदि का वर्णन है ।

2- सूफी कवियों ने भारतीय कथाओं में प्रयुक्त रूढ़ियों का प्रयोग किया है जैसे चित्रदर्शन, स्वप्न या शुक-सारिका या किसी से नायिका का रूप वर्णन सुनकर उस पर आसक्त हो जाना, पशु-पक्षी से वार्तालाप, मन्दिर इत्यादि में प्रेमियों का मिलना इत्यादि, इसके अतिरिक्त ईरानी साहित्य के कथानक की रूढ़ियों का भी प्रयोग हुआ है ।

3- सूफी प्रेम काव्य के रचनाकार सभी मुसलमान थे किन्तु उन्हें हिन्दू संस्कृति, सिद्धान्तों व आचार-विचार, रहन-सहन का परिचय था इसीलिए इनके काव्य में हिन्दू संस्कृति का स्वभाविक वर्णन मिलता है ।

4- सूफी कवियों की प्रेम कथाएँ हिन्दुओं के घरों की परम्परा से चली आ रही प्रचलित कहानियाँ हैं जिनमें इतिहास व कल्पना का मिश्रण है इसमें शुभ-अशुभ, जादू-टोना और तन्त्र-मन्त्र का उल्लेख है सूफी कवियों ने इस काव्य रचना के द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है ।

5- सूफी कवियों की रचनाएँ लौकिक प्रेम के आधार पर अलौकिक प्रेम की व्यंजना करती है । इसी कारण इन कथाओं में जहाँ ऐतिहासिकता बाधक हुई वहाँ कल्पना का पूर्ण रूपेण समावेश किया गया है । सूफी मतानुसार परमात्मा एक है और आत्मा उसका अंश है । इनकी प्रेम कथाओं में जो अलौकिक प्रेम है वह जीवात्मा का परमात्मा के लिए तीव्र प्रेम है व इसके मिलन मार्ग में अनेकों विपत्तियाँ हैं जो शैतान का सूचक हैं श्रेष्ठ गुरू की कृपा से साधक ईश्वर को प्राप्त करता है ।

6- इन प्रेममार्गी सूफी कवियों ने अवधी भाषा का प्रयोग किया है । क्योंकि इन कवियों का मुख्य केन्द्र अवध ही था । इसके अतिरिक्त कुछ कवियों पर भोजपुरी व ब्रज का भी प्रभाव है ।

7- सभी सूफी प्रेम काव्य के रचनाकारों ने दोहा चौपाई को

8- भारतीय धर्म में प्रेम पद्धति में आत्मा को पत्नी व परमात्मा को पुरूष मानकर आत्मा को परमात्मा से मिलन के लिए प्रयत्नशील दिखाया गया है । इस भारतीय शैली का भी सूफियों पर प्रभाव पड़ा उन्होंने पहले तो नायक को प्रियतमा प्राप्ति के लिए उत्सुक दिखाया बाद में नायिका के भी प्रेम का उत्कर्ष दिखलाया है । जायसी ने अपने पद्मावत में पद्मावती के सतीत्व तथा उत्कृष्ट पति प्रेम दिखा कर भारतीय प्रेम पद्धति का निरूपण किया ।

9- इन सूफी कवियों ने किसी सम्प्रदाय का विरोध नहीं किया है । ये मुसलमानों की तरह कट्टर नहीं थे वरन् खुले विचारों व सरल स्वभाव के ये वरन् खुले विचारों व सरल स्वभाव के थे । इनके काव्योपदेश में आडम्बर नहीं था ।

10- सूफी प्रेम काव्य के रचनाकारों ने अधिकतर रचनाएँ प्रबन्ध शैली में लिखी है ।

11- इन कवियों के प्रबन्ध काव्य में नायक को विशेष महत्वपूर्ण स्थान मिला है । नायक के माध्यम से उन्होंने प्रेम मार्ग का प्रचार किया । नायक

तमाम कठिनाइयों का मुकाबला करता हुआ अन्त में प्रियतमा ‡ईश्वर‡ को प्राप्त कर लेता है ।

12- इन कवियों ने प्रबन्ध के साथ-साथ मुक्तक शैली का भी प्रयोग किया है । इसमें पद दोहे, झूलने, भजन, चौपाई, छन्द, कुण्डलियों का प्रयोग हुआ है । इस शैली में लिखने वाले अमीर खुसरो प्रथम कवि हैं ।

13- इन प्रेममार्गी सूफी कवियों ने मानव मन के सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों चित्रण किया है । इनकी भाव व्यंजना प्रभावपूर्ण है जिसमें रति और शोक के वर्णन तो अत्यधिक भावपूर्ण हैं ।

14- सूफी कवियों पर भारतीय धर्म और दर्शन के अद्वैतवाद, वैष्णवों का अहिंसावाद हठयोगियों से यौगिक क्रियाओं को ग्रहण किया था । साथ ही इन पर उपनिषदों का प्रभाव भी परिलक्षित होता है ।

15- इन कवियों ने रहस्यवाद को अनुपम, सरस व्यंजना की है । इनका रहस्यवादी सन्तों की तरह शुष्क न होकर सरस है । इन्होंने शंकर के अद्वैत दर्शन को ज्यों का त्यों स्वीकारा है । "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" के सिद्धान्त को माना है । इनके काव्य में मानव हृदय की कोमल भावनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है । उन्होंने उस अव्यक्त सत्ता

चन्दायन – मौलाना दाऊद

सूफी साहित्य को भक्तिकाल में स्थान देने का श्रेय पं० रामचन्द्र शुक्ल को है, यह इनकी मौलिक विशेषता है । भक्तिकाल की निर्गुण काव्यधारा के अन्तर्गत उन्होंने प्रेममार्गी (सूफी) शाखा को पृथक स्थान दिया है । इस प्रेम काव्य परम्परा में अब्दुल रहमान के बाद मौलाना दाऊद दूसरे मुसलमान कवि है मुल्ला दाऊद सूफी साधकों में अत्यधिक लोकप्रिय रहें चिश्तिया सम्प्रदाय से इनका गहरा सम्बन्ध था और दाऊद ने अपने को जैनदी का शिष्य कहा है :—

सेख जैनदी हौं पथिलावा ।
धरम पंथ जिन्ह पाप गंवावा ।।

शेख जैनदी (जैनुद्दीन) प्रमुख चिश्ती संत हजरत नसीरूद्दीन महमूद की बड़ी बहन के बेटे और नसीरूद्दीन के शिष्य थे । नसीरूद्दीन प्रसिद्ध सूफी निजामुद्दीन औलिया (मृत्यु सं० 1342) के खलीफा थे । नसीरूद्दीन को "चिरागे दिल्ली" भी कहा जाता था । जिसका विस्तृत परिचय तथा विवरण पहले दिया जा चुका है दाऊद की गुरू शिष्य परम्परा का वृक्ष इस प्रकार है —

ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती §दिल्ली के§

↓

ख्वाजा कुतुबुद्दीन §दिल्ली§ के

↓

शेख फरीदुद्दीन

↓

अलाउद्दीन अली अहमद
साबीर

हजरत निजामुद्दीन औलिया
§सं0 1295 सं0 1382§

↓

नसीरुद्दीन मृत्युसंवत् §1413§

↓

जैनुद्दीन

↓

दाऊद
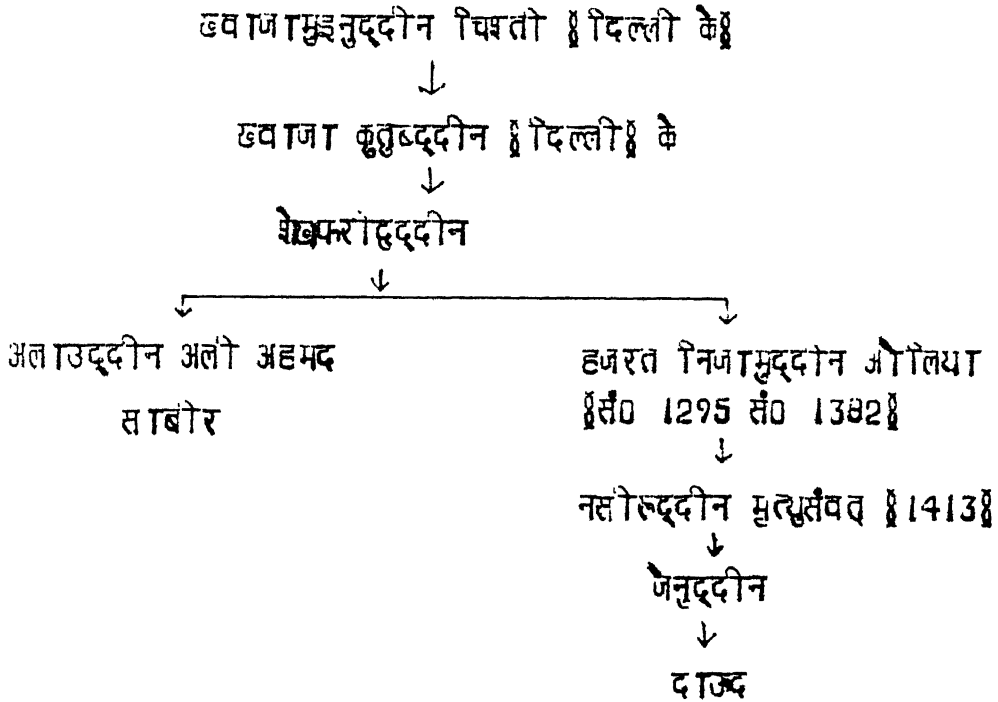
चन्दायन का समय विक्रम की 15 वीं शती पूर्वार्द्ध ठहरता है। कवि ने अपने को डलमऊ का रहने वाला बताया है। डलमऊ गंगातट पर स्थित रायबरेली जिले का एक प्रसिद्ध कस्बा है। चन्दायन में एक स्थान पर "मलिक बया पूत उहरन धीरू। मलिक मुबारक तहाँ के मीरू के आधार पर श्री परमेश्वरी लाल गुप्त का अनुमान है कि "दाऊद के पिता का नाम मलिक मुबारक और पितामह का नाम मलिक बयाँ था। मलिक मुबारक डलमऊ के मीर §न्यायाधीश§ थे और उन पर दिल्ली सुल्तान

फीरोजशाह तुगलक की मन्त्री खान-ए-जहाँ की कृपा थी ।"[1]

मौलाना दाउद का ग्रन्थ "चन्दायन" जिसे विद्वानों ने चँदावन, चँदावत, चन्द्रावती, चंदैनी, "नूरक चँदा" आदि नामों से भी विभूषित किया है, परन्तु वर्तमान समय में "चन्दायन" नाम ही प्राप्त प्रतियों के आधार पर उपयुक्त ठहरता है इस ग्रन्थ का सर्वप्रथम उल्लेख मिश्र बन्धुओं ने बहुत पहले सम्वत् 1970 में अपने "विनोद" में कर दिया था । इसके उपरान्त प्रेम काव्य परम्परा पर शोध ग्रन्थ और आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखे गये, परन्तु किसी भी विद्वान ने दाउद की रचना को प्रकाश में लाने का प्रयास नहीं किया लगभग अर्धशती तक हिन्दी के पाठक दाउद का

---

[1] Sham-i Siraj Afif says that Khan-i Jhan died in 770 A.H. (1368 A.D.) and was succeeded by his son, but in another place he says that he was alive in 772 A.H. (1370 A.D.). The latter date is correct. It is supported by an inscriptain in the 'black mosque' near the tomb of Shanikh Nizamaddin Aulia, in which the date of the son's entry in office is given as 772 A.H.

Dr. Ishwari Prasad: History Medieval India P. 282.

नाम सुनते रहे, किन्तु काव्यानन्द से वंचित रहे, कुछ वर्षों पूर्व हिन्दी लेखकों, पुरातत्व और इतिहास के विद्वानों का ध्यान "चन्दायन " के उद्धार की ओर गया, और उसके मूल पाठ को प्रकाशित कराने का प्रयास किये गये इस सन्दर्भ में डॉ0 माताप्रसाद गुप्त और श्री परमेश्वर लाल गुप्त का कार्य सराहनीय है जिन्होंने "चन्दायन" का मूलपाठ, पाठान्तर, टिप्पणी, एवम् खोजपूर्ण सामग्री सहित रचना को सम्पादित करके हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर लिमिटेड बम्बई में प्रकाशित कराया ।"चन्दायन" का रचनाकाल 781 हिजरी सं0 1426 वि0 प्रमाणित हो चुका है । इसके प्रकाश में आने पर पूर्व प्रचलित विवाद समाप्त हुआ, नये तथ्यों का समावेश हुआ ।

चन्दायन प्रथम सूफी काव्य है, जो मसनवी ढंग पर लिखा गया है, इसमें कवि तथा ग्रन्थ के सम्बन्ध में अल्प, किन्तु प्रमाणिक जानकारी प्राप्त हुई है उसमें लिखा है :-

बरिस सात सैन होइ इक्यासी । तिहि जाह कवि सरसेउ भाषी "।"

साहि: फिरोज दिल्ली सुल्तान । जौनासहि वजीर बखान् "2"

1• श्री परमेश्वरी लाल गुप्त द्वारा सम्पादित - चन्दायन, पृ0 84

डलमऊ नगर बसै नवरंगा । ऊपर कोर्ट तले बहै गंगा "3"

धरमी लोग बसहिं भगवंता । गुनगाहक नागर जसवंता "4"

मलिक बयां पूत उधरन धीरू । मलिक मुबारक वहाँ के मीरू "5"

कवि ने शाहेवक्त के रूप में फिरोजशाह का उल्लेख किया है, जिसका शासन सम्वत् 1408 से सं0 1445 तक था । जौनाशाह खानजहाँ मकबूल के पुत्र थे और पिता की मृत्यु के उपरान्त सम्वत् 1427 (सन् 1370) में फिरोजशाह के वजीर बने थे ।[1] फिरोजशाह तुगलक के समय जनता में मुस्लिम सिद्धान्तों के प्रचार के लिये यहाँ पर विद्यालय स्थापित किया जिसका विवरण मुल्ला दाऊद की एक अन्य रचना "चंदैनी" नामक भाषा पुस्तक से प्राप्त किया जा सकता है ।

सूफी कवियों ने अपने काव्य में लौकिक प्रेम के माध्यम से आध्यात्मिक काव्य का वर्णन किया है चंदायन में चंदा और लोरिक (लोलार्क) अर्थात सूर्य की प्रेम कथा है । इस प्रकार नायक लोरिक और नायिका चाँद प्रेम मार्ग की साधना के प्रतीक हैं । सूर्य और चंद्र का मिलन ही समरस या महासुख है । इसकी कथा इस प्रकार है — चंदा गोबरगढ़ के राजा सहदेव की बेटी है जिसका विवाह बावन

से हो चुका है किन्तु वह अपने पति व सास से खुश नहीं है । एक दिन वहाँ एक भिखारी "बाजुर" आता है । वह उसका अतुलित रूप सौन्दर्य देखकर राजापुर के राजा राव रूपचन्द को उसके रूप सौन्दर्य का नख-शिख वर्णन करता है । राजा चंदा को प्राप्ति हेतु गौरगढ़ पर चढ़ाई कर देता है । चंदा का पिता लोरिक वीर के यहाँ सहायता के लिए संदेश देता है । लोरिक आकर युद्ध में विजय प्राप्त करता है । साथ ही दोनों चंदा व लोरिक प्रेम बन्धन में बंध जाते हैं ।चंदा की सखी उनके मिलन में सहायता करती है । एक दिन चंदा लोरिक के साथ चली जाती है, उसका पति बावन उसका पीछा करता है किन्तु लोरिक को घायल नहीं कर पाता तो हरदीपाटन चला जाता है । चंदा और लोरिक तमाम बाधाओं को पार करते हुए हरदीपाटन नगर पहुँचते हैं । वहाँ का राजा दोनों का सम्मान करता है । इधर, लोरिक की पत्नी मैना लोरिक के विरह में पीड़ित है । वह कुछ व्यापारियों द्वारा लोरिक के पास सन्देश भिजवाती है । संदेश पाकर लोरिक चंदा के साथ घर आता है । चंदा व मैना मिल कर रहती है । लोरिक की माँ खुशी खुशी चंदा व लोरिक को अपना लेती है । उपलब्ध प्रतियों में इतना ही कथा मिलती

मुल्ला दाउद के सम्बन्ध में दूसरी कुछ समस्याओं के समान उनकी भाषा को लेकर भी विद्वानों में मतभेद है । प्राय: विद्वान इनकी भाषा अवधी मानते हैं जिसके सम्बन्ध में परमेश्वरी लाल गुप्त ने भूमिका में लिखा है —"हमें आश्चर्य यह देखकर होता है हमारे विद्वान इस बात की तो तर्क पूर्ण कल्पना कर सकते हैं कि दाऊद डलमऊ के थे और डलमऊ अवध में है । अवध की भाषा भी अवधी कहलायेगी । अत: दाऊद की भाषा अवधी ही होगी । पर इस वास्तविक तथ्य को नहीं देखते कि चन्दायन की रचना न तो अवधी वातावरण में हुई थी और न उसका आरम्भिक प्रचार अवधी क्षेत्र के बाद था ।"[1]
परमेश्वरी लाल गुप्त ने इसे अवधी की रचना नहीं माना है, हालांकि उन्होंने इस रचना की भाषा पर वैज्ञानिक रीति से विचार नहीं किया । चँदायन की भाषा के सम्बन्ध में उनका विचार है कि - "दाऊद ने अपने काव्य के लिए ऐसी भाषा को अपनाया था जो अपभ्रंश साहित्य की शब्द परम्परा से विकसित होकर व्यापक रूप से देश के विस्तृत भू-भाग में प्रचलित थी ।"[2] चँदायन पर उसकी भाषा के व्याकरण रूपों को लेकर

1· चँदायन, परमेश्वरी लाल गुप्त द्वारा सम्पादित, पृ0 - 31-32
2· वही — पृ0 35

वैज्ञानिक रीति से विचार करने वाले "माता प्रसाद गुप्त" का कथन है कि "दाउद की रचना में अवधी के अतिरिक्त किसी भी मध्ययुगीन या आधुनिक आर्य भाषा के तत्त्व ढूंढना बेकार होगा । दाउद की रचना ठेठ अवधी और विशुद्ध अवधी में है ।"[1]

---

1. डॉ० माता प्रसाद गुप्त, हिन्दी साहित्य कोश, भाग-दो पृ०160

अध्याय - 5

प्रशस्ति मूलक वीरत काव्य

हिन्दी साहित्य के उद्भव काल में वीरता की भावना से पूर्ण वीरत्व का एक नया स्वर सुनाई देता है, जो इस युग की एक मुख्य प्रवृत्ति थी। इस मुख्य प्रवृत्ति के आधार पर ही "आचार्य रामचंद्र शुक्ल" जी ने इस युग का नामकरण "वीरगाथा काल" नाम से किया। उस समय जो उपलब्ध सामग्री थी, उसके आधार पर यह नाम ठीक ही प्रतीत होता है। क्योंकि शुक्ल जी ने अपने साहित्य के इतिहास में इस काल की जिन 12 रचनाओं को स्थान दिया, उनमें से 9 में यही स्वर सुनाई देता है। उद्भव कालीन उपलब्ध लगभग समस्त साहित्य पश्चिम भारत में रचा गया। यह वह युग था जब भारत उत्तर-पश्चिम से विदेशी आक्रान्ताओं के आक्रमण झेल रहा था। तत्युगीन परिस्थितियों का विवरण प्रथम अध्याय में दिया जा चुका है। देश की बड़ी राजधानियां जैसे -दिल्ली, अजमेर, अहिलवाद और कन्नौज इत्यादि पश्चिम क्षेत्र में पड़ती थी। यहाँ पर बोली जाने वाली भाषा ही शिष्ट समझी जाती थी। फलत: उसी में सृजन कार्य हुआ। बहुत समय तक यह धारणा बनी रही कि "रासो" संज्ञा से अभिहित समस्त

काव्य वीर रसात्मक काव्य ही हैं । जबकि यह सही नही है, अब यह सिद्ध हो चुका है कि रासो काव्य न केवल आदिकाल में वरन् बाद में भी लिखा गया और उसका विषय मात्र प्रशस्ति मूलक काव्य न होकर श्रृंगारिक, रोमांचक और उपदेशात्मक भी रहा है ।

अधिकांश चरित काव्य राजस्थान में ही लिखे गये । उस युद्ध के वातावरण वाले युग में, जब आन्तरिक कलह व विदेशी आक्रमण से देश त्रस्त था, तब राजस्थान की वीर प्रसु भूमि के राजपूतों ने अपने शौर्य, वीरता, ओज से जनता को आकर्षित किया और जनता ने अपने इन नायकों की प्रशंसा में ओजपूर्ण रचनाएं रचीं । उस युग में लड़ने वालों की संख्या कम थी क्योंकि युद्ध तथा देश रक्षा का भार एक जाति विशेष पर था । हर ओर से आक्रमण की सम्भावना थी, इसलिए इस जाति के लोगों को चैन नही था । "निरन्तर युद्ध को प्रोत्साहित करने को एक वर्ग आवश्यक हो गया था । चारण इसी श्रेणी के लोग हैं । उनका कार्य ही था — हर प्रसंग में युद्धोन्माद को उत्पन्न कर देने वाली घटना योजना का आविष्कार।"[1] चारणों का इस प्रकार की रचना करना उस युग की स्थिति को देखते हुए सहज और स्वाभाविक ही था । धर्म और शासन से आश्रय, प्रोत्साहन और संरक्षण प्राप्त कर यह साहित्य सुरक्षित रक्खा गया । ये प्रशस्ति मूलक चरित

काव्य अपने आश्रय दाता राजाओं की प्रशंसा में लिखे जाते थे, उनकी वीरता व साहस की प्रशंसा पूरे ओजपूर्ण स्वर में की जाती रही । वीरता पूर्ण वर्णन के साथ-साथ युद्धों के सजीव व सुन्दर वर्णन हैं । सैन्य संगठन तथा युद्ध स्थल से सम्बन्धित समस्त बातों का विशेष ध्यान में रखकर उसका भव्य, मनोहर तथा रोमांचक नक्शा खींच के रखा गया है । चूंकि उस समय अधिकांश युद्ध स्त्रियों के कारण ही होते थे, अत: काव्य में उन स्त्रियों के रूप सौन्दर्य का वर्णन मुख्य विषय रहता था । लगभग हर कथा में इस प्रकार का वर्णन होता था कि किसी रूपसी के रूप सौन्दर्य का वर्णन सुनकर या देखकर नायक उस पर आसक्त हो जाता है और उसकी प्राप्ति के लिए दूसरे राज्य पर चढ़ाई कर देता है । इन कवियों ने अपने चरित नायकों के विवाह व प्रणय की भी कल्पना कर डाली । साथ ही साथ स्त्रियों को भी वीर रस के आश्रय व आलम्बन के रूप में भी स्वीकार किया गया है । राजस्थानी कविता में चरित नायकों के साथ-साथ रणकौशल से सम्बन्धित साहित्य भरा पड़ा है । ये प्रशस्ति मूलक चरित काव्य ऐतिहासिक कम काल्पनिक अधिक हैं ।

<u>राजस्थानी और हिन्दी भाषा</u> :- वर्तमान राजस्थान राज्य में जो स्वतन्त्रता

पूर्व अनेक छोटे-छोटे खण्डों में बंटा था, इस की गौरवपूर्ण परम्परा रही है । इस विशाल राज्य का साहित्य, संगीत तथा कला को समृद्ध करने में विशेष योगदान रहा है । यहाँ के वीरों, कलाकारों, सन्तों, साहित्यकारों की परम्परा विशेष उल्लेखनीय है। संस्कृत भारत की सबसे प्राचीन भाषा रही है । उसके बाद पाली फिर प्राकृत का युग आता है। यह जन भाषा थी जिसमें साहित्य रचा गया इसके अनेक रूप थे और यह भाषा काफी समय तक साहित्य के आसन पर विराजमान रही । प्राकृत के बाद जो जन भाषा बनी वह थी, अपभ्रंश या क्षुद्र।प्राकृत। शौर सेनी प्राकृत से दो अपभ्रंशों का विकास हुआ [1] शौरसेनी अपभ्रंश [2] नागर अपभ्रंश । शौरसेनी अपभ्रंश से ब्रज, पश्चिमी हिन्दी और खड़ी बोली का विकास हुआ दूसरी नागर अपभ्रंश से राजस्थानी का विकास हुआ । आज जब कुछ लोग राजस्थानी इत्यादि को हिन्दी से पृथक मानते हैं तो राजस्थानी व हिन्दी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक हो गया । राजस्थानी, खड़ी बोली और ब्रज के अधिक निकट है क्योंकि दोनों की उत्पत्ति एक ही अपभ्रंश से हुई है जबकि पूर्वी हिन्दी जिसकी मागधी प्राकृत है, राजस्थानी से काफी दूर है । डॉ० एल०पी०टैस्सितोरी का यह मत है कि "पूर्वी राजपूताना की प्राचीन भाषा वह प्राचीन पूर्वी राजस्थानी

हो, चाहे प्राचीन पश्चिमी हिन्दी - मूल रूप में गुजरात और पश्चिमी राजपूताना की भाषा की अपेक्षा गंगा - दोआब की भाषा के निकट थी ।"[1]

आठवीं शताब्दी से राजस्थानी साहित्य की निर्बाध परम्परा मिलती है । संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश की रचनाएँ रची गईं । तेरहवीं शताब्दी से राजस्थानी में रचनाएँ रची जाने लगीं, जिन पर अपभ्रंश का स्पष्ट प्रभाव 15वीं शताब्दी तक भी होता है । इसमें हिन्दी व राजस्थानी के विकास के रूप देखे जा सकते हैं । "राजस्थान और हिन्दी दोनों का विकास एक ही समय एक ही माना जा सकता है, क्योंकि दोनों की जननी अपभ्रंश है । अत: एक ही भाषा से उद्भूत होने के कारण उस समय की हिन्दी व राजस्थानी में अधिक अन्तर नहीं होना स्वाभाविक ही है ।"[2] उस समय यह भाषा काफी विस्तृत क्षेत्र में बोली जाती थी । इसलिए पुरानी राजस्थानी को गुजरात वाले प्राचीन गुजराती कहते हैं, क्योंकि आज के राजस्थान और तब के राजस्थान के स्वरूप में पर्याप्त अन्तर है पहले यह प्रदेश कई खण्डों में बटा था और कुछ क्षेत्र राजस्थान के गुजरात में व गुजरात के में है ।" सन्तों व चारणों की भाषा अलग-अलग रूढ़ हो गई । राजस्थान के संतों पर गोरखनाथ, कबीर

---

1. पुरानी राजस्थानी पृ० 7

आदि प्राचीन सन्तों की रचनाओं का प्रभाव रहा इसलिए उन्होंने हिन्दी, राजस्थानी मिश्रित भाषा में साहित्य-निर्माण किया । इसे "सधुक्कड़ी भाषा" कहते हैं । राजस्थानी शब्दों का प्रयोग तो सन्तों ने प्रचुर रूप में किया पर भाषा का ढाँचा हिन्दी का है । लोक साहित्य की भाषा बोल चाल की राजस्थानी ही है"।[1]

एक समय में जहाँ आज ब्रज और खड़ी बोली का स्थान है, वहाँ पर भी राजस्थानी का विशेष प्रभाव था और आगे चल कर ब्रज के आसन पर आरूढ़ हुई और इसलिए विश्वनाथ मिश्र का यह मत है कि "अपभ्रंश के अनन्तर प्रान्तीयता का रंग चढ़ने के पूर्व राजस्थान, गुजरात पंजाब, बिहार, बंगाल, महाराष्ट्र आदि प्रान्तों में जो भाषा चलती थी, वह पुरानी राजस्थानी, पुरानी गुजराती, पुरानी पंजाबी, पुरानी बिहारी, पुरानी बंगाली और पुरानी महाराष्ट्री कही जाए, इसके बदले उसे "पुरानी हिन्दी" ही कहना अधिक उपयुक्त है ।"[2]

डिंगल - पिंगल

ग्यारहवीं शताब्दी तक आते-आते अपभ्रंश भाषा दो रूपों में

1· राजस्थानी साहित्य की गौरवपूर्ण परम्परा- अगरचंद नाहटा पृ0 19-20

2· हिन्दी साहित्य का अतीत भाग - 1 पृ0 79

विभक्त हो गयी । पहला रूप तो व्याकरण के नियमों से बंधकर स्थिर हो गया, पर दूसरा रूप बराबर विकसित होता रहा, जिसमें कालांतर में तीन उपभेद हो गये -- नागर, उपनागर और ब्राचड़ । इसमें नागर अपभ्रंश जिसका जन्म शौरसेनी प्राकृत से हुआ, मुख्य है इसी नागर अपभ्रंश से राजस्थानी भाषा का जन्म हुआ, इसी के साहित्यिक रूप का नाम डिंगल है । इसका नाम डिंगल कब से पड़ा यह बताना बड़ा कठिन है । राजस्थानी तथा डिंगल के सम्बन्ध में "डॉ० धीरेन्द्र वर्मा" ने अपने "हिन्दी भाषा के इतिहास" में लिखा है - "हेमचन्द्र नागर अपभ्रंश का आधार शौरसेनी प्राकृत को मानते हैं । इसी नागर या शौरसेनी अपभ्रंश से राजस्थानी भाषा का विकास हुआ जिसके साहित्यिक रूप का नाम डिंगल है ।" डिंगल शब्द का प्रयोग पश्चिमी राजस्थानी के लिए होता है और पिंगल शब्द का प्रयोग ब्रज मिश्रित राजस्थानी के लिए था जो शौरसेनी अपभ्रंश के अधिक निकट है । मेवाड़ के चारणों द्वारा लगभग संवत् 1575 से यह सुनाई देने लगाता था कि "डिंगल गजब डोकरी डाकी

पिंगल पुगल नाजुक नार "[2]

1• पृ० 48

2• उदय सिंह भटनागर- राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज [तृतीय भाग] पृ० 6

चारणों ने प्रायः डिंगल में ही रचना की । इसमें द्वित्व पर अधिक जोर दिया गया । इसलिए इसमें कृत्रिमता का समावेश हो गया और यह जनभाषा से पृथक हो गई । इसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में कई मत हैं —

1· इस शब्द का अर्थ अनियमित एवम् गँवारू है । लेकिन यह मत सही नही प्रतीत होता क्योंकि एक तो यह राज दरबार की भाषा थी, ब्रज की अपेक्षा अधिक सम्मानित तथा व्याकरण के नियमों से एक दम मुक्त नही थी तो शिष्टों की भाषा होने पर भी इसे अनियमित तथा गँवारू कैसे कह सकते है ।

2· इसका मूल नाम डिंगल न होकर "डगल" था जिसका अर्थ राजस्थानी में मिट्टी का ढेला या अगढ़ पत्थर होता है । यह मत भी ठीक नही जान पड़ता क्योंकि यदि यह अपरिमार्जित भाषा थी तो उस वक्त दूसरी कौन सी भाषा शिष्ट सुसंस्कृत थी ।

3· ड वर्ण की आवृत्ति के कारण यह नाम रक्खा गया यह ठीक नही लगता । क्योंकि मात्र किसी वर्ण की आवृत्ति के कारण उस भाषा का नामकरण कर देना ठीक नही जान पड़ता ।

4· डिंगल शब्द डिम+गल अर्थात डमरू की ध्वनि । यह मत भी कोई ठोस

आधार नही प्रस्तुत करता क्योंकि डमरू महादेव का बाजा है और इसकी ध्वनि न तो उत्साहवर्द्धक है न ओजपूर्ण ।

5· डींग । अत्युक्ति पूर्ण + ल प्रत्यय । यही मत सबसे सही प्रतीत होता है । आरम्भ में यह चारण भाटों की भाषा थी । जो अपने आश्रय दाताओं की वीरता और यश का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करते थे । वे डींगे हाँका करते थे । इसलिए श्रोताओं ने डींगल नाम रख दिया । "डींग मारना" मुहावरा भी इसी अर्थ में प्रचलित है । डींगल पिंगल के साम्य पर डिंगल रह गया ।

डिंगल भाषा में अधिकांशतः वीररसात्मक काव्य ही रचा गया । इसके कवि डित्व पर अधिक बलदेते थे व शब्दों को तोड़ने मरोड़ने के कारण यह भाषा जन मानस की समझ से परे हो गयी । इसके प्रारम्भिक रूप और बोलचाल की भाषा में कोई खास भेद नहीं था लेकिन बाद में यही भाषा परिमार्जित हो गई और साहित्यिक रूप धारण कर लिया । हर समय दो भाषाएं चलती रहती है एक साहित्यिक भाषा जो व्याकरण के नियमों में बंधी हुई दूसरी बोल चाल की भाषा । बोलचाल की ही भाषा कालान्तर में नियमों में बंध कर साहित्यिक हो जाती है । और बोलचाल की भाषा का स्वच्छन्द विकास होता रहता है । यही क्रम चलता रहता है । इसी

तरह बोलचाल की भाषा "डिंगल" साहित्यिक भाषा बनी । इस भाषा का साहित्य बहुत विपुल है । इसे चारणों के अलावा ब्राम्हण, क्षत्रिय आदि अन्य जाति के लोगों ने भी अपनी सर्जना का माध्यम बनाया । इस भाषा की निजी विशेषता उसके मुक्त छन्दशास्त्र, व्याकरण और काव्य शैलियाँ हैं । इस साहित्य में राजस्थान के प्रसिद्ध वीरों, के चरित काव्य हैं जो उनकी वीरता, शौर्य, पराक्रम पर प्रकाश डालते हैं इसके गद्य, पद्य दोनों रूप मिलते हैं । भारत में संस्कृत भाषा के कवि बाणभट्ट की रचना "हर्ष चरित" से चरित काव्य लिखने की परम्परा शुरू हुई । डिंगल-पिंगल में लिखे गये बहुत से चरित काव्य है जो रासों, विलास, रूपक, वचनिका, प्रकाश आदि नामों से लिखे गये । इन काव्यों के नायक ऐतिहासिक थे किन्तु कल्पना की अतिशयता के कारण उन्हें ऐतिहासिक रूप से जोड़ नहीं पाते ।

<u>पिंगल</u> - पिंगल ब्रज मिश्रित राजस्थानी थी जो पूर्वी राजस्थान की भाषा थी । यह भाषा शौरसेनी अपभ्रंश से निकली जो ब्रज के एकदम निकट है । यह शब्द छन्द शास्त्र का बोधक है । यह भाषा व्याकरण के नियमों से आबद्ध थी । पिंगलाचार्य छन्द शास्त्र के पहले आचार्य माने जाते हैं । उनके नामके आधार पर इस भाषा का नाम नहीं है वरन् यह राजस्थान में भाषा के अर्थों में प्रयुक्त होता है । इस ब्रज मिश्रित पूर्वी राजस्थानी पिंगल भाषा का अर्थ

पंगु भाषा से लगाते हैं क्योंकि यह डिंगल के समान मुक्त नहीं थी । इसका क्षेत्र व्यापक था यह राजस्थान और गुजरात के साथ-साथ पश्चिमी हिन्दी के क्षेत्र की भाषा थी । आगे आने वाले युग में ब्रज भाषा उभर कर सामने आई और इसका राजस्थानी स्वरूप दब गया व ब्रज भाषा सब पर छा गई । कुछ रासो ग्रंथों की भाषा ब्रज मिश्रित राजस्थानी है । इस भाषा की रचनाएं हैं — सूरज मल का "वंशभास्कर" अज्ञात की वंशावली, शांड़ंधरका हम्मीर काव्य और रणमल्ल छन्द श्रीधर की ।

प्रशस्ति मूलक चरित काव्य अधिकांश तथा , शैली में लिखे गये परन्तु कुछ कवियों के मुक्तक शैली में लिखे गये ग्रन्थ भी प्राप्त हुए हैं । इन दोनों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

1• प्रशस्तिमूलक मुक्तक काव्य

के मुख्य रूप में दो प्राप्त होते हैं ।

॥1॥ प्राकृत पैंगलम् - कवि बब्बर 14वीं शताब्दी ॥

॥11॥ प्रबन्ध चिन्तामणि - पाटन के राजसभा के कवियों का संग्रह

॥1॥ प्राकृत पैंगलम् — इसका संग्रह 14वीं शताब्दी में किया गया था । प्रस्तुत रचना में पाँच छन्द ऐसे हैं जिसमें कवि का नाम "बब्बर" आया

कविताओं का संकलन किया है, लेकिन इन कविताओं में कवि का नाम नहीं आता है । ये कविताएँ अलग-अलग विषयों पर हैं, जिसमें कुछ में निर्धनता का वर्णन, नारी के सौन्दर्य तथा षट्ऋतु का वर्णन तथा सामन्ती समाज का वर्णन है । चूँकि इनमें कवि का नाम नहीं दिया तो यह किसी ठोस आधार के बिना कहा नहीं जा सकता कि ये बब्बर की ही रचनाएँ हैं । स्वंय सांस्कृतायन जी भी इस ओर से पूर्ण विश्वस्त नहीं थे, लेकिन उन्होंने यह अवश्य माना है कि यह कर्ण की समाकालीन कविता है । कवि बब्बर कलचुरि नरेश कर्ण का दरबारी था । बब्बरके एक पद में"कर्ण"के शौर्य का वर्णन है । कवि बब्बर ने अपनी ओजपूर्ण शैली में कर्ण की विजयों का वर्णन किया है । यही शैली बाद में परवर्ती काव्यों में लक्षित हुई । इसमें कवि गुर्जर नरेश को "कुंवर" के रूप में सम्बोधित करके कहता है कि वह धरती छोडकर भागने के लिए सावधान हो जाए, क्योंकि कर्ण का क्रोध व्यक्त हुआ है --

> चल गुज्जर कुंजर तेज्जि मही,
> तुअ बब्बर जीवणा अज्जु णाही ।
> जरि कुप्पिअ कण्ण णारेन्द वरा
> धरा को हरि को हर वज्जहरा ।। 130
>
> {प्राकृत पैंगलम् पृ0 448}

कर्ण ने गुर्जर साम्राज्य को नष्ट कर दिया, मराठों को हरा कर, मालवों की शक्ति छीन ली —

हराउ उज्जर गुज्जर राअ दलं,
दल दलिअ चलिअ मरहट्ठ बलं ।
बल मोलिअ मालव राअ कुला,
कुल उज्जल कलचुलि कण्ण फुला ।। 185
[प्राकृत पैंगलम् पृ0 296]

इस ग्रन्थ में लोक भाषा के छन्द हैं । इनके संकलन कर्ता "लक्ष्मीधर" हैं । इस ग्रंथ की कविताओं के आधार पर हम आदि कालीन साहित्य का स्वरूप जान सकते हैं । साथ ही यह प्रमाणिक ग्रंथ है जिसमें आदिकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियाँ अपने पूर्ववर्ती काल से प्रौढ स्वरूप की हैं । भाषा के आधार पर आदिकाल नाम ठीक है, परन्तु प्रवृत्ति के आधार पर नहीं । इस ग्रंथ में प्राकृत व अपभ्रंश के सुन्दर छन्द हैं ।

इस ग्रन्थ में बब्बर के अतिरिक्त विद्याधर शार्ङ्गधर, बज्जल की रचनाएं मिलती हैं । विद्याधर काशी–कान्यकुब्ज दरबार के जयचंद के अत्यन्त विश्वासपात्र मंत्री थे । इसके दूसरे अन्य कवि शार्ङ्गधर हैं । यह ग्रंथ शार्ङ्गधर पद्धति के नाम से प्रसिद्ध हैं । इनके रचे "हम्मीर रासो" और

हम्मीर काव्य नामक दो भाषा काव्यों का भी उल्लेख है । शुक्ल जी इसके पदों को असली हम्मीर रासो के पद मानते हैं । एक अन्य कवि बब्बर की देशभाषा की रचनाएं हैं ।

प्रबन्ध चिन्तामणि – प्राकृत पैंगलम् की भाँति यह दूसरा संग्रह है । "प्रबन्ध चिन्तामणि" । जिसमें पाटन की राज्यसभा के कवियों की रचनाओं का संग्रह है । "सिद्ध राज जय सिंह" और "कुमार पाल" की सभा में बहुत से कवि थे । यह विद्वानों वैयाकरणों और कवियों का मुख्य स्थल था । प्रसिद्ध आचार्य और वैयाकरण "हेमचन्द्र सूरि" इन्हीं जयसिंह के दरबारी थे । इन्होंने ही अपने समय के तथा पूर्ववर्ती कवियों की कविताओं का संकलन किया था । "प्रबंध चिन्तामणि" से यह भी जानकारी मिलती है कि हेमचन्द्र के अतिरिक्त धनपाल, रामचन्द्र, हरिभद्र सूरि, आर्यभट्ट इत्यादि पाटन से संबंधित थे । इसके अतिरिक्त यहाँ की राज्यसभा में सभी धर्मों के कवियों को समान आदर प्राप्त था । हेमचन्द्र के संकलन में जो दोहे है वे अधिकांशत: वीररसात्मक एवम् ,प्रशस्ति मूलक हैं ।

प्रस्तुत ग्रंथ का संकलन चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ [सन 1304] में मेरुतुंग ने किया । इसमें "सिद्धराज जय सिंह उनके भतीजे कुमार पाल तथा हेमचन्द्र इत्यादि इतिहास पुरुषों के चरित्रों का

था, इसलिए उसमें इस प्रकार के अनेक आख्यानों का संग्रह किया है ।"[1]

हिन्दी काव्यधारा में पाटन की राजसभा के ब्राम्हण राजकवि आमभट्ट की स्फुट रचनाएँ संग्रहित हैं । ये कविताएँ सिद्धराज जयसिंह तथा कुमार पाल की प्रशंसा में लिखी गई हैं ।

प्रशस्ति मूलक प्रबन्ध काव्य -

1• भरतेश्वर बाहुबलिरास — "भरतेश्वर बाहुबलि रास" के रचनाकार "श्री शालिभद्र सूरि" हैं, ये प्रसिद्ध जैन साधु थे । इस ग्रंथ का निर्माण समय 1241 संवत् अर्थात 1184 ई0 माना गया है । इस ग्रंथ का प्रकाशन विभिन्न विद्वानों के प्रयासों द्वारा सम्पादित कर प्रकाशित किया गया है । इस दुर्लभ ग्रंथ को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय मुनि जिन विजय जी को है । जिन्होंने इसे भारतीय विद्या, भाग-2 अंक -1 संवत 1997, 1-93 में इसे प्रकाशित किया । इसके पश्चात् श्री लालचन्द्र भगवान गांधी ने प्राच्य विद्या-मन्दिर तथा आमरा संग्रह की प्रतियों का आधार मानकर इसका दूसरा संस्करण, प्राच्य विद्या मन्दिर, बड़ोदरा, वि0सं0 1997 [1940 ई0] में प्रकाशित कराया । इसके कुछ अंशों को प0 राहुल सांस्कृत्यायन

1• हिन्दी काव्यधारा, पृ0 394

ने अपने हिन्दी काव्य धारा में तथा गणपति चंद्र गुप्त ने आदिकाल की प्रमाणिक रचनाओं में भी इसके पाठ का सम्पादन किया है। हिन्दी की रास परम्परा में यह ग्रंथ अपना प्रथम स्थान रखता है। — " रास परम्परा में सर्वप्रथम एवम् सबसे विस्तृत पाठ वाली रचना भरतेश्वर बाहुबलि रास है। आदिकालीन जैन साहित्य में यही कृति ऐसी है, जो पर्याप्त प्राचीन तथा जो अपभ्रंश की परवर्ती अवस्था और पुरानी हिन्दी [प्राचीन राजस्थानी और जूनी गुजराती] के बीच की कड़ी है। परिशीलन करने पर यह कहा जा सकता है कि हिन्दी जैन साहित्य की रास परम्परा का भरतेश्वर बाहुबलिरास सर्वप्रथम रास है।"[1]

भरतेश्वर बाहुबलि रास 203 छन्दों का वीररसात्मक प्रबंध काव्य है। इसमें ऋषभ देव के दो पुत्रों - भरत और बाहुबलि के युद्ध का वर्णन है संक्षेप में इसका कथानक इस प्रकार है — ऋषभदेव अयोध्या के राजा थे। इनकी दो रानियां थीं - सुनन्दा एवम् सुमंगला जिनसे क्रमशः बाहुबलि और भरत नामक पुत्र थे। ऋषभदेव ने अपनी व्यवस्थानुसार भरत को अयोध्या का तथा बाहुबलि को तक्षशिला का राज्य दिया। भरत ने दिग्विजय की ठानी उसने समस्त राजाओं को वश में किया, केवल बाहुबलि ने उसकी

1. भारतीय विद्या भाग-2 अंक -1 सं० 1997 पृ० - 1-19 सं० मुनि जिन विजय

अधीनता नहीं स्वीकार की । अन्त में दोनों में 13 दिन तक अनेक तरह का युद्ध हुआ । रणयुद्ध, वचन युद्ध, दृष्टि युद्ध, मल्ल युद्ध हुआ । जिसमें बाहुबलि की विजय हुई । तब भरत ने उसे छल से मारना चाहा, जिससे बाहुबलि को दुःख पहुँचा व उसे विराग हो गया । उसने समस्त वैभव को त्याग कैवल्य ज्ञान प्राप्त किया । अन्त में भरत भी अपने किए पर खेद करता है । इस वीर रसात्मक कृति का अन्त निर्वेद में हुआ ।

इस वीर रसात्मक प्रबन्ध काव्य में उत्साह, दर्प तथा वीर रस का सुन्दर चित्रण है । मंगलाचरण से काव्य आरम्भ होता है, फिर ऋषभ जिनेश्वर की वन्दना, तत्पश्चात् कथा आरम्भ होती है । इस ग्रंथ के वस्तु, ठवणि और वणि में विभक्त किया गया है । नगर वर्णन, सेना वर्णन युद्ध वर्णन को प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया गया है सेना वर्णन में युद्ध के लिए प्रयाण करती सेना के भार से पर्वत, पृथ्वी तथा सागर की क्या स्थिति हुई है —

"टलटलीया गिरिटंक टोक खेचर खलभलीया
कडडीय कूरम कंध संधि सायर झल हलीया
भललीय समहरि सेस सिर सलसलीय न सम्कइ
कंचण गिरि कंधार भरि कमकमीय कसक्कई[1]

1- "रास और रासान्वयी काव्य" पृष्ठ० 74, छन्द सं० 128

घमासान युद्ध चल रहा, जहाँ पैरों से दब कर करोड़ों लोग दब गये, उनके रक्त में घोड़े तैरने लगे —

"चांपीय चुरई नर करोडि"[1]

"रूहिर रील्लतहिं तरइ तुरंग"[2]

भरत के दूत से बाहुबलि की वीरता भरी गर्वोक्ति –

"कहिरे भरहेसर कुण कहीइ, मई सिउंरीम सुरि अहीरन रहीइ
पे चक्किई चक्रवृन्ति विचार, अम्ह नगरि कुंभार अपार"[3]

इसकी भाषा को कुछ लेखक जो गुजरात के हैं वे पुरानी गुजराती मानते हैं । चूंकि प्राचीन गुजराती व राजस्थानी में अधिक अन्तर नहीं इसलिए यह विवाद उत्पन्न हुआ । इसकी भाषा अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी से प्रभावित है । इसमें अपभ्रंश, राजस्थानी तथा हिन्दी के शब्द मिलते हैं ।

इस काव्य ग्रंथ में सोरठ, चउपई, वस्तु त्रूटक, धवल, ठवीरा और रास छन्द का प्रयोग हुआ है । अलंकारों में अनुप्रास, यमक, श्लेष, रूपक उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, दृष्टान्त आदि का प्रयोग प्रचुरता से है । लोक सुलभ उपमानों से परिपूर्ण उक्तियाँ भरी पड़ी हैं ।

1· रास और रासान्वयी काव्य पृ0 74 छन्द संख्या 142

2· वही, 143

3· वही 114

पृथ्वी राज रासो [चन्दवरदाई कृत]

"चन्दवरदाई" कृत "पृथ्वीराज रासो" हिन्दी का प्रथम उत्कृष्ट एवम् अत्यन्त महत्वपूर्ण काव्य है । यह विशाल महाकाव्य है जिसमें 69 समय [सर्ग] हैं व 16306 छन्द हैं । 2500 पृष्ठों के इस महाकाय काव्य का प्रकाशन "काशी नागरी प्रचारिणी सभा" से हुआ । इस ग्रंथ के रचनाकार "चन्द" के विषय में मिश्र बन्धुओं ने अपने "नवरत्न" में लिखा है "महाकवि चन्दवरदाई वास्तव में हिन्दी के प्रथम कवि हैं । इनके पहले भी भुवाल, पुसी आदि कवि हो गये हैं, परन्तु नाम सुनने के अतिरिक्त उन सबकी रचना आदि पढ़ने का हम लोगों को सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ । चन्दवरदाई की रचना से प्रकट होता है कि यह प्रौढ़ रचना है और छन्द आदि की रीतियों पर उसमें ऐसा अनुगमन हुआ है कि जान पड़ता है, यह महाशय दृढ़ रीतियों पर चलते हैं और इन्होंने हिन्दी-काव्य-रचना की नींव नहीं डाली । "आचार्य शुक्ल" जी ने इन्हें पृथ्वी राज का मित्र कवि तथा सामन्त माना है औरइनका समय संवत् 1225-1249 निर्धारित किया है ।

इस उत्कृष्ट काव्य ग्रन्थ की प्रमाणिकता व प्राचीनता को लेकर काफी विवाद रहा । विद्वानों का एक वर्ग इसे पूर्णतया जाली मानता है । आचार्य शुक्ल ने इसके जाली होने के पक्ष में ही निर्णय दिया है ।[1]

1· हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल पृ0 46

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का निष्कर्ष है कि - "अब यह मान लेने में किसी को आपत्ति नहीं है कि रासो एकदम जाली पुस्तक नहीं है। उसमें बहुत अधिक प्रक्षेप होने से उसका रूप विकृत जरूर हो गया है, पर इस विशाल ग्रंथ में कुछ सार भी अवश्य है। इसका मूल रूप निश्चय ही साहित्य और भाषा के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण होगा।"[1]

इस ग्रंथ की प्रथम जानकारी 1829 में मिली। कर्नल जेम्स टॉड ने अपने अंग्रेजी ग्रंथ "एनल्स एण्ड एण्टिक्वीटीज आफ राजस्थान" में इस रचना का उल्लेख किया। कर्नल टाड इस ग्रंथ से अत्यन्त प्रभावित हुए और साथ ही उसकी ऐतिहासिकता भी मान ली। उनका समर्थन गार्सां द तासी, ग्रियर्सन, एफ.एस. ग्राउस, जान बीम्स, ह्योर्न्ल हार्नली, मिश्र बन्धु, डॉ० श्याम सुन्दर दास, मोहन लाल विष्णु लाल पंड्या ने किया। दूसरा वर्ग उनका है जो इसे पूर्णतया जाली मानता है उनमें शुक्ल जी, कविराजा श्यामल दास गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डॉ. बूलर मुख्य हैं। "रायल एशियाटिक सोसायटी" से इसका प्रकाशन आरंभ हो चुका था। लेकिन तभी 1876 में सोसायटी के अध्यक्ष प्रोफेसर बूलर [Buhler] को कश्मीर में "पृथ्वीराज विजय" नामक एक शिलांकित काव्य मिला। इस ग्रंथ की

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृ० 54

प्रमाणिकता को देखकर डॉ0 बूलर को पृथ्वी राज रासो की अप्रमाणिकता का विश्वास हो गया तीसरा वर्ग उन विद्वानों का है जो यह मानते कि रचना है तो चन्दवरदाई की ही जो पृथ्वीराज का दरबारी था, लेकिन इस का मूल रूप आज उपलब्ध नहीं है । इन विद्वानों में मुनि जिन विजय, डॉ0 सुनीति कुमार चटर्जी, डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ।

चौथा मत नरोत्तम स्वामी का है जिन्होंने इस महाकाव्य ग्रंथ को प्रबंध काव्य ही नहीं माना। उनके मत से चन्द ने पृथ्वी राज के दरबार में रह कर मुक्तक रूप में रासो की रचना की ।

जिन विद्वानों ने इसे अप्रमाणिक माना है उन विद्वानों ने इस को जाली सिद्ध करने के लिए निम्न आधार प्रस्तुत किए --

1• रासो में उल्लिखित घटनाएं और नाम इतिहास सम्मत नहीं हैं ।

2• पृथ्वी राज का गोद लिया जाना, संयोगिता स्वयंवर इत्यादि इतिहास से मेल नहीं खाती ।

3• पृथ्वी राज की माता का नाम कर्पूरी था, न कि कमला ।

4• गुजरात के राजा भीम सिंह का वध पृथ्वी राज के हाथों नहीं हुआ था ।

5• पृथ्वी राज द्वारा सोमेश्वर का वध तथा गोरी का वध भी इतिहास सम्मत नहीं है ।

6· अनंगपाल, बीसल देव, पृथ्वी राज के राज्यों के सन्दर्भ में सूचना भी अशुद्ध है ।

7· मेवाड़ के राणा अमर सिंह के साथ पृथ्वी राज की बहन के विवाह की सूचना भी गलत है ।

8· पृथ्वी राज के 14 विवाहों की बातें भी इतिहास सम्मत नहीं है ।

9· रासो की तिथियां अशुद्ध हैं ।

अगर इन प्रमाणों का अन्तिम मान लें तो यह ग्रंथ अप्रमाणिक करार हो जाएगा, किन्तु इस को प्रमाणिक मानने वालों ने अपने आधार प्रस्तुत किए हैं ।

1· इसकी घटनाओं में जो 90-100 वर्षों का अन्तर है वह संवत् की भिन्नता के कारण है । मोहन लाल विष्णु पंड्या ने "अनन्द संवत" के आधार पर तिथियाँ शुद्ध मानी हैं ।

2· डॉ0 दशरथ शर्मा के अनुसार इसका मूल रूप प्रक्षेपों में दिया है । इसके लघुतम रूप में इतिहास संबधी अशुद्धियाँ नहीं है ।

3· डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार इसमें 12 वीं शताब्दी की भाषा की संयुक्ताक्षर वाली अनुस्वारान्त प्रवृत्ति मिलती है,अतः यह बारहवीं शताब्दी का ग्रंथ सिद्ध होता है ।

4· पृथ्वीराज रासो इतिहास का ग्रंथ तो है नहीं, ये तो एक काव्य ग्रंथ है फिर उसमें ऐतिहासिक प्रमाण खोजना उसके आधार पर उसे अप्रमाणिक मान लेना सर्वथा अनुचित है ।

5· आचार्य द्विवेदी का यह मत है कि इसकी मूल रचना शुक-शुकी संवाद के रूप में हुई है । जिन सर्गों में यह शैली नहीं मिलती उन्हें प्रक्षिप्त मानना चाहिए । इस तर्क के आधार पर वही सर्ग प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं जिनमें ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलते हैं ।

पृथ्वीराज रासो के सन्दर्भ में उसकी प्रमाणिकता-अप्रमाणिकता को लेकर विद्वानों ने न समाप्त होने वाला विवाद खड़ा कर दिया है, जिससे यह विवाद उलझता ही जाता है । और ऐसे-ऐसे तर्क प्रस्तुत किए हैं जो इस ग्रंथ के हित में नहीं । इस तरह तो किसी भी रचना को विवाद के घेरे में लिया जा सकता है । उदाहरण स्वरूप यदि सूरसागर, रामचरित मानस तथा बीजक की भी इसी तरह बाल की खाल निकाली जाए तो इनकी प्रमाणिकता भी संदेहास्पद हो जाएगी । मानस के तो प्रक्षिप्त अंश भी स्वीकार किये जाते हैं । अतः कतिपय इतिहास विरोधी कथनों तथा प्रक्षिप्तांशों के कारण इस ग्रंथ को अप्रमाणिक मान लेना बिल्कुल उचित

नहीं है । कवि ने जिस सजीवता के साथ पृथ्वीराज का जीवन वर्णन किया है उससे यह सिद्ध होता था कि वह उनका समकालीन था । हाँ यह अवश्य है कि इस ग्रंथ में पर्याप्त प्रक्षिप्तांश है ।

पृथ्वीराज रासो की उपलब्ध प्रतियाँ :-

अब तक रासो के चार रूपान्तर प्राप्त हुए हैं । सबसे वृहद रूपान्तर, जिसे काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित किया गया । इसकी कई प्रतियाँ उदयपुर राज्य के पुस्तकालय में हैं । इस रूपान्तर में 69 समय तथा 16306 के लगभग छन्द हैं । कुछ प्रतियों में सर्गों को "समयों" तथा कुछ में "प्रस्ताव" और कुछ प्रतियों में दोनों का प्रयोग हुआ है ।

मध्यम रूपान्तर की अब तक चार प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं। इस रूपान्तर की सभी प्रतियाँ 1700 के बाद की हैं । इसकी एक प्रति लाहौर के ओरियण्टल कालेज के पुस्तकालय में है । दूसरी अबोहर के साहित्य सदन में, तीसरी श्री नाहटा जी के पास है । चौथी प्रति ग्रेट ब्रिटेन के रायल एशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय में है ।

लघु रूपान्तर की तीन प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं । इन तीनों प्रतियों में पहले, सातवें और अन्तिम समय का नाम नहीं है व इस रूपान्तर

में अध्यायों का नाम "खण्ड" दिया गया है ।

लघुत्तम रूपान्तर को नाहटा जी ने अपने कठिन परिश्रम से खोज निकाला । इसमें अध्यायों का विभाजन नहीं हुआ है । कुछ विद्वान इस लघुत्तम रूपान्तर को मूल रासो मानते हैं ।

रासो का काव्य सौन्दर्य :-

पृथ्वीराज रासो आदि काल का ही नहीं वरन् हिन्दी साहित्य का श्रेष्ठ महाकाव्य है । लेकिन इस ग्रंथ के साथ विडम्बना यह है कि इसकी प्रमाणिकता, ऐतिहासिकता को लेकर काफी समय से विवाद चलता रहा । विद्वानों ने इसके काव्यात्मक सौन्दर्य के स्थान पर इसमें ऐतिहासिक तथ्य खोजे । जिसने भी इस पर कुछ लिखा वह पहले इसी उलझन में फँसके रह गया और इस उत्कृष्ट काव्य ग्रंथ के साहित्यिक मूल्यांकन पर पूरा ध्यान नहीं दे पाया । डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि -"इस निरर्थक मंथन से जो दुस्तर फेनराशि तैयार हुई है उसे पार करके ग्रंथ के साहित्यिक रस तक पहुँचना हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी के लिए असम्भव सा व्यापार हो गया है ।"[1]

---

[1] डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास, पृ0 59-60

पृथ्वी राज रासो एक अर्द्ध ऐतिहासिक चरित काव्य है। रासो काव्य श्रेणी की रचनाओं में यह महत्वपूर्ण रचना है। इस चरित काव्य का नायक प्रसिद्ध हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज चौहान है। जिसकी प्रशस्ति में कवि ने उसके शौर्य, प्रणय, युद्ध-प्रेम, विजयों तथा पराजयों का वर्णन किया है। वह कवि चंद का आश्रयदाता भी है। रासो एक वीर रसात्मक काव्य है, इसमें मुख्य रूप में वीर रस है लेकिन साथ ही श्रृंगार रस भी चलता रहता है। इसकी कहानी शुक-शुकी के संवाद रूप में चलती है। इसमें प्रबन्ध काव्य सम्बन्धी लगभग समस्त रूढ़ियों को अपनाया गया है, चंद ने अपने ग्रंथ के आरम्भ में सर्वप्रथम मंगला चरण, पूर्ववर्ती महान कवियों का स्मरण, आत्मनिवेदन, दुर्जन निन्दा, सज्जन प्रशंसा तथा ग्रंथ का उद्देश्य इत्यादि रूढ़ियों का निर्वाह किया गया है। इस काव्य ग्रंथ में पृथ्वीराज के चरित को दो रसों वीर तथा श्रृंगार के द्वारा उभारा गया है। वह जितना वीर है, उतना ही श्रृंगार प्रेमी भी। दोनों रसों का केन्द्र नारी रही है क्योंकि उसे पाने के लिए युद्ध और उसकी प्राप्ति के पश्चात् विलास पक्ष उभरता है। इसका कथानक इस प्रकार है - कवि पृथ्वी राज के जन्म-वर्णन, बाल लीलाओं, शिक्षा-दीक्षा को चित्रित करते हुए उसे सिंहासनारूढ़ करवाता है। पृथ्वीराज गुर्जरेश भीमदेव चालुक्य को आश्रय देने के कारण भीमदेव का दुश्मन बन जाता है

व चित्र रेखा के उमराव को शरण देने के कारण मुहम्मद गोरी का ।
सामन्त कन्ह भीमदेव के भाई का वध कर देता है, क्योंकि उसने उसके
सामने मूँछों पर हाथ फेरे थे । "पृथ्वी राज" इस घटना से दु:खी होकर
कन्ह को आँखों पर पट्टी बाँधे रहने की आज्ञा दे देते हैं । भाई के वध
की सूचना पा कर भीम देव अत्यन्त रुष्ट होता है और यह शत्रुता इंछिनी
विवाह के अवसर पर पृथ्वी राज और भीमदेव के युद्ध के रूप में सामने
आती है । इस युद्ध में पृथ्वी राज की विजय होती है ।

यह रासो ग्रंथ मुख्यत: पृथ्वी राज के विवाहों और युद्धों के
घटनाओं पर आधारित रस परिपाक कथा है । "चन्द" ने प्राचीन पद्धति
के अनुसार विवाह कल्पना की है । हर विवाह अलग रीति से हुआ है ।
इंछनी से विवाह उसके पिता व भाई की प्रार्थना पर, शशिव्रता से गान्धर्व
विवाह और संयोगिता स्वंयवर-विवाह हरण द्वारा । हर विवाह में एक
युद्ध अवश्य करना पड़ा । इस विवाह की कथा का कवित्व की दृष्टि सबसे
अधिक महत्व है । क्योंकि संयोगिता-स्वंयवर से पूर्व पृथ्वी राज सभी रानियों
से अनुमति लेने जाता है । इस अवसर पर कवि ने "षट्ऋतु" वर्णन बड़ा
ही सरस और मार्मिक प्रसंग उपस्थित किया है ।

संयोगिता से विवाह के उपरांत पृथ्वी राज सुख-विलास में डूब जाता है और यहाँ से उसके पराभव के दिन प्रारम्भ हो जाते हैं। गोरी के आक्रमण प्रारम्भ हो गये हैं। पृथ्वी राज अपनी प्रिय की अनुरक्ति में डूबा हुआ है। गुरु के चेतावनी देने पर राजा को होश आया। फिर युद्ध हुआ, इस युद्ध में पृथ्वी राज की हार होती है। वह बन्दी बना लिया जाता है। कवि चंद के प्रयत्न से शब्द भेदी बाण के द्वारा पृथ्वी राज "गोरी" का वध कर देता है और फिर चंद और पृथ्वी राज एक दूसरे को कटार भोंक के मर जाते हैं।

पृथ्वी राज रासो की कथा तो इतनी ही है। परन्तु कवि चंद ने इस रासक ग्रंथ के कलेवर में मार्मिक प्रसंगों तथा साहित्यिक सरस स्थलों से परिपूरित कर अपनी महान प्रतिभा तथा कल्पना का परिचय दिया है। कवि ने अपने कर्म कौशल के द्वारा घटना को सार्थक बनाकर ग्रंथ का विस्तार किया है। पृथ्वी राज अभी माँ के गर्भ में है। गर्भस्थ शिशु का बढ़ना और उसका माँ पर क्या प्रभाव पड़ता है, कवि ने इस प्रसंग को अत्यन्त सजीवता के साथ चित्रित किया है :—

"किशिम दिवस अठेरह । रहिय आयान रानि उर ।।

दिन दिन कला बढंत । मेघ क्यों बढंत भद्द धुर ।।

चंद्रकला सित पष्ष । जेम बाढंत दिनं दिन ।।

मुग्धा जोवन चढ्त । मिलत भरतार विनोष्म ।।

उदित अयान सुभ गातनह । जेम जलधि पुन्निम बढहि ।।

हुलसंत हीय जे प्रीय त्रिय । जिम सु जोति जनिता चढहि ।।[1]

पृथ्वी राज युवक हो चुका है । "इसका समस्त यौवन युद्ध और प्रेम की रंग स्थलियों में ही व्यतीत होता दिखाई देता है। रासो में एक तरफ उसके विवाहों के मधुर-प्रसंग हैं तो दूसरी ओर अवरोध स्वरूप युद्ध की अद्भुत संयोजना । प्रेम और युद्ध के सम्यक् निर्वाह की शोभा चंद के कुशल हाथों से ही सम्भव थी । युद्ध की रण भेरीमें प्रेम की विजय को कवि ने बड़ी ही कुशलता पूर्वक प्रदर्शित किया है । यहाँ युद्ध का प्रसंग कवि ने उतना ही संयोजित किया है जितना प्रेम-प्रसंग को गाढ़ा बनाने के लिए आवश्यक था । इसलिए रासो में ये विवाह प्रसंग सर्वाधिक मार्मिक एवम् सरस बन पड़े हैं ।"[2]

1. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी एवम् डॉ० नामवर सिंह [सं०] संक्षिप्त पृथ्वी राज रासो छन्द संख्या 37 ।

2. आदिकालीन हिन्दी साहित्य - डॉ० शम्भु नाथ पाण्डेय पृ० 96

नववधू के गृह आगमन का चित्रण देखिए -

"नमन सुकज्जल रेष । तीक्ष तितिच्छन छवि कारिम ।।

श्रवनन सहज कटाक्ष । चिन्त कर्षन नर नारिय ।।

भुज मृनाल कर कमल । उरज अंबुज कलिय कल ।।

जंघ रंभ कटि सिंध । गमन दुति हंस करी छल ।।

देव अरु जीच्छ नागिनि नरिय । गरहि मर्द दिच्छत नयन ।।

इंछिनी इच्छि लज्जा सहज । कितक तकित कविव्यय बयन ।।[1]

षट्ऋतु वर्णन में पहले वसंत वर्णन है । सर्व प्रथम पृथ्वीराज इंछिनी के पास संयोगिता स्वयंवर के लिए अनुमति लेने जाते । वसंत की मादक ऋतु में भला वह क्यों जाने देती? वह विनीत स्वर में अनुरोध करके रोक लेती है ।

"दिन दिन अवधि जुब्बन घटय

कंत बसंत न गम करहु ।।[2]

ग्रीष्म ऋतु में पुण्डीरनी के पास जाते हैं वह भी उस ऋतु में रोक कर कहती है -

---

1. संक्षिप्त पृथ्वी राज रासो - इंछिनी विवाह प्रसंग छन्द 159

2. वही, कनवज्ज छन्द संख्या 29

सुनि कंत सुमति संपत्ति विपति ।

ग्रीष्म गेह न छोड़िये । [1]

इन्द्रावती वर्षा ऋतु में, हंसावली शरद में रोक लेती है । हेमन्त और शिशिर ऋतु में रानियों के आग्रह पर राजा रुक जाता है इस प्रकार पूरा वर्ष बीत जाता है और कवि अपने एकान्त उद्देश्य षट्ऋतु वर्णन करने में सफल होता है ।

रासो में कवि ने अत्यन्त तन्मयता के साथ नगरों, वनों, सरोवरों तथा किलों इत्यादि का वर्णन किया है । इसके साथ ही विदाई तथा यात्रा इत्यादि प्रसंगों का भी विस्तार के साथ वर्णन किया है जिससे इस ग्रंथ में वस्तु वर्णन का आधिक्य हो गया है व इसके कलेवर को वृहद रूप बनाने में सहायता मिली है ।

इस ग्रंथ का मुख्य रस वीर है । वीरता की यही भावना ही इस ग्रंथ की प्रेरणा स्रोत रही है । यही भावना कथा प्रवाह में वीर रसात्मक स्थल उत्पन्न करती रही, इसे खोजने की आवश्यकता ही नहीं क्षत्रियों के लिए तो वीरता के साथ मरना गर्व की बात है —

1• सर्ग 61 छं0 1278

सूर मरन मंगली, स्याल मंगल घर आये ।

वाय मेघ मंगली, धरनि मंगल जल पाये ।

क्रियन लोभ मंगली, दानि मंगल कहु दिन्ने ।

सत मंगल साहसी, मगन मंगल कहु लिन्ने ।

भाव, वस्तु और के सम्मिश्रण से प्रभावोत्पादक उदाहरणों की इस ग्रंथ में कमी नहीं है —

" बज्जिय घोर निसांन रांन चौहान चहू दिसि ।

सकल सूर सामन्त समर बल जंत्र - मंत्र तिसि ।

उठ्ठि राज प्रिथिराज बाग लग्ग मनहु वीर नट ।

कढ़त तेग मन वेग लगत मनहु बीजु झद्द घद्द ।

वीरों के हृदय में उल्लास का वेग उमड़ रहा है । उनका यह उत्साह उनके कार्यों द्वारा प्रकट हो रहा है । युद्ध की तैयारी, मंत्रणा सेना का संगठन, व्यूह रचना, वाद-विवाद का युद्ध के अवसरों पर व्यापक चित्रण हुआ है :— क्रोध के कारण पृथ्वीराज की आकृति भयंकर हो गई है । वह क्रोध के रंग में जल उठता है अपने दासों से कवच मंगवाता है । घोड़े तैयार किये गये, हाथी खोल दिए गये । सैनिकों के दूत के वचन सुनाए गये, जिन्हें सुनकर और अपने स्वामी के वचन सुनकर वीर ऐसे उन्मत्त

हो गये जैसे साँप पूँछ मसल जाने पर होता है :-

"सुनत सुजन सोमेश मिरख भयभीत मयउ तन ।
रोष रंग प्रज्जुलेमि, मीमि संनाह - अमर जल ।।
ध्वनि हुकम किय देन, मत्त गज अंकुश खुल्लिय ।।
नालि गोल जुत बंम, हथ्थ हाथर सह पुल्लिय ।।
लोहान बुल्लि आदर अँनत, विचारि बन्त दूतनि कही ।।
विप्फुरे वीर हँकनि सुनत, जनुकि पुँछ मंडी अही ।।

वीर रस के साथ-साथ श्रृंगार रस भी पूरे काव्य में प्रवाहित होता रहा है । इसके अन्तर्गत राजकुमारियों का नख-शिख वर्णन, वय: सन्धि का रस पूर्ण चित्रण तथा संयोग एवम् वियोग के अनेक सुन्दर दृश्य रासो में मिल जाते हैं । राजकुमारी शशिव्रता का कवि इस प्रकार चित्र खींचता है ।

तजि भूखन बरनाल, इक्क आविज्ज उपन्तीं ।
लता हेम पर चंद उमे खंजन दिग चिन्हो ।।
श्री फल उरज विसाल, बाबवर, श्रम-सु-पन्तो ।
सुकि सु तरंग अरीन्न, करी भग्गावत्त बन्ती ।।
सोभित उरगपति भ्रुव्वारन, हँस मुत्ति-वर-बर-कर्णी ।
सुभ काज चढ़े पप्पील सुख, काम-पन्तिनी दुख हरी ।।

इस सबके मध्य पृथ्वी राज का करुणा जनक चित्र है जब वह श्री हीन हो विगत वैभव का स्मरण कर रहे हैं :-

नहीं सूर सामंत परिवार देखें ।

नहीं गज्ज बाजं भंडारं दिलेसं ।

निराधार आधार करतार तू ही ।

चन्दो संकरं आय मो जीव साँती ।

इस ग्रंथ की भाषा के सन्दर्भ में भी विवाद रहा है । इसमें कृतिमता नहीं है न ही अधिक अलंकरण है । यह पिंगल शैली का काव्य है, जिसमें राजस्थानी बोली का मिश्रण है । तत्कालीन प्रचलित शब्दों का तथा प्राकृत व अपभ्रंश । के शब्दों का खुलकर प्रयोग किया गया है । विशाल आकार का काव्य होने के कारण इसका रूप सुगठित नहीं है । भाषा सौन्दर्य को निखारने के लिए लाक्षणिक एवम् ध्वन्यात्मक शब्दावली का विशेष योगदान रहा है ।

लगभग अड़सठ प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है । वार्णिक एवम् मात्रिक दोनों प्रकार के छन्दों का बाहुल्य है । छन्दों का रसानुकूल प्रयोग हुआ है जिनमें गाथा, चउपई, पद्धरी, श्लोक, सारक, नाराच, गोटक, दण्डमाल, बसंत तिलक, रसावली, दुग्ध भुजंग मोतीदान रासा, आदिल्ल, कवित्त इत्यादि बहुत से छन्द है । चन्द द्वारा अलंकार का

सहज प्रयोग हुआ है । शायद ही कोई अलंकार उनसे छूटा हो ।

इस रासो ग्रंथ का मुख्य विषय चरित नायक का शौर्य, पराक्रम और साहस का चित्रण करना है । जिसमें कवि पूर्णत: सफल रहा है । कवि की अभिव्यक्ति में भी ओज, उष्णता और शक्ति है ।

<u>हम्मीर रासो</u> - शार्ङ्गधर कृत [रचनाकाल - अज्ञात]

हम्मीर रासो भी आदिकालीन सीमावधि में प्रशस्तिमूलक चरित काव्यों की श्रृंखला की एक कड़ी है इसके अन्वेषक एक प्रकार से शुक्ल जी ही हैं उनके द्वारा ही सर्वप्रथम इस प्रकार के संकेत साहित्येतिहास में किये गये थे, मिश्र बन्धुओं ने लिखा है - "संस्कृत भाषा में शार्ङ्गधर संहिता [वैद्यक ग्रन्थ] और शार्ङ्गधर द्वारा रचित "हम्मीर रासो" और हम्मीर काव्य नामकभाषा काव्यों का भी पता चलता है इनके अनुसार ये संवत् 1356 के रणथम्भौर के राजा हम्मीर देव के यहाँ विद्यमान थ ।" इनके पिता का नाम दामोदर और पितामाह का राघव था । हम्मीर काव्य तथा हम्मीर रासो अप्राप्य रचना है । प्राकृत पैंगलम् में हम्मीर देव सम्बन्धी आठ छन्द उपलब्ध होते हैं सम्भव है ऐसे ही इसमें सम्बन्धित

और भी छन्द हों । "परम्परा से प्रसिद्ध है कि शार्ङ्गधर ने "हम्मीर रासो" नामक एक वीर गाथा काव्य की भाषा में रचना की थी ये काव्य आजकल नहीं मिलता है, उनके अनुकरण पर बहुत पीछे का लिखा हुआ एक ग्रन्थ "हम्मीर रासा" नामक मिलता है । प्राकृत - पैंगलम् सूत्र उलटते-पलटते मुझे हम्मीर की चढ़ाई, वीरता आदि के कई पद छन्दों के उदाहरण मिले । मुझे पूरा निश्चय है कि ये पद असली हम्मीर रासो के ही है ।"[1] एक पद में "जज्जल" प्रतिज्ञा करता है --

पिंधउ दिढ़ सन्नाह बाह उप्पर पक्खर दइ,

बन्धु समदि रणा धसउ सामि हम्मीर बअण लइ ।

उड्डल णाहपह भमउ खग्ग रिउ सीसहि डारउ,

पक्खर पक्खर ठेल्लि पेल्लि पब्बअ अप्फालउ ।।

हम्मीर कज्जु जज्जल भणइ

कोहाणल मह मइ जलउ ।

सुलताण सीस करवाल दइ,

तेज्जि कलेवर दिअ चलउ ।।।३६।।

[प्राकृत पैंगलम्, पृ0 180]

शुक्ल जी ने जिन छन्दों को शार्ङ्गधर कृत माना है उन्हीं

तथा कुछ अन्य वीर रसात्मक छन्दों का संकलन राहुल जी ने "कवि जज्जल" की रचनाओं के नाम से किया है । पद की टिप्पणी में उन्होंने लिखा है जिन कविताओं में जज्जल का नाम नहीं है, इसमें संदेह है कि वे इसी कवि की रचना है । जज्जल का नाम केवल दो छन्दों में आता है । हम्मीर का नाम आठ छन्दों में है । ऊपर उद्धृत पद में "जज्जल मन्त्रिवर" शब्द आया है । इससे ज्ञात होता है कि हम्मीर की सभा में जज्जल नामक युद्ध में पारंगत और वीर मंत्री विद्यमान था । किन्तु निश्चित प्रमाणों के अभाव में यह पूर्ण सत्य भी नहीं है ।

अत: जब तक शार्ङ्गधर कृत "हम्मीर रासो" या "हम्मीर काव्य" उपलब्ध नहीं होता इन छन्दों का रचनाकाल क्या है ? इस सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित नहीं कहा जा सकता है । हम्मीर का निधन 14 वीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ था । अत: इससे पूर्व इन छन्दोंकी रचना हो चुकी होगी ।

रणमल्ल छन्द - श्री धर व्यास[1]

आचार्य शुक्ल ने वीरगाथाकाल के अन्त में श्री धर कृत रणमल्ल छन्द का परिचय दिया है इसकी एकमात्र हस्तलिखित प्रति

---

[1]सं0 मूलचन्द "प्राणेश" - भारतीय विद्यामन्दिर शोध प्रतिष्ठान, बीकानेर से सन् 1972 में प्रकाशित ।

पूना के डेक्कन कालेज से सरकारी संग्रह मे उपलब्ध है जिसे सर्व-प्रथम प्रकाश मे लाने का श्रेय गुजराती साहित्य के विद्वान रायबहादुर केशवलाल हर्षद राय ध्रुव को है । इसी प्रति के आधार पर श्री मूल चन्द "प्राणेश" ने इनका सम्पादन करके "भारतीय विद्या मन्दिर शोध प्रतिष्ठान [बीकानेर] से प्रकाशित कराया है । कृति के रचयिता का विस्तृत परिचय उपलब्ध नहीं है, हस्तलिखित प्रति पर केवल इतना लिखा है "श्रीधर व्यास कृत रणमल्ल छन्द सम्वत् 1662 मार्ग" इससे इतना ही ज्ञात होता है कि कवि की जाति ब्राह्मण थी । श्री के0 एम0 मुंशी ने इन्हें रणमल्ल का राजाश्रित कवि माना है । व्यास या पुरोहित प्राय: धार्मिक विषयों के शासक के परामर्शदाता होते थे जिन शब्दों मे कवि ने रणमल्ल को आशीष दिया है और उसे हिन्दु धर्म का रक्षक बताया है उससे ज्ञात होता है कि कवि श्री धर व्यास रणमल्ल का दरबारी कवि एवम् मन्त्री था उसकी दो अन्य रचनाओं भागवत दशम स्कंध और सप्तशती का भी पता चलता है ।

श्री के0 एम0 मुंशी इस कृति का रचनाकाल सम्वत् 1457 मानते हैं ।[2] और आचार्य राम चन्द्र शुक्ल 1454 मानते हैं ।[3] डा0 रघुवीर

सहायक ने इसकी प्रस्तावना में लिखा है - "इस काव्य में वर्णित युद्ध में रणमल्ल के प्रमुख विरोधी मुसलमान सेनानायक गुजरात के सूबेदार जफर खाँ का उल्लेख करते समय कवि ने उसके लिए बारम्बार "सुरताण" शब्द का प्रयोग किया है। [छन्द सं० 19, 21, 23, 25] यद्यपि उक्त युद्ध के समय तक वह केवल गुजरात का सूबेदार था, अतः यह अनुमान तर्कसंगत ही है। सन् 1407 ई० में जफर खाँ के मुजफ्फरशाह नाम से स्वयं को गुजरात का स्वाधीन सुलतान घोषित करने के बाद ही श्री धर व्यास ने इस काव्य की रचना की होगी, जिससे अपने काव्य में उसने जफर खाँ के लिए अनायास ही बारम्बार "सुरताण" शब्द का प्रयोग किया इस प्रकार इस काव्य के रचनाकाल को सन् 1408 से 1411 ई० तक में सीमित कर सकते हैं"[1] प्रसिद्ध इतिहासविद् डा० दशरथ शर्मा का अनुमान है कि इस काव्य की रचना सन् 1398 ई० के उपरान्त हुई होगी, इसमें दिल्ली पति के पराभव के लिए दो व्यक्तियों को समर्थ माना गया है, एक शाक-शल्य रणमल्ल को और दूसरे "यमतुल्य तिमिर लंग" अर्थात् तैमूर को, जिसने सन् 1398 ई० में दिल्ली पर अधिकार कर हजारों निरपराध व्यक्तियों को मरवा डाला था।"[2]

---

[1]रणमल्ल छन्द की प्रस्तावना।

[2]रास और रासान्वयी काव्य, पृ० 243

रणमल्ल छन्द की कथावस्तु संक्षिप्त है । श्री धर व्यास ने इसमें पाटण के सूबेदार जफर खाँ और रणमल्ल की लड़ाई का वर्णन है यह युद्ध सं0 1454 के आस-पास हुआ था और जफर खाँ इसमें परास्त हुआ था । इस काव्य में चरितनायक के पौरुष एवम् शौर्य का चित्रण बहुत ही सुन्दर ढंग से किया गया है । जब रणमल्ल छत्तीस कुलों के राजपूतों को सेना में सजाकर युद्ध के लिए प्रस्थान करता है । उसका चित्रण इस प्रकार है —

रा असि सरिसु बाहु उल्भारिअ झुलइ हठि हेजव झकारिअ ।
मुझ सिर कमल मेच्छपय लगाय, तु गयणङगि भाण न उग्गइ ॥
जा अंबरयुडतलि तरणि रमइ तां कमधजकन्ध न धगइ नमइ ।
वीर बडवानल तण झाण समइ, पुण मेच्छ न आपूं पासं किलइ ॥ 30
पुण रणरसजाण जरद्द जडी गुण सींगणि बार्ण खन्ति चडी ।
छत्तीस कुलह बल करिसु घणुं पय मग्गिसुर हम्मीर ॥ 3

प्रस्तुत है युद्ध वर्णन जिसमें बड़े ही ओजपूर्ण भाषा का चित्रण किया गया है —

उल्लालिय झालिव जुज्झ कमालह लयबधि लोकि लंडति ।
धास्कट धारि धगइ धर धसमसि धसमसि धुब्ब पेहत ॥
कमवज्ज उदयगिरि मंडण सविता झलमल मल्ल भिड़न्त ।
धुरि धसि धसि धूंस धरइ धगडायणि धरवरि रुंड रसंत ॥ 53 ॥

इस प्रकार "रणमल्ल छन्द" प्रमुख वीर रसात्मक प्रशस्ति काव्य है । यह 70 छन्दों [पदों] की लघु रचना है राज सभाओं में राजाओं या शासकों का प्रशस्तिगान जो भाटों और चारणों द्वारा किया जाता था उसे छन्द कहते थे । राजस्थान में इस प्रकार की छन्द संज्ञक रचनाओं का बाहुल्य है तथा इसकी लम्बी परम्परा भी मिलती है । "रणमल्ल छन्द भी इसी प्रकार का एक काव्य है इसमें दस प्रकार के मात्रिक वार्णिक एवम् मिश्र छन्दों का प्रयोग मिलता है । प्रारम्भ में दस छन्द आर्या छन्द हैं इसकी रचना संस्कृत भाषा में हुई है तदुपरान्त चौपाई छन्द की अधिकता है इसके अतिरिक्त दुर्मिल, भुजंगप्रयात, छप्पय, सारसी, डोढ़की, सिंह-विलोकित, दूहा और चंचचामर आदि छन्दों का प्रयोग मिलता है । प्रस्तुत काव्य में कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार है । प्रारम्भ के दस छन्दों के अतिरिक्त सम्पूर्ण काव्य तत्कालीन राजस्थानी अथवा डिंगल भाषा में लिखा गया है ।

कीर्तिलता - विद्यापति

प्रशस्ति मूलक चरितकाव्यों में विद्यापति कृत कीर्तिलता का प्रमुख स्थान है मिथिला के सुप्रसिद्ध कवि विद्यापति दरभंगा जिले में विसपी

गाँव के निवासी थे । इनके पिता का नाम गणपति और पितामह जयदत्त थे, ये दोनों ही संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे इनके जन्म की निश्चित तिथि का पता नहीं चलता है । डा० उमेश मिश्र इनका जन्म 1360 ई० में मानते है । डा० सुभद्र झा ने अन्तःसाक्ष्य और बहिःसाक्ष्य के आधार पर इनका समय 1352 - 1448 ई० माना है ।[1] विद्यापति संक्रान्तिकाल के प्रतिनिधि कवि है उन्होंने अपने समय की भाषा एवम् विषयगत प्रवृत्तियों का सफल प्रतिनिधित्व किया है वे दरबारी कवि होते हुए भी जनजीवन की झाँकी प्रस्तुत करने में पूर्णरूपेण सफल हुए हैं । विद्यापति ने अपनी रचना तीन भाषाओं में प्रस्तुत की संस्कृत के अतिरिक्त अवहट्ठ और मैथिली में इन्होंने ग्रन्थ तथा गीत लिखे ।

चरित काव्यों की श्रेणी में इस ग्रंथ का महत्व इसलिए भी अधिक है क्योंकि इस ग्रंथ की रचना में लेखक ने कल्पना और अतिरंजना का आधार बहुत कम लिया है । ऐतिहासिक घटनाओं को तथ्य सहित प्रस्तुत करने में विशेष सतर्क रहे हैं । इसका स्वरूप काफी हद तक स्पष्ट है । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे आदिकाल की प्रामाणिक वीर-रचना स्वीकार किया है । ऐसा नहीं है कि उन्होंने नायक की युद्ध वीरता

---

[1] डा० शिव प्रसाद सिंह, विद्यापति, पृ० 22

आदि के वर्णन में अतिरंजना का सहारा लिया ही नहीं, लिया है और खूब लिया है, किंतु कथा के नियोग में अस्वभाविक घटनाओं का कहीं भी समावेश नहीं किया गया है ।

इस ग्रंथ का प्रथम संस्करण म0म0 हर प्रसाद शास्त्री द्वारा ऋषीकेश सीरीज के अन्तर्गत कलकत्ता ओरियण्टल प्रेस से 1924 में प्रकाशित हुआ । इसका हिन्दी संस्करण सन् 1929 में नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ जो डा0 बाबू राम सक्सेना के द्वारा सम्पादित हुआ । तीसरा संस्करण साहित्य भवन लिमिटेड इलाहाबाद से 1955 में प्रकाशित हुआ, इसके सम्पादक डा0 शिव प्रसाद थे ।

कीर्तिलता का आरम्भ भी परम्परागत काव्य रूढ़ियों के अनुसार मंगलाचरण, आत्म विनय, सज्जन प्रशंसा, दुर्जन निंदा के द्वारा हुआ है । इसमें कथा का प्रारम्भ भृंग-भृंगी के संवाद से होता है । भृंगी के प्रश्नों के उत्तर के समाधान स्वरूप सारी कथा वर्णित है । भृंग पूर्व वीर पुरुषों के नामों का उल्लेख करता हुआ कीर्ति सिंह का चरित्र वर्णन करता है । इसके ग्रन्थ के प्रथम: पल्लव में कीर्तिसिंह के वंश और पराक्रम वर्णन है । दूसरे पल्लव में राजा गणेश्वर और असलान के बैर का वर्णन मिलता है । असलान

राये गणेश्वर जो कि कीर्ति सिंह के पिता हैं, कि हत्या करके मिथिला पर अधिपत्य कर लेता है। इससे राज्य में चारों ओर अराजकता फैल जाती है। असलान भी अपने कृत्य पर पश्चाताप करता है और कीर्ति सिंह को राज्य वापस करना चाहता है, किन्तु पितृ बध के प्रतिशोध में जलते हुए कीर्तिसिंह ने अपने भाई के साथ जौनपुर के श्री इब्राहिम साह के पास पैदल ही जाते हैं तीसरे पल्लव में कीर्ति सिंह अपने पिता के बध और असलान की कृतघ्नता की सूचना बादशाह को देते हैं। इब्राहिमशाह की सहायता से कीर्ति सिंह अपना राज्य वापस प्राप्त कर लेते हैं।

कीर्ति लता की यही संक्षिप्त कथावस्तु है, लेकिन इस कथा में मार्मिक जीवन्त और यथार्थ वर्णनों के उदाहरणों की कमी नहीं है। इस ग्रन्थ का उद्देश्य कीर्ति सिंह के चरित्र को उजागर करना था लेकिन कवि ने इसके अन्तर्गत सम्मिलित ऐतिहासिक तथ्यों को काल्पनिक घटनाओं द्वारा छिपाया नहीं है, बल्कि तत्युगीन वातावरण और जनजीवन का सही चित्र अंकित किया है। कीर्ति लता में सरस एवम् सम्वेदनशील स्थलों की कमी नहीं है लेकिन कवि ने जीवन की कठोरता और रिक्तता का यथार्थ चित्रण किया है, इस चरित्र काव्य ग्रंथ में सभी कथानक रूढ़ियों का पालन नहीं किया गया है। सज्जन प्रशंसा व दुर्जन निन्दा के सन्दर्भ में

कवि कहता है कि सज्जन पुरूष चन्द्र के सदृश्य है जो पीयूष वर्षा करता है । दुष्ट सर्प के समान है जो प्रत्येक अवस्था मे विष ही उगलेगा ।

"सुअण पसं

कवि दुष्टों के वचनों की चिन्ता किये बिना काव्य साधना मे लग जाता है और उसे अपनी भाषा के सन्दर्भ में उसकी श्रेष्ठता पर पूर्ण विश्वास है ।

" बालचन्द विज्जावर भाषा ।
दुहु नहिं लग्गर दुज्जन हासा ।।
ओ परमेसर हर सिर सोहइ ।
ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ ।।"10

कीर्ति सिंह के पिता की धोखे से असलान द्वारा हत्या हो चुकी है, असलान को बाद मे अपने निकृष्ट कृत्य पर पछतावा होता है वह राज्य वापस करना चहता है किन्तु कीर्ति सिंह शत्रु से राज्य लेना अपने स्वाभिमान के विरूद्ध समझता है । पितृ वध का बदला लेने की प्रतिज्ञा करता है —

बप्प उद्धरओ न अुप परिवक्षण जुक्कओ
संगर साह्स करओ न अुप सरणागत मुक्कओ।
दाने दलओ दारिद्द न अुप नहिं अक्खर भासओं 45

जौनपुर नगर का वर्णन कवि ने बड़ा ही स्वभाविक ढंग से चित्रण किया है —

लोअन केरा वल्लहा लच्छी के विसराम ।

कीर्ति सिंह पितृ वध का प्रतिशोध लेने के लिए जो प्रतिज्ञा करता है उसका तत्परता से पालन भी करता है । कीर्ति सिंह शौर्य उबल रहा है वह दर्प पूर्ण उक्ति कहता है —

तो पअप्पई किर्त्तिभूपाल
की कुमन्त पहु करिअ हीरा वयण समय जीत्पभ ।। 145 ।।
की पर सेना, सुरिताअ काई तसु सामथ्य कप्पिय
सप्पउँ देक्खउँ पिट्ठ पडि हओं लावओ रण भाण

युद्ध और सेना के प्रयाण का वर्णन रसानुकूल छन्द योजना के साथ हुआ है —

गिरि टरइ महि पडइ नाग मन कँपिया
तरणि रथ गगन पथ धूलि भरे झँपिया
तबल शत बाज कर भेरि भरे फुक्किया
प्रलय घन सद्द हुअ रण रव हुक्किआ[1]

कीर्ति सिंह से मुठभेड़ होने पर युद्ध में असलान कुछ देर उसका मुकाबला करता

---

[1]कीर्तिलता, 2143

है लेकिन तुरन्त युद्ध क्षेत्र से भाग जाता है । कीर्ति सिंह ने भागते हुए शत्रु असलान को जीवन-दान देते हुए कहता है ।

> जे धके जीवसि जीव सओ जाहि जाहि असलान
> तिहुअण जग्गइ कित्ति मम तुज्झ दिअउ जिवदान
> जइ रण भग्गसि तइ तोअ काअर || 250 ||

वस्तु वर्णन "कीर्तिलता" का उस समय के काव्यों की अपेक्षा अत्यन्त उच्च कोटि का है इसके अतिरिक्त नगर वर्णन, जौनपुर के भव्य महलों का वर्णन, सुन्दर वाटिकाओं, उपवनों, देवालयों और वाणिज्य वीथियों के आकर्षण चित्र, सेना की साज-सज्जा तथा उसके प्रयाण का वर्णन, यात्रा तथा युद्ध की भयंकरता का आँखों देखा सा वर्णन और राजा गणेश्वर के वध के पश्चात् तिरहुत की अराजकता का यथार्थ चित्रांकन आदि सभी कुछ विद्यापति की सूक्ष्म दृष्टि के प्रमाण हैं, छोटे से लेकर बड़े विषय पर बहुत ही यथार्थ, आकर्षक, सरस, तथा मर्मस्पर्शी लेखनी का आवरण चढ़ा है । इतना ही नहीं कहीं-कहीं चित्रांकन इतना सजीव हो उठा है कि लगता है अभी ही उस युद्ध आदि का आँखों देखा वर्णन किया जा रहा हो, इस सभी वर्णन में ओज गुण सम्पन्न भाषा में प्रभावोत्पादन में अभिवृद्धि हुई है —

पले रुण्ड मुण्डे खरो पाहु दण्डो सिआरू कलंकोइ कंकाल खण्डो
धरा घूरि लोट्टन्त टुट्टन्त काआ ॥ 195 ॥
लरन्ता चलन्ता पअलेन्ति पाआ
अरुज्झाल अन्तावली जाल बट्टा
बसा पेम पूडन्त उड्डन्त गिद्दा
मअण्डी करन्तो पिपन्तो रमन्तो
महामास खण्डो परन्तो भरन्तो ॥ 200 ॥

कीर्तिलता के कवि विद्यापति राजाओं एवं नवाबों के दरबारों से सम्बद्ध रहे। "कीर्तिलता" से दो महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं का पता अवश्य चलता है :-

(1) चैत मास कृष्ण पक्ष पंचमी लक्ष्मण संवत् 252 में मलिक असलान ने राजा गणेश्वर का वध करके राज्य अपने अधीन कर लिया।[1]

(2) जौनपुर के बादशाह इब्राहिमशाह की सहायता से कीर्ति सिंह ने तिरहुत का पुन: उद्धार किया। इस प्रकार "कीर्तिलता" में विद्यापति ने अपने आश्रयदाता (राजा कीर्ति सिंह) का गुणगान अलंकृत भाषा में किया। यह एक अपूर्व ऐतिहासिक काव्य है। इससे तत्कालीन संस्कृति, परिस्थितियों, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, हिन्दू, मुसलमान, सिपाही, खान, वेश्यायें सभी का जीवन्त चित्रण कीर्ति लता का साहित्यिक सौन्दर्य है इसके अतिरिक्त नायक के चरित्र के चित्रण, कीर्ति सिंह का स्पष्ट उज्ज्वल वीर रूप, जौनपुर के सुल्तान फिरोजशाह के सामने

उसका अति नम्र रूप भी प्रकट करता है कि कवि ने ऐतिहासिक तथ्य दबाने का प्रयत्न नहीं किया, वरन् इसे इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि नायक का नम्र भक्तिमान रूप अपनी भव्यता में सभी की सहानुभूति को अपनी ओर खींच लेता है ।

"कीर्तिलता" अपने काल को बहुत सुन्दर प्रामाणिक रचना है । भाषा-विकास की दृष्टि का इसका विशेष महत्व है । कीर्तिलता में परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रंश से कुछ आगे बढ़ी हुई भाषा के दर्शन होते हैं । "विद्यापति ने इसे "अवहट्ठ" कहा इसमें पुरानी मैथिली के कई चिन्ह पाये जाते हैं । "कीर्तिलता" के अध्ययन से हमें लोक भाषा के विकास का स्वरूप ज्ञात होता है । आदिकाल में जो परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा मिलती है उसकी दो प्रवृत्तियाँ कीर्तिलता में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं पहली प्रवृत्ति गद्य में तत्सम शब्दों के व्यवहार की है । दूसरी तद्भव शब्दों के एकछत्र राज्य की" कीर्तिलता बहुत कुछ "पृथ्वीराज रासो" की शैली में लिखा गया है । इसमें संस्कृत और प्राकृत शब्दों का भी प्रयोग हुआ है । इसमें गाथा [गाहा] छन्द का प्रयोग प्राकृत भाषा के माध्यम से हुआ है इसके अतिरिक्त अपभ्रंश परम्परा के अनुकूल संस्कृत और प्राकृत पदों मे तथा गद्य में भी तुक मिलाने का प्रयत्न किया गया है । आचार्य हजारी

प्रसाद द्विवेदी के अनुसार - यह ग्रन्थ अपभ्रंश-काव्यों की कथा-साहित्य की परम्परा में ही पड़ता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विद्यापति ने इस ग्रन्थ को अपभ्रंश में प्रचलित कथा-काव्यों की श्रेणी में ही रखना चाहा था फिर भी उन्होंने इस काव्य को कथा नहीं कहा था, बल्कि "काहाणी" कहा है।" यद्यपि "कीर्तिलता" में कथा काव्य के लक्षण-राज्यलाभ के साथ ही कन्याहरण, गान्धर्व-विवाह एवम् बहुविवाह का प्राधान्य आदि कुछ नहीं है वरन् उसमें राज्य लाभ तक ही सीमित किया गया है इस दृष्टि से यह पृथ्वी राज रासों से भी काफी भिन्न है। कीर्तिलता में कल्पित घटनाओं और सम्भावनाओं का आयोजन नाममात्र को ही हुआ है जबकि पृथ्वीराज रासों में इसकी अधिकता है। साथ ही "कीर्तिलता" में कवि ने बहुत ही यथार्थ चित्रों का चित्रण किया है। सम्भवतः पूर्ववर्ती कथा काव्यों के कुछ लक्षणों के अभाव में ही विद्यापति ने अपने इस काव्य को कथा से भिन्न "काहाणी" कहा है। वस्तुतः कीर्तिलता से पूर्ववर्ती कथाकाव्यों में गद्य का प्रयोग होने लगा था। संस्कृत के चम्पू-काव्यों की यह प्रवृत्ति "कीर्तिलता" में भी देखने को मिलती है।

कीर्तिपताका — कीर्तिलता की भाँति विद्यापति की एक महत्वपूर्ण अवहट्ठ रचना कीर्ति पताका है इस रचना का पता विद्वानों और अनुसंधित्सुओं ने बहुत पहले से लगा लिया था परन्तु यह रचना अपने मूल रूप में अपूर्ण अवस्था में ही प्राप्त है। डा० ग्रियर्सन ने "कीर्ति पताका" का सर्वप्रथम पता लगाया जब वे विद्यापति के पदों का संग्रह कर रहे थे। इसके बाद म०म० हर प्रसाद शास्त्री ने नेपाल पुस्तकालय में "कीर्ति पताका" की एक हस्तलिखित प्रति होने की चर्चा की है।[1] "कीर्ति पताका" की एक मात्र हस्तलिखित प्रति डा० उमेश मिश्र को नेपाल नरेश की कृपा से काठमाण्डू स्थित वीर पुस्तकालय की तिर्हुता लिपि में लिखित खण्डित प्रति देवनागरी में उपलब्ध होती है इसी के आधार पर डा० मिश्र ने सन् 1960 में इसे सम्पादित करके "अखिल भारतीय मैथिली साहित्य, इलाहाबाद में प्रकाशित कराया। इस रचना की चार हस्तलिखित प्रतियाँ पटना कालेज के पुस्तकालय में भी सुरक्षित है। चारों प्रतियों का मूल रूप एक ही है, क्योंकि चारों प्रतियाँ खण्डित हैं और उनमें 9 पृष्ठ से 29 तक गायब हों इन चारों प्रतियों के आधार पर डा० वीरेन्द्र श्रीवास्तव ने कीर्ति पताका के विवेचन

---

[1] म०म० हर प्रसाद शास्त्री, नेपाल दरबार लाइब्रेरी के ताल पत्र तथा अन्य ग्रन्थों का सूची पत्र, 1905 ई०

और पाठ संशोधन का प्रयास किया है ।[1] कीर्तिपताका और कीर्तिलता के शीर्षकों में समानता होने के कारण विद्वानों में भ्रम है कि कीर्तिपताका का कीर्तिसिंह के प्रेम सम्बन्धी प्रसंग पर आधारित यह रचना है ।[2] डा0 वासुदेव शरण अग्रवाल ने भी लिखा है कि कीर्तिलता और कीर्तिपताका जो अवहट्ठ भाषा में लिखी गई, वे कीर्ति सिंह के समय की है । पहली में उनके युद्ध का दूसरी में उनके अन्तःपुर जीवन का वर्णन है ।"[3] यह भ्रमात्मक स्थिति का एक प्रमुख कारण आजतक रचना का प्रकाशित न होना है । प्रो0 वीरेन्द्र श्रीवास्तव ने जिन चार प्रतियों के आधार पर विवेचन तथा पाठसंशोधन किया है, उससे उलझे तथ्य कुछ सुलझे है इन चारों प्रतियों का अन्त एक सा है जिसमें लिखा है :-

"एवं श्री शिवसिंहदेवनृपते : संग्रामजात यशो
गायन्ति प्रतिपन्तनं प्रतिदिशं प्रत्यहम्मण सुभ्रुव:
एतत्कीर्तिपता....... वाणी च विद्यापते
रामचन्द्रकिंमिश्रं विराजतु मुखाम्भोजेषु भूतो॥त:॥सदा
॥भूतोषदा ॥"

---

[1]देखिये - जर्नल आफ दि भागलपुर यूनिवर्सिटी ॥वाल॰ II नं0 1॥ 1969 में प्रो0 वीरेन्द्र श्री 0 का कीर्तिपताका

[2]डा0 शिव प्रसाद सिंह -विद्यापति पृ0 55

[3]कीर्तिलता - भूमिका, पृ0 9

इस ग्रन्थ की रचना "चन्द्रचूड़" शिव के अर्धनारीश्वर स्वरूप के वर्णन से प्रारम्भ होती है । तत्पश्चात् गणेश जी की वन्दना कर ग्रन्थ आरम्भ किया गया है । प्रारम्भ में कवि ने लिखा है —

पारीठअ मराठलि चढ गुणे भीक्षय करि मुहेनवाणी मुहर महग्घ रस पिअरू[1]
सुअत चलेन

इसके पश्चात् प्रारम्भ के सात पत्रों में अपुनि राय की शृंगारकेलि का वर्णन है उनके प्रणय को कृष्णकेलि के अनुरूप बताया गया है ये अर्जुन सिंह शिवसिंह के चचेरे भाई थे, जिनको शौर्य तथा पराक्रम का वर्णन रचना के आठवे पृष्ठ से शुरू होता है । प्रारम्भ के सात पृष्ठ मे अर्जुन सिंह के शृंगार वर्णन के कुछ अंश —

राअ अज्जुन गरुअहु धम्म
मजादा वस हियए रसविवेक चतुदाने मण्डिअ
सुरतले जगदेव गोविण्ठ परि पण्डय मण्डय (परिपूर्ण्य ।।. खडिअ)
करुण वसइ विवेक सओ खेमा सतुए ओ संग
धम्म सहित सिंगाररस कच्छ (च्च ?) कला चहुरंग ।।[2]

इसके पश्चात् कवि ने महाराज शिवसिंह के आचरण का वर्णन करते हुए कहा है :-

---

[1]डा0 उमेश मिश्र "कीर्तिपताका" पृ0 5

[2]भागलपुर विश्वविद्यालय पत्रिका, पृ0 9

धम्म देखी व्यवहार लोक नहि, नहइ पर भेद ।
सब का घर उब्बाह पलहि जनि जम्मिअ ।
बाहर दाने दलइ । दारिद छाौ सरिं खण्डिअ ।
जस पअस्स पत्तापे सहि मण्डल मीराहअ पीर जन ।
राज विराज पऊ । तिर छोत मज्जादा वहि रहिउ ।
करि तुरअपत्ति पअ भार भरे कुस्स कोपक सम सिलहिआ ।[1]

शिवसिंह के युद्ध वर्णन से सम्बद्ध स्थलों में श्रृंगार का चित्रण कहीं नहीं है । इसमें सुल्तान के साथ शिवसिंह के युद्ध का विस्तृत सुन्दर वर्णन किया गया है सुल्तान के साथ युद्ध, उसकी पराजय और शिवसिंह का जय वर्णन ही काव्य की विषयवस्तु है जिसका वर्णन कवि ने अनेक उत्प्रेक्षाओं को सम्मिलित करके किया है अन्त में कवि लिखता है —

एवं श्री सिंह देवनृपते: संग्रामजाते यशो
गायन्ति प्रतिपत्तनि [नं0 9] प्रतिदिश प्रत्यंगना सुभग: ।[2]

अत: सम्पूर्ण काव्य में प्रथम सात पृष्ठ पर ही अर्जुन देव के गौरवशील, सदैव मर्यादा में स्थित रहने वाला रस विवेकी, धनवान, पृथ्वीतल में समस्त शत्रुओं का नष्ट करने वाला करूणा और विवेक, प्रेम और पराक्रम

---

[1] डा0 उमेश मिश्र कीर्तिपताका पृ0 5

[2] डा0 उमेश मिश्र कीर्तिपताका पृ0 24

धर्म और श्रृंगार तथा काव्य और नाट्य गुणों से परिपूर्ण बताया है । इस प्रकार अर्जुन देव के वर्णन में श्रृंगार के अंश अल्पमात्र ही हैं । इसके अलावा सम्पूर्ण रचना शिव सिंह की प्रशस्ति के सन्दर्भ में लिखी गई है । प्रो0 वीरेन्द्र श्रीवास्तव ने अनुमान लगाया है कि "सम्भवत: 1414 ई0 में शिवसिंह के तिरोधान हो जाने के बाद विद्यापति ने अर्जुनराय का आश्रय लिया और उन्हीं के गुणगान में "अर्जुनकीर्तिगाथा" का निर्माण किया । "दिन दिने पहुपुवे रहउ किन्तो" में इसी कीर्ति का स्मरण है । मूल पाण्डुलिपि के तीसवें पृष्ठ से शिवसिंह की "संग्राम कीर्तिपताका" का चित्रण है । प्रतीत होता है कि कवि ने दो पुस्तकें अलग-अलग निर्मित की थीं । एक का श्रृंगार रस-सिद्ध अर्जुनराय के चरित्र से सम्बन्ध था और दूसरे का गौड़ेश सुलतान की विजय से संग्राम में यशस्वी वीर रससिद्ध शिवसिंह के चरित्र से । दोनों पुस्तकें अधूरी प्राप्त हुई है और उनको एक पुस्तक का अंग पाण्डुलिपि में बना दिया गया । प्रस्तुत अनुमान तर्क संगत प्रतीत होता है किन्तु पूर्ण सत्य अन्तिम निर्णय तभी लिया जा सकता है जब उसकी मूल प्रति उपलब्ध हो ।

ग्रन्थ की रचना दोहा छन्द में की गई है । इसमें कीर्तिलता की भाँति गद्य के अंश भी मिलते हैं । कहीं-कहीं संस्कृत श्लोक, तथा एक दो पंक्तियाँ संस्कृत गद्य में भी लिखी दिखाई पड़ती है ।

अध्याय - 6

श्रृंगारिक एवम् रोमांचक काव्य

श्रृंगारिक काव्य की हमारे देश में प्राचीन काल से चली आ रही समृद्ध परम्परा है। जो संस्कृत साहित्य से होते हुए हिन्दी साहित्य में अवतरित हुई है। इनमें वस्तुत: प्रेम काव्य है। इस प्रेम की कथा को स्वयं उसके रचनाकार ने कथा, बात, सभ्य कहा है। पंजाबी में इसके लिए किस्सा शब्द का प्रयोग है।

"सन् नौ से सैतालिस अहै। "कथा" आरंभ बैन कवि कहै ।।[1]
"इन्द्रावती और कुंवर "कहानी"। कहु भाषा मौं हो विज्ञानी।।[2]
"रस की "बात" रसिक पै जानै। बिनु रस रसिक निरस कै मानै ।[3]
"कुल किस्सिआ दा बेहतर "किस्सा" हुक्म रब्बे दे आइआ ।[4]

ऋग्वेद में इस तरह के कई कथात्मक सूत्र है, जिनके लिए आख्यान, इतिहास-पुराण आदि कई नाम दिए गये है। "छन्दोग्य

---

[1]जायसी, पद्मावत, पृ0 23।

[2]इन्द्रावती, पृ0 4

[3]मधुमालती, पृ0 36

[4]युसुफ-जुलेखा, पृ0 5

उपनिषद" में "कथा" शब्द का प्रयोग हुआ है :-

"हन्तोद्‌गीये कथाम्‌ वदाम्‌ ।"

यह परम्परा चिरकाल से मौखिक रूप में प्रचलित रही है, जो आगे चल कर ऋग्वेद में प्रेम कथाओं के रूप में मिलती है । महाभारत में ऐसी कई कथाएँ आई हैं । जिनका भिन्न-भिन्न प्रयोजन है । तथा उनका मुख्य कथानक से कोई खास सम्बन्ध भी नहीं । संस्कृत साहित्य में इस तरह के प्रेम कथा काव्यों की परम्परा रही है । प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में इस प्रकार के श्रृंगारिक व रोमांचक काव्यों की प्रचुरता है । कुछ श्रृंगारिक काव्य ऐसे हैं जिनमें धार्मिक भावना को मुख्य ध्येय रख कर इनकी रचना की गई । पूर्णतया श्रृंगारिक काव्य की अन्त में शान्त रस में परिणति होती है जो रचना का मुख्य उद्देश्य होता है व कवि अपने ध्येय की पूर्ति करता है । इस तरह के काव्य धार्मिक भावना से ओतप्रोत हैं, इसके अलावा कुछ विशुद्ध लौकिक श्रृंगारिक काव्य हैं, जो शुद्ध मनोरंजनार्थ लिखे गये व जिनका गीत व नृत्य के रूप में प्रयोग हुआ । इन काव्य ग्रंथों में रस राज श्रृंगार रस का सुन्दर परिपाक हुआ है । श्रृंगार के संयोग व वियोग दोनों पक्षों का सफल चित्रण हुआ है । नायिकाओं के सौन्दर्य वर्णन में नख-शिख वर्णन की परम्परा मिलती है । कथा के अनन्तर षट्‌ऋतु एवम्‌ बारहमासा का

वर्णन भी मिलता है । प्रत्येक कथा का सुन्दर सुखान्त अन्त है । "मुंज राज" को छोड़ कर । श्रृंगारिक व रोमांचक काव्य की यह प्रवृत्ति आगे चल कर उत्तर मध्य काल में और अधिक विकसित हुई, जिसके कारण हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस युग का नामकरण "श्रृंगार काल" के रूप में किया गया ।

यह काव्य ग्रंथ आदिकाल में "रास, रासक, वेलि, फागु, पउपइ, कहा आदि अनेक शीर्षक के रूप में मिलते हैं ।

भविसयत कहा — धनपाल [10 वीं शताब्दी]

भविसयत कहा के रचनाकार दसवीं शताब्दी के माने जाते हैं । इनका जन्म वैश्य कुल की धक्कड़ शाखा में हुआ था । ये प्राचीन राजस्थान के थे जिसे प्राचीन गुजरात भी कहा जा सकता है । इनके पिता का नाम "माहेश्वर" था तथा माता का नाम धनश्री था । इन्हें अपनी कविता पर गर्व था । धनपाल ने अपने विषय में स्वयं लिखा है —

"सरसइ बहुलद्ध महावरेण"

"धनपाल का अपभ्रंश हेमचन्द के अपभ्रंश से प्राचीन है । अतः ये स्वयंभू के बाद तथा हेमचन्द्र से पूर्व हुए ।"[1] भविसयत्त कहा के रचनाकार के अतिरिक्त जैन साहित्य में दो अन्य धनपाल कवियों का वर्णन मिलता है । पहले धनपाल संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के प्रकांड पंडित थे । मालवा में हुए तथा महाराजा भोज के सभा पंडित थे । ये 11वीं शताब्दी के थे तथा वाक्य पति मुंज को कवि सभा के रत्न थे, जिन्हें मुंज को ओर से सरस्वती की उपाधि मिली हुई थी । इनकी रचनाएँ "पाइस लच्छी नाम माला" तिलक मंजरी [गद्य काव्य] दूसरे धनपाल पालीवाल जाति 13वीं शताब्दी के थे । इन्होंने प्रथम धनपाल की रचना तिलक मंजरी नामक ग्रंथ की कथा का संक्षिप्त सार रूप तिलक मंजरी कथासार मे लिखा ।

"भविसयत्त कहा" एक ऐसा ग्रंथ है जिसे पूर्णतः लौकिक महाकाव्य कह सकते हैं । यद्यपि रचनाकार ने इस ग्रंथ पर भी धार्मिकता का आरोप किया है और इसे धार्मिक ग्रंथ बनाने को चेष्टा की है । इसमें श्रुत पंचमी व्रत के महत्व का वर्णन है । इसका प्रारम्भ व अन्त इस व्रत के महत्व के वर्णन से होता है ।

---

[1]आदिकालीन साहित्य शोध : राजस्थान का अपभ्रंश साहित्य व उसकी प्रवृत्तियाँ - डा० हरीश - पृ० 5

भविसयत्त कहा दो खण्डों एवम् बाइस संधियों में विभक्त काव्य है । इसकी कथा इस प्रकार है —

इस ग्रंथ का कथा नायक गजपुर का एक व्यवसायी भविष्य दत्त है । भविष्यदत्त एक सच्चरित्र, वीर एवम् उदार पुरुष है । उसका सौतेला भाई बन्धु दत्त उसे प्रताड़ित करता है, लेकिन भविष्यदत्त का उसके प्रति अनुराग व ममत्व है । वह अपने भाईबन्धुदत्त के साथ व्यवसाय हेतु दूर देश जाता है । वहाँ बन्धु दत्त उसे धोखा देकर एक वन में अकेला छोड़कर चला जाता है । भटकते-भटकते वह एक ऐसे नगर में पहुँचता है, जो समृद्ध तो है किन्तु उजड़ा हुआ है । भविष्यदत्त वहाँ से अपार धन एवम् एक सुन्दरी को लेकर आता है, किन्तु लौटते समय उसे पुन: बन्धु मिलता है, बन्धुदत्त उसके धन को हड़प कर उस स्त्री से विवाह करना चाहता है। किन्तु उस नगर का राजा भविष्यदत्त को सहायता करके उसे धन व स्त्री दोनो दिलवा देता है साथ ही राजा की पुत्री सुमित्रा से भी उसका विवाह हो जाता है । इसके पश्चात पोदनपुर के राजा के साथ युद्ध होता है जहाँ नायक अपना पराक्रम दिखलाता है । कुछ दिन तक वह अपनी दोनों पत्नियों के साथ सुख पूर्व रहता है । फिर अपनी पहली पत्नी के कहने पर वह उसके मातृदेश मैनाक द्वीप को जाता है । वहाँ से लौटने पर कथानायक

को जैन मुनि सदाचार की शिक्षा देता है । उसमें वैराग्य का भाव जग जाता है और वह तप में लीन होकर अनशन के द्वारा प्राण त्याग कर निर्वाण प्राप्त करता है ।

भविसयत्त कहा की कथा में पहले भाग में सम्पत्ति का वर्णन है । दूसरे भाग में कुरुराज और तक्षशिला के युद्ध का वर्णन है, तीसरे भाग में भविष्यदत्त के साथियों के पूर्व जन्म तथा भविष्यदत्त जन्म का वर्णन है । इस कथा काव्य में श्रृंगार, वीर और शान्त तीनों रसों का सुन्दर वर्णन मिलता है । महाकाव्य के लगभग सभी लक्षणों का धनपाल ने पालन किया है । काव्य का नायक सर्वगुण सम्पन्न है, वह सच्चरित्र, धर्मभीरु, वीर और उदार है । उसमें मध्यकालीन नायकों जैसा प्रेम और शौर्य का समन्वय है । लेखक ने इस कथा के माध्यम से असत्य पर सत्य की विजय अर्थात "सत्यमेव जयते" की उद्घोषणा की है । बन्धुदत्त असत्य का प्रतीक है । अनेक कुचक्रों के उपरान्त भी अन्ततः वह विफल होता है । गजपुर वर्णन, यात्रावर्णन तथा द्वीप-वर्णन कवि ने अत्यन्त रोचकता के साथ किया है । इस ग्रंथ के प्रथम भाग में श्रृंगार रस मुख्य रस के रूप में रहा है। जिसमें सुमित्रा व कमल श्री का नख-शिख वर्णन है । वीर रस के अन्तर्गत पोदनपुर के राजाओं से युद्ध वर्णन, भविष्यदत्त का पराक्रम, सैन्य संगठन इत्यादि ।

कथा के अन्त में शान्त रस की प्रधानता है जिसमें संसार की नश्वरता, तप का महत्व, निर्वाण आदि का वर्णन है । इस तरह से एक श्रृंगारिक काव्य का अन्त निर्वेन्द के रूप में होता है। संसार की नश्वरता का एक उदाहरण देखिए —

> अहो नरिन्द संसारि असारइ तक्खणि दिट्ठु पणट्ठु वियारइ
> पाइवि मणुअजम्मु जण वल्लहु वहुभव कोडि सहासि दुल्लहु ।
> जो अणु बन्धु करइ रइ लपंहु तहो परलोए पुणु विगउ संकडु ।
> जइ वल्लह विओउ भउ दीसइ जइ जोव्वणु र जराय न विणासइ ।
>
> (भवि कहा० 13/13/1)

<u>राउरवेल – रोडा</u> (11वीं शती)

श्रृंगारिक तथा रोमांचक शीर्षक के अन्तर्गत आदिकाल का एक प्रमुख काव्य राउर वेल है यह काव्य एक शिला पर अंकित है जो प्रिंस आफ वेल्स म्युजियम, बम्बई में संरक्षित है शिलांकित होने के कारण इसका महत्व भाषा की दृष्टि से बढ़ जाता है क्योंकि यह प्राचीन काव्य की भाँति सुधारे या परिवर्तित नहीं किये गये हैं इसलिए भाषा और वर्तनी के रूप में इसमें उसी रूप में सुरक्षित हैं । जिस रूप में लिखे गये थे । डा० माता प्रसाद इसमें 6 नायिकाओं का नख-शिख वर्णन बताते हैं और डा० हरिवल्लभ

भयाणी के अनुसार आठ का ।

"राउर वेल" की भाषा कौन सी है? इसमें विद्वानों में कुछ विवाद है । डा० गुप्त ने इसे दक्षिणी कोसली बताया है और डा० भायाणी ने इसे अपभ्रंशोत्तर आठ बोलियों में अर्थात् अवधी, मराठी, पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, बंगाली, मालवी आदि में लिखा गया बताया है । इसके अनुसार प्रत्येक नायिका का उसके प्रदेश की बोली नख-शिख वर्णन हुआ है । डा० शिव प्रसाद सिंह के अनुसार राउर वेल परवर्ती अपभ्रंश (अवहट्ठ) में लिखी हुई कृति है । यह अपभ्रंश मध्यदेशीय है इस पर पछाँही अपभ्रंश का प्रभाव घना है ।"[1] राउरवेल की भाषा मध्यदेशीय अवहट्ठ है जिस पर अन्य बोलियों की छाप भी पड़ी है । "उदाहरणार्थ इसकी नायिका के नखशिख में मराठी के परसर्ग "आत" प्रत्यय "हूरी" और सम्बन्ध कारक की चा, चे, चि आदि विभक्तियों का प्रयोग हुआ है । टक्किरणी नायिका (पंजाबी) के नखशिख में द्वित्व की प्रधानता है, जो पंजाबी तथा खड़ी बोली की विशेषता है, गौड़ी नायिका के नखशिख में पूर्वी अपभ्रंश का स्पष्ट प्रभाव है"[2] इन सबके अलावा राउरवेल में मध्यदेशीय

1· सूर पूर्व ब्रजभाषा और साहित्य (द्वितीय संस्करण), पृ० 356
2· हिन्दी साहित्य का उद्भव काल – डॉ० वासुदेव पृष्ठ 200

अवहट्ठ की प्रचुरता है जिसका विकास "उक्ति व्यक्ति प्रकरण" में देखने को मिलता है, इसका प्रमुख उदाहरण राउरवेल रचना है जिसमें पूर्वी हिन्दी कोसली या अवधी के बीज स्थित हैं जैसे —

अइसी बेटिया जा घर आवइ, ताहि कि तुलिम्ब कोउ पावइ ।।

इस प्रकार इसकी भाषा पूर्वी हिन्दी या अवधी है । इसमें अवहट्ठ का स्वरूप भी परिलक्षित होता है किन्तु 12वीं शती के "उक्ति व्यक्ति" प्रकरण" में अवहट्ठ का स्वरूप छूटता गया और नयी भाषा का स्वरूप उभरने लगा।

इस प्रकार राउरवेल विषय की अपेक्षा भाषा की दृष्टि से इस रचना का अत्यधिक महत्व है यह 11वीं, 12वीं शती की मध्यदेशीय क्षेत्र से प्राप्त होने वाली रचना है जो उस काल की ब्रज - अवधी प्रदेश की साहित्यिक स्थिति का ज्ञान कराती है उस समय यद्यपि साहित्य सृजन का कार्य अत्यधिक हुआ पर इस क्षेत्र का साहित्य नाममात्र को ही प्राप्त है इसलिए उस युग की छोटी से छोटी रचना का हमारे लिए विशेष महत्व है उसी में राउरवेल भी प्रमुख है "इस अंधकार युग को प्रकाशित करने योग्य जो भी चिनगारी मिल जाय, उसे सावधानी से जिला रखना हमारा कर्तव्य है, क्योंकि वह बहुत बड़े आलोक की सम्भावना लेकर आई होती है उसके पेट में केवल उस

युग के रसिक हृदय की धड़कन ही नहीं, केवल सुशिक्षित चित्त के संयन्त और सुचिन्तित वाक्पारव की ही नहीं, बल्कि उस युग के सम्पूर्ण युग के सम्पूर्ण मनुष्य को उद्भाषित करने की क्षमता छिपी होती है ।"

इसका उदाहरण देखिए --

चंद सावाण टोहा किस्यइ । जे महुं [16] एक्केणवि पंडिस्यइ ।।
अंधीह कम्मल जहरा दिन्ता । जो [नि] हालि करेर मयण मन्ता
कयपडिअहि सोहेड दुइ गन्त । म [मं] डन संडन डहि परे अन्न ।
कंटो कंटि जलालो सोहइ । एहा तेहा सउ जणु मोह [7।] इ ।।

<u>संदेश रासक</u> - अब्दुल रहमान

संदेश रासक नामक ग्रंथ के कवि ने अपना नाम "अद्दहमाण" बताया है जिसका संस्कृत रूप में "अब्दुल रहमान" समझा जाता है । इसके अतिरिक्त कवि ने अपने सम्बन्ध में और भी जानकारी दी है, जिसके अनुसार वह स्वयं को पूर्वकाल से प्रसिद्ध म्लेच्छ देश में उत्पन्न "मीर सेन आरक्ष" का पुत्र बताया है । इस "म्लेच्छदेश" के सम्बन्ध में विद्वानों के अलग अलग मत है ।"सांस्कृत्यायन जी" इसे मुल्तान मानते है ।[2]वह प्राकृत काव्य और गीत विषय में निपुण था--

1· हिन्दी साहित्य का आदिकाल - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी -पृ 26
2· हिन्दी काव्य धारा: पृ0 54 और 293

पच्चाएसि पहूओ पुत्वपसिद्धो य मिच्छदेसोत्थि
तह बिसए संभूओ आरच्छो भोरसेणस्स ।
तह तणओ कूल कमलो पारस कत्थेसु भीम विसयेसु
अद्दमाण पसिद्धो संनेह रासयं रइयं ।।[1]

अब्दुल रहमान मुस्लिम धर्मानुयायी था, लेकिन फिर भी वह मूलत: भारतीय था । उसके कवित्त में भारतीय आत्मा का निवास था । अब्दुल रहमान में भारतीय संस्कृति एवम् साहित्य पूरी तरह से रची बसी थी । इसलिए कुछ लोग यह मानते हैं कि "सम्भवत: इनके पिता "मीर सेन" ने ही पूर्व धर्म का परित्याग कर मुसलमानी धर्म को स्वीकार किया था । यही परम्परा अब्दुल रहमान को भी मिली ।"[2]

इस रासक ग्रंथ के रचनाकाल के सन्दर्भ में विद्वानों के मतों में भिन्नता है । अभी तक कोई ऐसा ठोस तथ्य नहीं मिला है, जिसके आधार पर इसका रचनाकाल निर्धारित किया जा सके । श्री मुनि जिन विजय जी ने अब्दुल रहमान का समय 12वीं शती का उत्तरार्ध या 13वीं शती का पूर्वार्ध माना है ।[3]

1· डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी एवम् विश्वनाथ त्रिपाठी "संदेश रासक" छन्द संख्या- 3-4

2· आदिकालीन हिन्दी साहित्य: शम्भू नाथ पाण्डेय पृ0 107

3· श्री मुनि जिन विजय जी "संदेश रासक"

इसके लिये उन्होंने यह आधार लिया है कि प्रस्तुत ग्रंथ में मुल्तान की जो समृद्धता का वर्णन मिलता है वह "महमूद" के आक्रमण से पूर्व का हो सकता है । श्री अमर चंद्र नाहटा का तर्क है कि लक्ष्मीचंद्र संवत् 1465 की लिखी टीका मिली है, उसमें लक्ष्मीचंद्र के कथन से ऐसा जान पड़ता है कि अब्दुल रहमान उसके समसामायिक रहे होंगे । इस अनुमान के आधार पर वे इसका रचनाकाल 1400 वि०सं० के आसपास मानने के पक्ष में है । लेकिन इनका मत बहुत हल्का जान पड़ता है । पं० राहुल सांस्कृतायन कवि का रचनाकाल 11वीं शताब्दी (1010ई०) ही मानते हैं ।[1] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसका रचनाकाल बारहवीं -तेरहवीं शताब्दी माना है ।[2] ये सभी समय अनुमानाश्रित है । कवि की भाषा व लक्ष्मीचंद की टीका जो सं० 1465 की है के आधार पर इनका समय 12वीं - 13वीं शताब्दी मानना ठीक ही होगा ।

संदेश रासक एक संदेश काव्य है । इस ग्रंथ का मुख्य विषय विप्रलम्भ श्रृंगार है । इसका अन्त आकस्मिक मिलन के रूप में सुखान्त है । यह एक छोटी रचना है, जिसमें 223 छन्द हैं और यह तीन प्रक्रमों में विभाजित है । प्रथम प्रक्रम में 23 छन्द हैं जिसमें कवि ने ईश-स्तुति, आत्म-परिचय,

---

1. हिन्दी काव्य धारा, प्रयाग 1954 पृ० 30
2. हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृ० 45

संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश और पैशाची भाषा के पूर्व कवियों की वन्दना तथा स्मरण करता है तथा अपनी रचना उद्देश्य प्रतिपादित करता है । द्वितीय प्रक्रम से कथा प्रारम्भ होती है जो कि अत्यन्त संक्षिप्त है - विजय नगर की एक प्रोषित पतिका नायिका अपने प्रिय के विरह में व्याकुल है। उसका पति धनोपार्जन हेतु खम्भात गया हुआ है, के विरह का चित्रण है । वह दुखी हो मुख्य मार्ग पर खड़ी होकर आने-जाने वाले पथिकों को देखा करती है और किसी पथिक द्वारा अपने प्रिय के पास संदेश भिजवाने को लालायित है । एक दिन वह एक पथिक को देखकर उतावली और भाव विभोर हो उठती है उस पथिक को रोक कर पूछती है तुम कहाँ से आ रहे हो और कहाँ जाओगे? यहीं पर कवि को पथिक के माध्यम से नायिका का नख-शिख वर्णन तथा अपने नगर सामोरू का वर्णन करने को मिल जाता है । नायिका पथिक से प्रिय तक संदेश पहुँचाने को कहती है । उसका संदेश उसकी विरह व्यथा है जिसका अन्त ही नहीं है । वह रुक-रुक कर अपनी व्यथा सुनाती है जो बहुत सरस एवम् मर्मस्पर्शी है । पथिक बार-बार जाते-जाते रुक जाता है । पथिक पूछता है कि तुम्हारा पति किस ऋतु में गया था यहीं पर कवि षट्ऋतु वर्णन का विस्तार पा जाता है । नायिका छहों ऋतुओं में गुजरी अपनी दशा का वर्णन करती है । अन्त में पथिक के द्वारा संदेश भिजवा कर

उसे विदा करके जैसे ही दक्षिण दिशा की ओर मुड़ती है उसका पति आता दिखाई देता है जिसे देख वह हर्षित हो जाती है । कवि ग्रंथ का समापन आशीर्वादात्मक वाक्य —

"जेम अचित उ कज्जु तसु सिद्ध खणाद्धि महंतु ।
तेम पठन्त सुणन्त यह जयउ अणाइ अणंतु ।।"

से करता है ।

इसका कथानक अत्यन्त संक्षिप्त है लेकिन इसका कलेवर कवि ने सूक्ष्म, संवेदनशील एवम् हृदयस्पर्शी भावों के चित्रण से किया है । कविने स्थूल वर्णनों की अपेक्षा सूक्ष्म वर्णनों का अधिकाधिक चित्रण किया कथा प्रारम्भ करते समय विजय नगर की विरहणी की दशा का चित्रण देखिए —

"विजय नयरहु कावि वररमणि,
उत्तंगथिर थोरथणि विरुडलदिक धय रट्टपउहरि ।
दीणाणहि पहुणिहइ जल पवाह पवंहति दीहरि ।
विरहग्गिहि कणयं गितणु तह सामलिम पवन्नु ।
णज्जइ राहि विडंबिअउ ताराहिवइ सउन्नु ।।" द्वितीय प्रक्रम छन्द सं0 -24

अर्थात विजयनगर की कोई ऐसी सुन्दरी रमणी जो ऊँचे, स्थिर, स्थूल स्तनों वाली है, जिसकी कटि भिड़ के समान पतली है गति हंस के समान है, जिसका

मुखमण्डल दीन हो गया है । दीर्घतर अश्रुजल प्रवाहित करती हुई पथ निहार रही है । स्वर्ण जैसे वर्ण वाली का शरीर विरहाग्नि से इस प्रकार श्यामल हो गया है जैसे चंद्रमा को राहु ने पूर्णग्रस्त कर लिया हो ।

जब उसे पथिक दिखाई दे जाता है तो उसके उतावले मन का मनोहर चित्रण है । वह अस्त व्यस्त हो दौड़ पड़ती है वस्त्र शरीर पर ठिकाने से नहीं, आभूषण टूट-टूट कर बिखर रहे हैं —

"तह मणहर वल्लीतिय चंचल रमणभीर,
छुडवि खिसिय रसणावलि किंकिणरव पसरि ।।"26

x x x x

पढि उद्दिय सविलक्ख सलज्जिर संझ तिय,
तं सिय सच्छ णियंसण मुद्दह विवल सिय ।
तं संवरि अणुसरिय पंहिय पावयणमण,
फुडवि णित्त कुप्पास विलग्गि दर सिहण । 28
छायंतो कह कहव सलज्जिर णिय करिहि,
कणय कलश झंपंतो णं इंदीवरिहि ।

पथिक के माध्यम से नायिका का नख-शिख वर्णन है । वह उसके मुख, केश, कटि

स्तन, बाँहों, नाभि, जांघों, गालों, पैर की अंगुलियों का वर्णन विभिन्न उपमाओं द्वारा करता है जो बहुत कुछ परम्परागत है लेकिन कुछ उपमाएँ नवीन हैं। "संदेश रासक के कवि ने स्वाभाविकता की उपेक्षा नहीं होने दी है। परम्परा विहित उपमानों को ग्रहण करने भी उन्होंने अपनी मौलिकता और सूक्ष्म निरीक्षण का पूरा उपयोग किया है।........... कटि की तुच्छता को मर्त्यसुख और स्तनों की दुर्जन और सज्जन से दी गई उपमाएँ ध्यान देने योग्य हैं।"[1]

शृंगार रस इस काव्य ग्रंथ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है जिसका वर्णन कवि ने अत्यन्त मनोयोग से किया है। विरहणी नायिका संदेश भेजते समय लज्जा का अनुभव कर रही है जिसके प्रवास करते मैंने भी प्रवास नहीं किया जिसके वियोग में मैं मरी नहीं, पथिक उस प्रिय को संदेश देते हुए लज्जा आती है।

जसु पवसंत ण पवसिया मुइउ वियोइ ता जासु।
लज्जिज्जउ संदेसडउ दिंती पहिय पियासु ॥70

पति के संदेश देकर कहती है — पौरुषनिलय तुम्हारे रहते क्या मैं गुरुतर परिहास नहीं सह रही हूँ? कि जिन अंगों के साथ तुमने विलास किया था वही अंग विरह द्वारा जला दिये गये हैं —

---

1. संदेश रासक पृ0 116

गुरुअउ परिहसु किन सहउ पइ पउरिसुनिलरण,

जिहि अंगहि तूं विलयसउ ते दड्ढा विहरेण ।। 77

नायिका का अतिश्योक्ति पूर्ण कथन देखिये -- कि जो कनिष्ठिका अंगुली को मुंदरी थीं, उसमें मेरी बांह समा जाती है --

"जो कालंगुलि मुद्दउउ सो बांहडी समाइ ।।" 81

"मण पिय इक्कति बलियडइ बेवि समाणा हत्थ ।।"80

विरहणी नायिका कहती है कि प्रिय से कहना कि मुझे तो तुम्हारा स्वपन में भी सानिध्य नहीं मिला क्योंकि जब से तुम गये हो तब से नींद ही नहीं आई :-

इम कहिय पहिय तसु णिद्दयह जइय कालि पवसियउ तुहु,

वसु लइ मइ तणि णिंदणहु को पुणु सुविणइ संगमहु ।। 94

इसी के अनन्तर कवि ने षट्ऋतु का वर्णन भी किया है । पथिक के पूछने पर तुम्हारा पति कब गया? विरहणी नायिका को सभी ऋतुएँ याद आती हैं जो उसने प्रिय-वियोग में संतप्त हो कर व्यतीत की है, कवि ने ऋतु वर्णन ग्रीष्मऋतु से आरम्भ किया है । ग्रीष्म के पश्चात वर्षा ऋतु आती है ग्रीष्म की अग्नि वर्षा के आने पर धारा समूह द्वारा बुझा दी गई, किन्तु आश्चर्य की बात है कि मेरे हृदय की विरहाग्नि और अधिक तपती है -

"उल्हविय गिम्हहवी धाराणि बहेण पाउसे पत्ते

अच्चरियं महीहयए विरहग्गी तवइ अहिअयरं ।।" ।49

अब्दुल रहमान केविरह वर्णन के सन्दर्भ में डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं ····
जायसी की भाँति अद्दहमाण के सादृश्य मूलक अलंकार और बाह्य वस्तु निरूपक
वर्णन बाह्य वस्तु को ओर पाठक का ध्यान न ले जाकर विरह कातर मनुष्य के
मर्मस्थल की पीड़ा को अधिक व्यक्त करता है ······विरहणी के व्यथा कातर
सहानुभूति सम्पन्न कोमल हृदय की मर्मवेदना ही मुख हो उठती है । वर्णन चाहे
जिस विषय का हो व्यंजना हृदय की कोमलता और मर्म वेदना की होती है ।[1]

कवि ने मनोभावों के अनुकूल छन्दों का प्रयोग किया है । छन्द
प्रयोग की दृष्टि से यह रासक काफी समृद्ध है इसमें 22 छन्दों का प्रयोग है जिसमें
रासा छन्द का प्रयोग अधिक हुआ है अन्य छन्द है — गाहा, रड्डा, पद्धडिया,
डोमलिया, दोहा, कामिणी-मोहन, वत्थु, मालिनी, अडिल्ला, फुल्लय इत्यादि ।

इसकी भाषा के विषय को लेकर विद्वान एक मत नहीं हैं । कुछ
अपभ्रंश की रचना मानते हैं तो कुछ "अवहट्ठ"की । किन्तु हजारी प्रसाद द्विवेदी
इसे हिन्दी की प्रारम्भिक कृतियों में मानते हैं । "संदेश रासक" की भूमिका में
विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं कि "भाषा की दृष्टि से यद्यपि यह नहीं कहा जा
सकता कि संदेश-रासक की भाषा प्रत्यक्षत: हिन्दी की पूर्ववर्ती अपभ्रंश है फिर

1· हिन्दी साहित्य का आदिकाल : पृ0 91

फिर भी हिन्दी के बहुत से रूपों की पूर्वावस्था का आभास हमें इसमें मिल जाता है । विशेष रूप से परसर्गों, सर्वनामों और वाक्य गठन की कई विशेषताओं, कई कारकों के लिए षष्ठी के व्यवहार तथा संयुक्त पूर्व कालिक प्रयोग में संदेश रासक की भाषा और हिन्दी का संबंध अत्यन्त निकट का ज्ञात होता है।"[1]

मुन्ज रास

धार के परमार राजा मुंज के चरित्र पर लिखित "मुन्जरास" एक सुन्दर श्रृंगारिक काव्य है । यह सम्पूर्ण ग्रंथ के रूप में नहीं मिलता है । श्री मुनि जिन विजय जी ने "पुरातनप्रबंध संग्रह में "मुंजराज प्रबंध संकलित किया है । उन्होंने जैन प्रबंध संग्रहों की ए 16वीं शती विक्रमी की प्रति के आधार पर यह संकलन किया है, जो "प्रबंध चिन्तामणि" जैसा ही है । आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण "सिद्ध हेम" (सं0 1197) में दो दोहे उदाहरण में दिये हैं --

> रक्खर सा विसहारिणी बेकर चुम्बिवि जीव ।
> पडिबिम्बिअ मुंजालु जलु जेहि अडोहिउ पीउ ।।
> बाह विछोडवि जाहि तुहुं हउं तेवइं को दोषु ।
> हियय ट्ठिउ जइ नीसरहि जाणउं मुंज सरोसु ।।

---

1. हिन्दी साहित्य का आदिकाल : पृ0 91

मेरूतुंग ने अपने "प्रबंध चिन्तामणि" [सं0 1361] में मुंज राज प्रबंध शीर्षक से मुंज की कथा दी है ।[1] ऐसा ज्ञात होता है कि "सिद्ध हेम" से पूर्व मुंज के चरित्र के आधार पर लिखा गया अपभ्रंश का कोई काव्य था । परमार राजा मुंज का राज्याभिषेक संवत् 1029 और सं0 1050-54 के मध्य हुई । मुंज स्वयं कवि था, कवियों का आश्रयदाता व विद्यानुरागी था । डॉ0 माता प्रसाद गुप्त ने इस का रचनाकाल सं0 1150 के पास माना है । उनके अनुसार

"मुंज का समय संवत् 1000-1054 वि0 अनुमान किया जाता है । अत: इस रचना का समय सं0 1054 और 1190 के बीच सम्भवत: 1150 के आस पास माना जा सकता है ।[2]

इस श्रृंगारिक प्रेम काव्य की कथा इस प्रकार है :-

मुंज का कर्नाटक के राजा तैलप से घोर शत्रुता थी । मुंज अपने मंत्री रूद्रादित्य के रोकने पर भी, बिना उसकी शक्ति का माप किए उस पर आक्रमण कर देता है, फलत: मुंज की पराजय होती है । वह बंदी बना लिया जाता है । जहाँ उसका तैलप की विधवा बहन मृणाल वती से प्रेम हो जाता है । मृणालवती अपनी

---

1. प्रबंध चिंतामणि सिंधी जैन ग्रंथ माला पृ0 21-25
2. रासो साहित्य विमर्श, पृ0 12

प्रौढ़ावस्था पर दु:खी है जबकि मुंज की युवावस्था है । मुंज मृणाल वती से कहता है कि "बीते हुए यौवन की चिन्ता न करो । शक्कर के सौ टुकड़े करने पर भी उसका चूरा मीठा ही होता है :—

मुन्ज भणइ मुणालवइ जुव्वण गयुं न झूरि ।

जइ सक्कर सय खण्ड थिय तो इस मीठी चूरि ।।[1]

मुंज के शुभेच्छुक उसे बन्दीगृह से भगाने की योजना बनाते हैं । मुंज ने मृणाल वती से भी भागने को कहा, लेकिन मृणाल वती उसके साथ भागना नहीं चाहती, साथ ही मुंज से अलग भी नहीं होना चाहती । अत: वह इस षड्यन्त्र की सूचना अपने भाई को देता है । तैलप षड्यन्त्र को समाप्त कर मुंज को बहुत अपमानित करता है उसे बाँध कर गली गली भीख मँगवाते हैं। और फिर उसे हाथी से कुचलवा कर मरवा डाला जाता है । दु:खी मुंज कहता है कि चतुर स्त्रियों की प्रेम भी बातों में आकर जो उनका विश्वास कर लेता है वह बहुत दुख पाता है :-

सउचिन्त हरि सखी मम्णह बत्तीस डीहियाँ ।

हियड़ि ते नर दड्ढ सीझै जे बोससइ थियाँ ।।[2]

---

1. पुरानी हिन्दी, पृ0 42

2. पुरानी हिन्दी, पृ0 43

भारतीय साहित्य में इस तरह के यथार्थ परक तथा दुखान्त अन्त वाले साहित्य बहुत कम ही मिलेंगे । यह रचना शायद लोक शिक्षण के उद्देश्य से रची गई । विभिन्न प्रसंगों में आए उद्धरणों के विभिन्न उदाहरण देखिए —

सायरु खाई लंक गढ़ गढवर दस सिर राउ ।

भग्गक्खइ सो भिज्जि गउ मुंज म करसि विसाउ ।।[1]

जा मति पच्छइ सम्पज्जइ सा मति पहिली होई ।

मुंज भणइ मुणालवइ विघन न वेढइ कोई ।।[2]

अर्थात – सागर, खाई, लंका का गढ़ और दससिर वाला रावण भी भाग्य का क्षय होने पर नष्ट हो गया इसलिए हे मुंज तू विषाद मत कर ।

हे मृणाल वती, जो मति बाद में उत्पन्न होती है वह पहले ही उत्पन्न हो जाए तो कोई बाधा नहीं ।

मुंज शोक करता है कि जल कर या फांसी की रस्सी टूट कर मैं क्यों न मरा? राख का ढेर क्यों न हो गया? डोरी से बंधा जैसे बन्दर घूमता है वैसे ही मुंज घूमता फिरता है ।

झोली तुट्टी किं न मुउ कि न हुयउ छार पुंज ।

हिंडउ डोरी बंधीयउ जिम मंकड तिम मुंज ।।

---

1. पुरातन प्रबन्ध संग्रह सिंघी जैन ग्रंथमाला

2. पुरातन प्रबन्ध संग्रह सिंघी जैन ग्रंथमाला

ढोला मारू रा दूहा - §12वीं शती§

प्रस्तुत रचना एक सुन्दर गीति मुक्तक है । राजपुताने में ढोला मारू के दोहे बहुत प्रसिद्ध हैं । इसके प्राचीनतर रूप का सम्पादन राजस्थान के तीन विद्वानों — "श्री रामसिंह, श्री सूर्यकरण पारीक और श्री नरोत्तम स्वामी एम•ए• ने किया ।"इस प्रकार अपभ्रंश के निकट जाने वाली भाषा के अध्ययन का एक और मूल रूप उपलब्ध हुआ ।

"ढोला मारू रा दोहा" की मूलकथा का सम्बन्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों से है, किन्तु राजस्थान के लोक-जीवन में इसके सम्मिलित होने पर समय-समय पर इसमें नये तथ्यों का समावेश होता गया । यद्यपि ढोला का समय विक्रम सम्वत् 1000 के लगभग है किन्तु इस रचना का लेखनकार्य कब और किसने किया, निश्चित नहीं है, डा० कमल कुलश्रेष्ठ ने सन् 1500 से 1750 तक हिन्दी प्रेमाख्यानकों के अन्तर्गत ही इसका स्थान निर्धारित किया है ।[2] डा० नामवर सिंह भी इसे 15वीं शताब्दीकीही रचना मानते दिखाई पड़ते हैं ।[3] डा० भोलाशंकर व्यास इसका रचनाकाल विक्रम की 13वीं - 14वीं शती मानते हैं ।[4]

1• "ढोला मारुरा दोहा" — काशी नगरी प्रचारिणी सभा से सं0 1991 में प्रकाशित ।

2• "हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य", पृ0 12 - 18

3• हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास, पृ0 404

इन्हीं के अनुसार — ढोला मारू की भाषा लोकगीत के रूप से प्रचलित होने के कारण परिवर्तित रूप में मिलती है तथापि यह विषयवस्तु की दृष्टि से हिन्दी के आदिकाल की रचना है, और इसका रचनाकाल विक्रम की 13वीं - 14वीं शती माना जा सकता है ।[1] इसकेअतिरिक्त ढोला-मारू-रास दूहा के सम्पादक भी इसका रचनाकाल सं0 1450 के बाद का नहीं मानना चाहते ।[2] नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित "ढोला मारू रा दूहा" की प्रस्तावना में कुशल लाभ के द्वारा इसकी रचना 1618 के आसपास मानी गई है ।[2] मोती लाल मेनारिया ने इसका रचनाकाल संवत् 1617 बताया है [3] और पं0 विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने "संवत् सोलज सतोतरइ" का अर्थ सम्वत् 1607 ठीक मानकर ग्रन्थ का रचनाकाल सम्वत् 1607 माना है ।[3] "सतोतरइ" "सात" की अपेक्षा "सत्रह" या सत्रहोत्तर = अठारह के अधिक निकट प्रतीत होता है । इसके अतिरिक्त "ढोला मारू" तीन रूप परवर्ती हैं । को जो अधूरे दूहे मिले, उन्हें कथा सूत्र मिलाने के लिए चौपाई से जोड़ा गया उन्होंने यह भी लिखा है कि "दूहा घराा पुराराा अछइ", अर्थात् दोहे काफी पुराने छन्द हैं परन्तु यह छन्द कितना पुराना है कहना कठिन है इसके सम्पादकों के अनुमान से "ये

1· हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास प0 404

2· ढोला मारू रा दूहा - प्राक्कथन, प0 8

दोहे कम से कम 120-200 वर्ष तो पुराने होंगे हो इस प्रकार इन दूहों को रचना सम्वत् 1450 के बाद की हो सकतो है ।"[1] इस प्रकार ढोला के चार रूप दृष्टव्य होते हैं दूसरे रूप दूहा - चौपाई वाला रूप है उसमें एक-दो स्थानों पर "कल्लोल" या "किल्लोल" शब्द आया है --

गाहा गूढ़ा गीत गुरा कवित कथा कल्लोल ।

चतुर तरा चित्त रंजवरा कहियइ कवि कल्लोल ।।

(ढोला मारू रा दूहा, पृ0 28)

मोतीलाल मेनारिया में ढोला मारू के इसी दोहे के आधार पर इसके कर्ता "कल्लोल" माना है तथा इसी को आधार मानकर इस रचना का समय सं0 1530 माना है ।

पनरहसे तीसे बरस, कथा कहो गुण जांरा ।

यदि पे साखें वारगुरू, तीज जरा सुभ बांरा ।[2]

यह दोहा काफी परवर्ती दोहा-चौपाई से मिलता है । इसलिए पूर्णरूपेण इसे सही रचनाकाल का प्रमाण नहीं माना जा सकता है "कल्लोल" का अर्थ --"आनन्द" भी होता है अनुमानतः यह शब्द कवि के लिए नहीं वरन् उल्लास या हर्ष के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है "यह नाम किसी व्यक्ति का होना अधिक सम्भव नहीं जान पड़ता । उक्त दोहों में "कल्लोल" का सीधा-सादा अर्थ

---

1. हिन्दी साहित्य का अतीत (भाग 1) पृ0 91

2. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ0 101

यह एक प्रेम कथा काव्य है । इसके गीत एक कथा को संजोये हुए है ।यह काव्य पूगल देश के राजा पिंगल की पुत्री मारवणी और नरवर के राजा नल के पुत्र ढोला के प्रेम की कथा है । किसी समय पूगल में अकाल पड़ा तो, पिंगल परिवार राजा नल के यहाँ नरवर आ जाते हैं वहाँ पर मारवणी व ढोला का विवाह हो जाता है उस समय चूंकि दोनों का शैशव होता है अत: मारवणी अपने पिता के साथ अपने घर चली जाती है । युवा होने पर मारवणी स्वपन में अपने पति को याद करती है, इधर नल ने ढोला का विवाह मालवा की राजकुमारी मालवणी से कर दिया । मारवणी अपने प्रिय तक विरह का संदेश कई लोगों द्वारा भेजती है, किन्तु वे सब मालवणी के जाल में फँस जाते हैं । फिर मारवणी ने दक्ष ढाढ़ियों से ढोला तक अपना संदेश पहुँचवाया । ढाढ़ियों के हृदय विदारक गीत को सुन कर ढोला व्याकुल हो मिलने के लिए चल देता । मालवणी रोकने का बहुत प्रयास करती है फिर ढोला मारवणी का मिलन होता है कुछ दिन ससुराल में रहने के बाद मारवणी को ले नरवर के लिए चल देता है । मार्ग में अनेक बाधाएं आती हैं मारवणी को सांप डस लेता है तब एक योगी के उपचार से ठीक होती है । मार्ग में उमर सूमरा अनेक बाधाएं डाल कर मारवणी का अपहरण करना चाहता है किन्तु नर्तकी की सहायता व ढोला की होशियारी से ढोला की विजय होती है । अन्त में दोनो नरवर पहुँचते हैं जहाँ दोनों

पत्नियों में कुछ विवाद होता है लेकिन फिर समझौते द्वारा शान्त हो दोनों के साथ आनन्द पूर्वक रहने लगता है ।

ढोला मारू रा दूहा का मूल रूप गीतात्मक था । यह एक लोक प्रचलित प्रेम काव्य है । जिसे बाद में प्रबन्ध काव्य का चोला पहना दिया गया, और उसके इस परिवर्तित रूप में कई कवियों का हाथ रहा होगा । साथ ही कथा को सरस बनाने के उद्देश्य से उसमें कई प्रसंगों का सरस बनाने के उद्देश्य से उसमें कई प्रसंगों को समावेश किया गया । डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी इसके सन्दर्भ में लिखते हैं कि "कथा के घुमाव के लिए दीर्घकाल से प्रचलित कथानक रूढ़ियों का उसी प्रकार आश्रय लिया गया है, जिस प्रकार हिन्दी के अन्य चरित काव्यों में लिया गया है ।"[1]

जो भी इन रूढ़ियों तथा रसपूर्ण वर्णनों से यह काव्य अत्यन्त सरस लोक कथा काव्य बन गया ।

ढोला मारू रा दूहा में प्रेम का तीव्र व सहज प्रकाशन हुआ है । मारवणी को रात्रि में स्वप्न में प्रिय का दर्शन हुआ है । प्रातः होने पर जागने पर विरह उस पर छा जाता है । सखियाँ उसे देखकर चकित हैं । वह पपीहे की

---

1. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० 91

आवाज से व्यथित हो उठती है । उसकी आवाज सुन उसे प्रिय का भ्रम होता है । वह कभी पपीहे पर क्रोधित होती है और कभी उससे दयनीयता से प्रार्थना करती है —

"बाबहिआ तू चोर, थारी चौंच कटाविसूं ।
राति ज दिन्ही लोर, मइं जाण्यउ श्री आवियउ ।।

x x x

बाबहिआ पिउ-पिउ न करि, प्रिउ को नाम न लेह ।
काइक जागइ विरहिणी, जोउ कहयां जिउ देह ।।

सहजता इस काव्य की प्रमुख विशेषता है । विरहणी मारू से सखियाँ पूछती हैं कि तूने प्रिय को तो देखा तक नहीं फिर उनसे प्रेम कैसे हो गया । मारवणी सहजता से मार्मिक पूर्ण कथन करती है —

जे जोवण जिन्हां तणां तन ही मांहि बसंत ।
धारइ दूध पयोहरे बालक किम कादंत ।।

मारू प्रिय तक संदेश भिजवाना चाहती है वह कुछ पंक्षियों के माध्यम से संदेश भेजने का निवेदन करती है, लेकिन वे इस कार्य में असमर्थ हैं अत: वह संदेश कथन में दक्ष ढाढ़ियों से संदेश कहती है । संदेश द्वारा अपने हृदय की समस्त भावनाओं कामनाओं को व्यक्त करती है । हे ढाढ़ी प्रिय तम से कहना कि तुम्हारे बिरह

में जलकर कोयला हो गई । देर से आने पर उसको राख ही मिलेगी ।

ढाढ़ी एक संदेसडा, प्रीतम कहिया जाहि ।

सा धण बलि कोइला भई, भसम ठऊोलिस आइ ।

रात भर मारू को नींद कहां ? उसका संदेशा पार गुरुजन भी सुन लेते हैं आंसुओं से आर्द्र वस्त्रों को निचोड़ते-निचोड़ते उसके हाथों से छाले पड़ गये हैं । लेकिन ढोला न आता है न उसे ले जाता है ऐसा लगता है कि उसका कंकाल भी कौआ उड़ा कर ले जायेगा ।

रात जो रूनी निसह भरि, सुणी महाजनि लोइ ।

हाथेली छाला पड्या, चीर निचोई निचोइ ।।

ढोला मिलिसि न चीसरसि, नावि आविस न लेसि ।

मारू तणइ करंकउणइ, वाइस अऊावेसि ।।

अन्त में मारू की प्रतीक्षा की घड़ियां समाप्त होती हैं । उसे संदेशा मिलता है कि प्रिय आ गया है । वह खुशी से फूली नहीं समाती, उसका हृदय खुशी से हेमगिरि पर्वत सदृश्य होता जा रहा है वह इस शरीर में कैसे रह पायेगा ।

हियड़ा हेमगिरि भयउ, तन पंजरे न माइ ।।

वह हर जगह प्रसन्नता से विचरती फिरती है । अपनी प्रसन्नता के साथ उसे हर वस्तु प्रसन्न दीखती है -

मोइ साजण आविया, जाहँ छी जोती वाट ।

थोभा नाचइ, घर हँसइ, खेलण लागी खाट ।।

प्रिय से मिलन होता है जिसका चित्रण कवि ने शारीरिक चेष्टाओं के माध्यम से किया है व संयोग श्रृंगार के चित्रण में कवि ने विनोदात्मक पहेलियाँ तथा आठों पहरो का वर्णन किया है । रात्रि के प्रथम पहर से आठवें पहर तक का वर्णन किया है —

पहिलर पोहरे रैण के दिवला अम्बर हूर ।

धण कस्तूरी हुट रही पिव चँपा रो फूल ।।

दूजे प्रहरे रैण के "मिलियित गुप्फागुप्थ ।

धण पाली पिव पाजस्यो बिहुत भला भइ जुध्ध ।।

तीजे प्रहरे रैण के मिलिया नेहा नेह ।

धण नइ धरती हुइ रही, कंत सुहाणौं मेह ।।

चौथे प्रहरे रैण के कूकइ नेलिल रात्रि ।

धण संभाले कंचुवो, प्री मूछा रो बाल ।।

इधर मारू का प्रिय से मिलन होता है तो मालवणी का प्रिय से बिछोह । जब मारू का संदेशा पा ढोला जाने के लिए व्याकुल होता तो मालवणी उसे रोकने के प्रयत्न करती है इसी के अनन्तर कवि षट्ऋतु वर्णन का अवसर पा जाता है,

ऋतु वर्णन ग्रीष्म से आरम्भ होता है । मालवणी ढोला से निवेदन करती है कि इतनी तप्ती गर्मी के दिन में भला कोई बाहर जाने की सोचता है —

थल तत्ता लू साम्हो, दाझोला पहियाह ।
म्हाकउ कहियउ जउ करउ, घरि बइठा रहियाह ।।

ग्रीष्म बीतती है वर्षा ऋतु का आगमन होता है मालवणी फिर रोकने का प्रयास करते हुए कहती है जब वर्षा के कारण बगुले भी जमीन पर पैर नहीं रख रहे हैं भला ऐसी ऋतु में कोई हीं जाता है । जब घटाएं घिरी हो, पानी गिर रहा हो, नदियां पूर्ण वेग में हो ऐसे में यदि अपना ठाकुर ही चला जाए तो धनिया को कैसे धैर्य धारण हो

जिण रुति बग पावस लियइ धरणि न मेल्हइ पाइ ।
तिण रुति साहिब वल्लहा, कोई दिसावर जाइ ।।
जिण दाहे वण हर घरइ, नदी खलक्कइ नीर ।
तिण दिन ठाकुर किम चलइ, धण किम बांधइ धीर ।।

इसी तरह अन्य ऋतुओं में भी मालवणी निवेदन करके रोक लेती है । मालवणी ने ढोला से कह रक्खा है जब वह सो रही हो उस समय वह जाए । लेकिन वह जाय न इसीलिए रात दिन लगातार जागती रहती है एक दिन उसकी कुछ देर के लिए आंख झपक जाती है ढोला चला जाता है । वह बिलखने लगती है हे सखि प्रिय चला गया उसके बिना घर सूना हो गया । अब न तो गले से पानी ही उतर

रहा है न हृदय में सांस ही समा पा रही है । हे सखि वहीं चल जहाँ प्रिय रहता था संभव है कि उसका एकाध मीठा बोल वहाँ चिपका हो

सज्जण चाल्या हे सखी, सूना करे आवास ।
गलेय न पांणी उतरह, हिये न आवइ सांस ।।
चाल सखी तिण मन्दिरइ सज्जण रहिमइ जेण ।
कोइक मीठउ बोलड़उ लागौ होसइ तेण ।।

इसी तरह कई मार्मिक प्रसंगों का सरस वर्णन है । लोक जीवन की भावनाएँ इस काव्य के माध्यम से प्रकट हुई हैं तथा स्थानीय तत्वों, लोक रंगों की प्रधानता है । इसके दोहे लोकगीत के काफी निकट हैं । डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार " इन दोहों को हेमचन्द के व्याकरण में प्राप्त दोहों और "बिहारी सतसई" के बीच की कड़ी समझना चाहिए ।"[1] इसके दोहों जो सरसता, निश्छलता, स्वाभाविकता व अनूठापन है वह अन्यत्र नहीं मिलेगी । साहित्यिक कलात्मकता तो उतनी नहीं है जितनी सादगी, इसी कारण यह लोक गीत की विशेषताओं को अपने में समाये हुए है । इसकी सरलता, स्वाभाविकता, मार्मिकता को बढ़ाती है । इसके दोहे राजस्थान के जन जन के हृदय में अंकित हैं व वहीं गाये जाते हैं । इसके सन्दर्भ में पं0 विश्वनाथ प्रसाद मिश्र लिखते हैं कि "आशा, जिज्ञासा, लालसा,

---

1· हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृ0 9

ईर्षत रोष, भव निवेदन मानस-संबंध-संपादन आदि अनेक मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति करने वाले "ढोला-मारू-रा दूहा" के ये वर्णन कवि संप्रदाय की आलंकारिक योजना से बहुत कुछ रहित होते हुए भी अत्यन्त सरस हैं। साथ ही सामान्य जनता का जीवन अपने प्रकृत रूप को बहुत कुछ बचाये हुए हैं।"[1]

जिनदत्त चौपाई - रल्ह कवि[1] {रचनाकाल सं0 1354}

श्रृंगारिक काव्यों की श्रृंखला में "जिनदत्त चौपाई" एक महत्वपूर्ण कड़ी है। इसकी रचना रल्हकवि ने भाद्रपद शुक्ल पक्ष पंचमी गुरुवार सं0 1354 को की थी :-

संवत तेरहसे चउव्वणे, भादव सुदि पंचम गुरु दिण्णे।
स्वाति नखत्त चन्द्र तुलहती, कवइ रल्ह पणवइ सुरसती ।।28 ।।

रल्ह जायसवाल गोत्रीय वैश्य थे। उनकी माता का नाम सिरिया तथा पिता का नाम आते था :-

जइसवाल कुलि उत्तम जाति, बाईसइ पाडल उतपाति।
पंचऊलोया आते कउ पूत, कवइ रल्हु जिणदत्तु चरितु ।।

जिनदत्त चौपाई एक चरित काव्य है, इसमें मगध देश के वसंतपुर नगर का सेठि पुत्र जिनदत्त की अद्भुत यात्राओं का वर्णन है, जिनदत्त का विवाह अंगदेश की

1. हिन्दी साहित्य का अतीत, पृ0 97

चंपानगरी को सेठ कन्या विमलावती से होता है, कुछ समय बाद जिनदत्त धनोपार्जन के लिए समुद्रयात्रा करता हुआ सिंहल द्वीप पहुँचता हैं वहाँ के राजा की पुत्री श्रीमती से विवाह करता है और जब घर लौटता है तो उसका एक सम्बन्धी उसे धोखे से समुद्र में गिरा देता है, तथा उसकी पत्नी श्रीमती से प्रेम का प्रस्ताव रखता है परन्तु वह दृढ़ रहती है जिनदत्त बच जाता है और मणिद्वीप पहुँचता है वहाँ से कपटवेश में चंपानगरी पहुँचता है अन्त में सब का मिलन होता है । जिनदत्त वृद्धावस्था में जैन-धर्म में दीक्षा ग्रहण कर लेता है ।

जिनदत्त चौपई में सिंहल दीपों की यात्रा सिंहल द्वीप की कुमारियों का वर्णन सरस ढंग से किया गया है जिनदत्त चौपई पर जैन-धर्म का प्रभाव भी परिलक्षित होता है । रचना के अन्त में मुनिद्वारा उपदेश, पूर्वभव वर्णन, विराग तथा दीक्षा का वर्णन है भाषा की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण कृति है, पूर्वी हिन्दी का स्वरूप इससे काफी स्पष्ट हो जाता है इसमें अपभ्रंश के अंश बहुत कम हैं । इसमें 554 पद्य हैं तथा "चौपाई" के अतिरिक्त वस्तु-दोहा नाराच आदि छन्दों का भी प्रयोग किया गया है ।

नेमिनाथ चउपइ - विनयचन्द्रसूरि {रचनाकाल 14वीं शताब्दी}

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में विप्रलम्भ श्रृंगार प्रधान एक महत्वपूर्ण

रचना श्री विजय चन्द्र सूरि कृत नेमिनाथ चतुष्पदिका {चउपइ} है । जो बारहमासा पद्धति पर लिखी गयी है । विजयचन्द्र सूरि गुजरात के रहने वाले जैन साधु थे इनके गुरु रत्नसिंह सूरि थे । यह रचना 14वीं शताब्दी की है और आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य में एक विशेष धारा विशेष की द्योतक है । श्री दलाल, श्री हरिवल्लभ भायाराणी और मुनि जिनविजय जी के द्वारा इसके तीन अलग-अलग सम्पादित रचनाओं का प्रकाशन हो चुका है । इसके अतिरिक्त "राहुल सांस्कृत्यायन ने अपनी कृति "हिन्दी काव्य धारा" में इसके कुछ अंश प्रकाशित कराये हैं ।

नेमिनाथ चउपई की कथा इस प्रकार है -- नेमिनाथ के पिता सौरीपुर के राजा समुद्र विजय और उनकी माता शिवा देवी हैं । इनका विवाह उग्रसेन की कन्या राजुल या राजमती से होने जा रहा है। सम्पूर्ण वातावरण उल्लासमय है बारात की साज-सज्जा खूब धूम-धाम से होती है । जब बारात वधू के घर के निकट आती है तब आतिथ्यसत्कार के लिए लाये गये पशुओं का चीत्कार सुनकर नेमिनाथ का हृदय द्रवित हो उठता है और उनको वैराग्य उत्पन्न हो जाता है । वह इसी समय विचारों को बदल देते हैं और विवाह तथा सभी कुछ छोड़कर गिरनार पर्वत पर जाकर

तपस्या में लीन हो जाते हैं । यहीं से राजुल का विरह-वर्णन प्रारम्भ होता है, और नव-यौवना, अनिन्द्य सुन्दरी दु:ख के अथाह सागर में डूब जाती है । उसकी इसी विरह-वेदना का कवि ने बारहमासा के आधार पर मार्मिक चित्रण किया है रचना के अन्त में राजुल भी अपनी 500 सखियों के साथ गिरनार पर्वत पर जाती है और जैन धर्म की दीक्षा लेती है । इस प्रकार विजयचन्द्र सूरि ने रति भाव का निर्वेद में परिवर्तन दिखाया है ।

अद्यावधि उपलब्ध काव्यों में बारहमासा के माध्यम से चित्रित विरह-वर्णन कथानक रूढ़ि सर्वप्रथम यहीं मिलती है । इसकी परम्परा परवर्ती काल में नरपति नाल्ह, की कृति "वीसलदेव रासो", "जायसी के पद्मावत" शाह बरकत उल्लाकृत "प्रेम प्रकाश" आदि ग्रंथों में मिलती है । "नेमिनाथ चउपई" मे राजुल अपनी विरह अवस्था अपनी प्रिय सखी से कहती है जिसका चित्रण संवाद शैली में हुआ है प्रत्युत्तर में सखी सिवाय सांत्वना के और उसे दे ही क्या सकती है । काव्य का प्रारम्भ श्रावण मास से होता है और अन्त अषाढ़ में । श्रावण मास में बादल घमासान बरसने लगते हैं । बिजली का चमकना और पावस की फुहार आदि वियोगिनी के लिए विशेष कष्टप्रद होते हैं । नेमि के बिना

अपने को निपट असहाय और निरावलंब महसूस करती है । ऐसे वातावरण का चित्रण कवि ने इस शब्दों मे किया है :-

श्रावणि सरवणि कहुय मेहु । गज्जइ विरहिणि झिज्जइ देहु ।
विज्जु झक्कइ रक्खसि जेव । नेमिहि विणु सहि सहि यइ केम ।।[1]

भाद्रवि भरिया सर पिक्खेवि । सकरुण रोअइ राजल देवि ।
हा एकलडी भइ निरधार । किम उवेबिसि करुणासार ।।[2]

राजुल अत्यधिकविरह सन्तप्त होने पर भी उसे अपने से ज्यादा ध्यान अपने प्रिय का है । वह कहती है "सखि इस वर्षा से पेड़-पौधे, पर्वत सभी कुछ भीग रहा है तो क्या श्यामल कांतिवाला नेमि नहीं भींगता होगा —

दहइ चंद चंदण हिम सोउ । विणु भत्तारह सउ विवरोउ ।

चैत मास मे कोयल की कूक वेदना को और तीव्र कर देती है —

चैत मासि वणसउ पंगुरउ । विणि विणि कोयल टहका करइ ।

---

[1]नेमिनाथ चउपई - छन्द संख्या - 8

[2]नेमिनाथ चउपई - छन्द संख्या - 26

राजुल को कहीं-कहीं प्रकृति उसकी सहानुभूति में रोती भी दिखाई देती है :-

फागुण वागुणि पन्न पंडति । राजल दुक्खि कि तरू रोयंति ।

इतना ही नहीं पति के वियोग से विरह से संतप्त राजुल को उसकी समझाते हुए कहती है कि हे सखी। नेमि की आशा छोड़ो । वह कायर था, तभी तो गृहस्थाश्रम को छोड़कर भाग गया, अन्यथा ऐसी रूपवती और नेहयुक्त नारी को कौन छोड़ सकता है ?

नेमितराी सखि मकि न आस, कायरू भग्गउ सोधर वासा ।

ईमइ इसी सनेहल नारि, जाई कोई छंडवि गिरनारि ।।

इसपर राजुल सखि से प्रश्न करती है नेमिनाथ कायर कैसे है? उसने युद्ध में अनेकों राजाओं को हराया है । वह जीवन के अन्तिम क्षण तक नेमिनाथ को नहीं भूल सकती

कायरू किमि सखि.। नेमि जिणुंद ।

जिंरिरी रीरा जितउ लक्खु नरिंद ।।

फूरिहि सासु जा अग्गलि नास ।

ताव न मिलिहउं नेमिहि आस ।।

राजुल की सखि उससे कहती है हे मुग्धे राजमती तू व्यर्थ में नेमि की याद में तड़प के अपने दिन गुजार रही है संसार में अनेकों पुरूष-रत्न हैं । किसी को भी पति क्यों नहीं चुन लेती । प्रत्युक्त में राजुल नेमि के प्रति अपनी निष्ठा

तथा प्रेम को व्यक्त करता है और सखि का सम्मति ठुकरा कर कहती है ।

भोली तउ सखि ब्ररी गमारि । वारि अछंतह नेमि हमारि ।

अन्न पुरिसु कुइ अप्पण नउइ । गइवरू लीहउ कूरासभि चउइ ।।

नेमिनाथ जैनियों के 22वें तीर्थंकर थे । चौपाई छन्द का प्रयोग पूरे काव्य में प्रयुक्त मिलता है । 15 मात्राओं का यह छन्द अपभ्रंश काव्य का अत्यधिक लोकप्रिय है । काव्य की भाषा प्राचीन राजस्थानी या पुरानी हिन्दी है, जिसमें उत्तरकालीन अपभ्रंश या अवहट्ट के कुछ अंश दृष्टव्य होते हैं ।

सिरिथूलिभद्र फागु[1]– जिनपद्म सूरि (रचनाकाल 14वीं शताब्दी)

सिरिथूलिभद्द फागु अत्यन्त सुन्दर तथा लोकप्रिय काव्य रहा है इसके कवि श्री जिनपद्म सूरि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के खरतरगच्छीय जैन साधु थे । इन्होंने संवत् 1389 –90 (ई० सं 1332) में आचार्य पद प्राप्त किया और संवत् 1400 (ई० सं० 13 42) में निर्वाण प्राप्त किया । अतः सिरिथूलिभद्द फागु की रचना 1390 और 1400 के बीच हुई । सिरिथूलि भद्द फागु एक श्रृंगारिक खण्ड काव्य है जिसमें कथा नायक के सम्पूर्ण जीवन का चित्रण नहीं है, वरन् उसके उत्तरार्ध जीवन की विशेष घटना को कवि ने वर्णन का विषय बनाया है कथा नायक का विस्तृत और पूर्ण विवरण सोमप्रभाचार्य के "कुमारपाल

1· सर्वप्रथम प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में प्रकाशित, बाद में डा० भोगीलाल सांडेसरा द्वारा "प्राचीन ग्रन्थमाला–3 (सं० 2011) पृ० 3–6 पर प्रकाशित

प्रतिबोध" में देखा जा सकता है पाटलिपुत्र का राजा नन्द था । उसके मन्त्री शकटार के ज्येष्ठ पुत्र सिरिस्थूलिभद्र थे, इनकी वृत्तियाँ अत्यन्त उच्छृंखलता पूर्ण एवम् विलासिक थी । प्रारम्भ से ही इनका सम्पर्क पाटलिपुत्र की एक वारांगना कोशा से हो गया । सिरिस्थूलिभद्र विलास में डूब गये । दिन-रात उसी के यहाँ पड़े रहते, भोग ही इनका जीवन कार्य था । इस प्रकार कोशा वेश्या के प्रेम में आसक्त होकर 12 वर्ष तक उसी के साथ भोग विलास में मग्न रहे । सिरिस्थूलिभद्र को जब यह ज्ञात हुआ कि तुच्छ राजपद के लिए उनके पिता का वध हो गया है और भाई श्रीयक इसके मूल में था तभी सिरिस्थूलिभद्र को वैराग्य हो जाता है सांसारिक माया मोह से विरक्त होकर वे चल पड़े, और आचार्य संभूति विजय को उन्होंने दीक्षा गुरु बनाया, उन्हीं के पास तप तथा अध्ययन प्रारम्भ किया तदुपरान्त सिरिस्थूलिभद्र कर्मठ, तपस्वी, योगी एवम् जितेन्द्रिय हो गये । प्रथम चर्तुमास का समय आया । सबने गुरु जी से अपने चर्तुमास बिताने के स्थान पूछे । स्थूलिभद्र ने गुरु जी से उसी कोशा का प्रसाद विहार के लिए मांगा । संभूतिविजय को उनकी जितेन्द्रियता पर अखण्ड विश्वास हो गया था, उन्होंने आज्ञा दे दी, यही चतुर्मास व्यतीत करने के लिए वे पुन: उसी कोशा वेश्या के यहाँ पहुँचे इसी उत्तर पक्ष को "स्थूलिभद्र फागु" में लिया

गया है । कोशा अपने मादक रूप सौन्दर्य एवम् विभिन्न प्रकार के हाव-भावों से स्थूलिभद्र को पुन: अपने वश में करने की चेष्टा करती है "परन्तु स्थूलिभद्र तो लोह घर के समान हो गये, उन पर किसी प्रकार का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता है । कोशा हार गई, मुनि की चारित्रिक दृढ़ता के सामने उसके सारे राग-रंग, हाव-भाव और अंगराग मलिन पड़ गए । स्थूलिभद्र को काम पर अभूतपूर्व विजय हुई । वे चार माह तक उस घोर वैलासिक वातावरण में रहकर भी उससे असंपृक्त बने रहे । अन्त में कोशा को प्रबोध देकर पुन: गुरु के पास चले आए ।" संक्षेप में काव्य की यही कथावस्तु है ।

सिरिथूलिभद्र फागु सत्ताईस छन्दों में वर्णित एक अत्यन्त ही सरस खण्ड काव्य है इसमें कवि ने कोशा का सौन्दर्य एवम् नखशिख-वर्णन, प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण तथा श्रृंगार का मोहक चित्रण किया है इसी कारण यह "फागु" श्रृंगार रस की अनुपम रचना सिद्ध हुई ।

कोशा को जब अपनी दासियों से बारह वर्ष बाद सिरिथूलि-भद्र आने की सूचना मिलती है तो उसके मन में अपनी हार की ज्वाला लहकने लगती है । फिर भी वह हाथ जोड़े हुए अत्यन्त ही उतावली की अवस्था

में दौड़ती हुई मुनि के पास आ खड़ी होती है । इस उतावली का चित्र कवि के शब्दों में —

"मंदिर – तोरणि आविय‍उ मुणिवरू पिक्खेवी
चमकिय चितिहि दासिहिउ वेगि जाइ वधावी ।
वेसा अतिहि उतावलीय हारिरहिं लहकंती
आविय मुणिवर – राय पासि करयक जोडंती ।।"[1]

इस फागु रचना में वसन्त का वर्णन न होकर वर्षा के उद्दीपन रूप का चित्रण है । इससे कोशा के हृदय में हलचल उत्पन्न हो जाती है । प्रकृति अपने दल-बल के सहित अनुरक्ति के साथ आ मिलती है फिर क्या । झिरिमिर-झिरिमिर मेघ बरस रहे हैं । खल-खल कर नाले बह रहे हैं । झब-झब बिजली चमक रही है । विरहिणी का मन थरहर थरहर कांप रहा है, मधुर गंम्भीर स्वर से बादल गरज रहे हैं, केतकी विकसित होकर अपने परिमल की महक से चारों ओर सुगन्धि बिखेर रही हो शीतल, कोमल सुगन्धि वायु डोल रही है आकाश पृथ्वी जल के माध्यम से एक हो जाते हैं । मेघों की गर्जन से मोर उलटियाँ भर कर नाच रहा है । कामदेव का कुसुम बाण तना हुआ है । प्रेमीजन अपनी-अपनी रमणियों के पैरों पड़ मनावन

---

[1] सिरिथूलिभद्दफागु नास ।, छन्द 4

कर रहे हों यह सभी प्रकृति के क्रिया-कलाप कोशा की विरह पीड़ा को उद्विग्न करते हैं। प्रस्तुत है कवि के शब्दों में —

> झिरिमिरि झिरिमिरि झिरिमिरि ए मेहा बरिसंते
> खलहल खलहल खलहल ए वाहला बहेते ।।
> झबझब झबझब झबझब ए बीजुलिय झब्बाक
> थरहर थरहर थरहर ए विरहिणि-मणु कंपइ ।।
> महुर-गंभीर-सरेण मेह जिमजिम गाजंत
> पंचवाण निज कुसुम-वाण तिम-तिम साधंत ।।
> जिम जिम केतक महमहंत परिमल विहसावइ
> तिन तिन कामिय चरण लग्गि निय रमणि मनावइ
> सोयल-कोमल-सुरहि वाय जिम जिम वायंते
> माणमडफर माणीणय तिय तिय नाचंते
> जिम जिम जल-भर-भरिय मेह गयणं गणिमिलिया
> तिम तिम पंथिय तण-तयणा नीरिहिं झल हलिया
> मेहाखभर उलटिया जिम जिम नाचइ मोर
> तिम तिम माणिणि खलमलइ साहीता जिम चोर ।।

इस फागु में कवि ने कोशा के अंग-सुषमा तथा साज-श्रृंगार का बड़ा ही आकर्षक सरस और मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। कवि के शब्दों में —

> "मयण-खग्गु जिम लहलहर जसु वेणी - दंडो
> सरलउ तरलउ सामलउ §1§ रोमावलि दंडो ।।
> तुंग पयोधर §जिम§ सिंगार थक्का
> कुसुम-वाणि निय अमिय-कुंभ किर थापणि मुक्का ।।

इस मनमोहक रूप के साथ वह मुनि के पास जाती है पर मुनि एक ही उत्तर देता है —

"चिंतामणि परिहरवि कवणु पत्थरु गिहणेइ"

इस प्रकार मुनि की विजय होती है और श्रृंगार रस के इस काव्य का शान्त रस में पर्यवसान होता है । काव्य को जैन-धर्म की मान्यताओं के अनुसार मोड़ दिया गया है । किन्तु यह मूलत: श्रृंगार-रस की रचना है । इसमें पुरानी हिन्दी के तद्भव प्रयोगों के अतिरिक्त अनेक तत्सम शब्दों के प्रयोग नवीन प्रवृत्ति की सूचना देते हैं — गम्भीर, कुसुम बाण, पंचबाण, चित्र आदि ऐसे ही शब्द हैं । सम्पूर्ण काव्य में दोहा और रोला छन्द का प्रयोग हुआ है । अलंकारों में अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है । इसीलिए काव्य में सौष्ठव की उत्कर्ष रूप में दिखलाई पड़ता है । "कवि ने नये उपमानों, बिम्बो एवम् प्रतीकों के द्वारा मौलिकता का परिचय दिया है । वेणी को कामदेव का खड्ग, उत्तुंग पयोधरों का श्रृंगार रूपी पुष्प के स्तवक बताना नये प्रयोग है ।"[1]

<u>बसन्त विलास फागु</u> ‖ 14 वीं शताब्दी ‖ ‖जिनेतर‖

आदिकालीन श्रृंगारिक तथा रोमांचक काव्य के अन्तर्गत

---

[1] हिन्दी साहित्य का उद्भवकाल – वासुदेव सिंह, पृ0 219

"बसन्त विलास फागु" फागु काव्यों में विशेष स्थान रखती है । फागु शैली में यह प्रथम जैनेतर रचना है । इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें किसी प्रकार कोई धार्मिक-आग्रह नहीं मिलता । इसी से काव्य में उल्लास-विलास, संयोग-वियोग का चित्रण सहज स्वाभाविक अवस्था में चित्रित हुए हैं ।

"वसन्त विलास फागु" के रचनाकार तथा रचनाकाल के सम्बन्ध में काफी विवाद है । साराभाई नवाब ने इसके लेखक का नाम रत्नाकर, के० एम० मुंशी ने "नतर्षि", कान्ति लाल बलदेव व्यास ने "गुणवन्त" और मुनि जिन विजय ने "मुंज" बताया है किन्तु किसी भी नाम का प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है । गोविन्द रजनीश ने इन सभी को विवादास्पद मानते हुए यह निष्कर्ष निकाले कि ¶1¶ कृतिका रचनाकार जैन होकर अजैन है ¶2¶ वह संस्कृत का प्रकाण्ड विद्वान और सुभाषितों का प्रेमी रहा है ¶3¶ वह प्रकृति से भाव-प्रवण और जीवन के प्रति उल्लास से परिपूर्ण रहा है तथा कवि और कृति पर्याप्त लोकप्रिय रहे हैं ।[1] रचनाकाल के सम्बन्ध में गुजराती विद्वान सं० 1425 मानने के पक्ष में है ।[2] रास और

---

[1]नागरी प्रचारिणी पत्रिका ¶श्रद्धांजलि अंक¶ सं० 2024, पृ० 459

[2]राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० 22

रासान्वती काव्य के सम्पादकों का भी यही विचार प्रतीत होता है।
"बसन्त विलास" के सम्पादक माता प्रसाद गुप्त का इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में मत है कि "कवि किसी पूर्ववर्ती ऐतिहासिक युग का इसमें वर्णन नहीं करता है, वह अपने ही समय के बसन्त के उल्लास-विलास का वर्णन करता है, इसीलिए मेरा अनुमान है कि "बसन्त विलास" की रचना का काल सं0 1356 के पूर्व का तो होना ही चाहिए और यदि वह सं0 1250 से भी पूर्व की रचना प्रमाणित हो तो मुझे आश्चर्य न होगा। सम्भव है उसकी भाषा प्रतिलिपि परम्परा में घिसकर धीरे-धीरे अधिकाधिक होती जाती है इसीलिए भाषा का साक्ष्य प्राप्त परिणाम को स्वीकार करने में बाधक नहीं होना चाहिए।"[1] इस प्रकार गुप्त जी बसन्त विलास का रचनाकाल 13 वीं शताब्दी मानते हैं, अन्य विद्वानों ने भाषा की अर्वाचीनता के आधार पर इस कृति का रचनाकाल 14वीं शताब्दी माना है। अतः "बसन्त विलास" 14 वीं शताब्दी के आस-पास की रचना है।

"बसन्त विलास फागु" 84 छन्दों में वर्णित है। काव्य का प्रारम्भ मंगलाचरण सरस्वती वन्दना से होता है फिर चार छन्दों में बसन्त का मादक चित्र प्रस्तुत किया गया है। बसन्त के वर्णन में एक सखी कहती

---

[1]भारतीय साहित्य [अप्रैल, 1964] बसन्त विलास, पृ0 74

है "हे । बहन, हेमन्त चला गया, अब तो मुनियों के मन को भेदनेवाला, मानिनियों के मान को छिन्न करने वाला, कामियों के मन को प्रफुल्लित करने वाला और पथिकों के प्राण को कँपाने वाला बसन्त इस पृथ्वी पर अवतरित हो गया है । आम्र-मंजरियों पर भौंरों की गुंजार मुखरित हो गयी, कोयल अपने प्रिय रव से बसन्त के गुण का जय जयकार करने लगी :-

बहिन हे गयइ हिमरीतिय संति लयउ अवतारू ।
अलि मकरंदिहिं मुहरिया कुहरिया सवि सहकार ।। 3 ।।
मुनि जननां मन भेदयए छेदए मानिनी मानु
कामीय मनह अफंदए कंदए पथिक पराण ।। 7 ।।
वसंतणा गुण गहगह्मा महमह्मा सवि घनसार
त्रिभुवनि जयजयकार पिका रव करई अपार ।। 4 ।।

ऐसे समय में जब कामदेव का प्रचुर मात्रा में शासन हो विहरणी के मन:स्थल को क्या स्थिति होती है उसका चित्रण —

"इण परि कोइलि कूजई पूजई [पूजई] जुवति मनोर ।
विधुर वियोगिनी धूजई कूजई मयण किशोर ।। 26 ।।

कामदेव का बड़ा ही प्रभावोत्पादक चित्रण राजा के रूप में चित्रित किया गया है —

कुसुम तणु करि धणुह गुणह रे भलल्ला भाव ।।
लघु लाधमी नवि चूकइ मूंकइ शर सुकुमाल ।। 20 ।।
मयघु जि वयण निरोपर लोपर कोई न आण ।
मानिनि जनमन हाकर ताकर किशल कृपाल ।। 2 ।।

इसी प्रकार नख-शिख का यह वर्णन भी काफी सुन्दर है —

तिल कुसुमोपम नाकु रे लांकु रे लीघइ मूठि ।
किशलय कोमल पाणि रे जाणि रे चोल मजीठ ।। 63 ।।
बाहुलता अति कोमल कमल मृणाल समान ।
जीपई उदीर पंचानन आनन नहीं उपभानु ।। 64 ।।

एक और उदाहरण जब वियोगिनी प्रिय की प्रतीक्षा करते हुए सगुन मानती है, उसके शुभ अंग फड़कने लगते हैं —

सखि मुझ फरकइ जांघड़ी तां घडी पिहुं लगइ आण ।
इष सवे हिव वामिसु पामिसु प्रिय तणउं राजु ।। 7 ।।

इस प्रकार प्रस्तुत फागु-काव्य में प्रेमियों की प्रेम-क्रीडा, कामदेव का एकछत्र शासन जिसमें उसके सहायक-बकुल, चम्पा, आम्रमंजरी किंशुक, केतकी आदि शस्त्रों का चित्रण, विरहणी को विरह वेदना का उद्दीपक वातावरण में

श्रृंगार के दोनों पक्षों संयोग-वियोग तथा नख-शिख का वर्णन किया गया है । नायिका अनेक शगुन मनाती है कौवे को चौंच सोने से मढ़ाने का लोभ देती है आदि सभी चित्रण सरस एवम् निश्छल हैं । साहित्यिक सरसता की दृष्टि से यह फागु उत्कृष्ट कोटि का है । डा० दशरथ शर्मा एवम् ओझा का कथन है — "इस काव्य की एक-एक पंक्ति रस से सराबोर है काव्य मानों छलकता हुआ फूट पड़ने को उमड़ता दिखाई पड़ता है, इसका एक-एक श्लोक मुक्तक को भाँति स्वयंपूर्ण है, अंतर्यमक को शोभा अद्वितीय है ।" प्रस्तुत काव्य को भाषा गुजराती और राजस्थानी के प्रभाव से विशेष रूप से प्रमाणित है । इसमें प्रमुख छन्द दोहा है । तथा कहीं-कहीं पर संस्कृत, प्राकृत छन्दों का छुट-पुट प्रयोग भी मिल जाता है । इस फागु में "रे", "हे" शब्द इसकी गेयता के सूचक हैं । कवि ने इसे गाने के लिए रचा है ।

विरह देसाउरी फागु —

"विरह देसाउरी फागु" "वसन्त विलास फागु" की श्रृंखला में प्राप्त एक नवोपलब्ध रचना है, जिसकी खंडित प्रति प्राप्त हुई है । इस कृति का रचनाकार कौन है ? व इसका समय क्या है ? इसके सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं है । "काव्य बंध एवम् भाषा की दृष्टि से यह रचना भी

चौदहवीं शताब्दी की प्रतीत होती है ।" यह एक श्रृंगारिक काव्य है । कथा नाम मात्र के लिए है । बसन्त सुहाने-मादक मौसम में नायक विदेश जाने के लिए तैयार है । नायिका नायक के बिछोह को सोच कर विरह से संतप्त हो उठती है और उससे रुकने का आग्रह करती हुई कहती है :-

"इण रितु कोई न नीसरइं, मूरख तुं भरतार ।
राउ पुहतु रिति तणइ, यौवन पहिल उंभार ।
वाउलउ अति मनोहर वायड,
चंद लउ रयणि उजीर धायु ।
कंत कायर मत जाइसि धर छांडी,
तदू जीवतइं हणतइ रांडी ॥
{विरह देसाउरी फागु पृ० 5}

अर्थात "हे मूर्ख भरतार । क्या कोई इस ऋतु में विदेश जाता है । ऋतुराज बसंत का आगमन हो गया है । यौवन का उभार है, मनोहर वायु और शीतल चाँदनी का मादक तथा उद्दीपक वातावरण है । ऐसे में विदेश गमन मत करो, नहीं तो मैं तुम्हारे रहते हुए भी विधवा के सदृश हो जाऊँगी ।

लेकिन नायक को रोक पाने में नायिका असमर्थ रहती है । और वह विदेश चला जाता है । उसके जाने से नायिका उसके विरह में डूब

जाती है । फाग गाने पर उसकी विरह वेदना और तीव्र हो उठती है ।

"विरह संतावए पोपोउ, दाझए माझि शरीर ।
तन मन यौवन विलसए, नयन न सूकइ तीर ।।

(विरह देसाउरी फागु पृ० 22)

कवि ने विरह संतप्त नायिका की दशा का अत्यन्त मार्मिक एवं मनोविज्ञानिक वर्णन किया है । नायिका स्वप्न में प्रिय के दर्शन करती है, सुखद संयोग का दृश्य देखती, वह उसके प्रेम में उन्मत हो उठती है, लेकिन यह क्या । वह स्वप्न से वास्तविकता में आती है जहाँ न प्रिय है न वह दृश्य इस स्वप्न को वह अपनी सखी लो बताती है ।

"सुराउ रे सही अ समाराती अ,सामिराउ निसिभरि दीठ ।
हसीय हसी प्रीय रोइ ग्रुं, प्रीय सेजड़ी अ वइठ ।।
जाराइ जइ मुझ प्रीय आविड, नई गलि घालीय बांह ।
उठीय प्रीय प्रीय करती, न प्रीय न गलि बांह ।।"

(विरह देसाउरी फागु पृ० 37-38)

विरह के लम्बे अन्तराल के उपरान्त प्रिय का आगमन होता है । काव्य का अन्त मिलन में होता है । नायिका समस्त दुःखों को भूल कर श्रृंगार करती है। काव्य सौष्ठव की दृष्टि से यह एक सुन्दर कृति है लेकिन "बसन्त विलास फागु"

की तुलना में हम इसे कुछ हल्का पाते हैं ।

इस रचना के सन्दर्भ में केवल यह कह सकते हैं कि इसकी रचना पाटरग नगर में हुई थी ।

"अराहिल वाडी पुरि पारणि, वसई ति वे धीया लोक ।"

<u>नेमिनाथ फागु</u> – राज शेखर सूरि [सं0 1405]

नेमिनाथ फागु सत्ताइस पद्यों की लघु रचना है । इसके रचनाकार राजशेखर सूरि गुजरात के जैन साधु थे,[1] साथ उच्चकोटि के कवि भी । इन्होंने दो फागु काव्यों की रचना की, इसके नायक "नेमिनाथ" ही हैं । डा0 भोगीलाल सांडेसरा के अनुसार प्रथम का रचनाकाल संवत् 1405 [सन् 1348] तथा दूसरे का संवत् 1460 [सन् 1403 ई0] है । राजशेखर कृत इस "नेमिनाथ फागु" की रचना तिथि का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है । पं0 राहुल सांकृत्यायन इसे 1314 ई0 [सं0 1371] में रचित मानते हैं ।[2] जबकि डा0 साडेसरा इसे संवत् [सन् 1348 ई0] के आस-पास की रचना ठहराते हैं ।[3] श्री के0का0 शास्त्री इसे संवत् 1394 [1337 ई0] से सं0 1405 [सन् 1248 ई0] के बीच

---

[1]पं0 राहुल सांस्कृत्यायन : हिन्दी काव्य धारा, पृ0 478-49

[2]पं0 राहुल सांस्कृत्यायन : हिन्दी काव्य धारा, पृ0 478-79

[3]डा0 भोगीलाल सांडेसरा: प्राचीन फागु-काव्य-संग्रह, पृ0 8-11

रचित अनुमानित करते हैं ।[1]

"नेमिनाथ फागु" जैन धर्म के 22 वें तीर्थंकर और कृष्ण के चचेरे, भ्राता नेमिनाथ का उदात्त चरित्र जैनाचार्यों तथा कवियों को हमेशा से प्रभावित करता रहा है इनको नायक मानकर अनेक रास, फागु एवम् चौपाई काव्य-ग्रन्थ लिखे गये हैं ।

नेमिनाथ फागु की कथावस्तु इस प्रकार है — इसमें द्वारिका के यादव कुल में उत्पन्न श्री समुद्रविजय और शिवा देवी के पुत्र श्री नेमिनाथ और राजा उग्रसेन की पुत्री राजल देवी {राजुल} विवाह सूत्र में बँधने से पूर्व ही अतिथ्य सत्कार के लिए लाये गये पशुओं की चीत्कार सुनकर वह द्रवित हो उठता है । मन में ग्लानि तथा वैराग्य उत्पन्न हो जाता है । और वे जैन धर्म में संन्यरत्त हो जाते हैं नेमिनाथ की चारित्रिक विशेषता और संयम की व्यंजना ही काव्य का मुख्य ध्येय है । यह काव्य सात भासों या खण्डों में विभक्त है प्रत्येक खण्ड की प्रथम कड़ी में दूहे और दूसरी में रोला छन्द का प्रयोग किया गया है इसकी भाषा अवहट्ठ {पुरानी हिन्दी} लगती है, जिस पर गुजराती का भी प्रभाव है ।

---

[1]श्री के0 का0 शास्त्री : आपणो कवियों, पृ0 245

"नेमिनाथ फागु" में राजमती [राजुल] जब यह समाचार सुनती है कि उसका विवाह नेमिनाथ के साथ होने जा रहा है वह बहुत प्रफुल्लित हो जाती है :-

> "भमर भोली नेमि जिण वी वाह सुणेइ
> नेहगहिल्ली गोरडी हियडइ विहसेई ।।
>
> [नेमिनाथ फागु छन्द सं0 12]

वर-यात्रा का वर्णन इस छन्द में प्रस्तुत है —

> मोहणवेल्लि नवल्लिय, सोहइ सा जगि बाल,
> रुपि कलागुण पूरिय, दूरिय दूषण जाल ।
> विहु दिसि मंडल बाँधिय, साँधिय धवधवडमाल,
> दाखतो धण उच्छव सुंदर वहुरवाल ।
> मस्तकि मुकुट रोपिउ, ओपिउ निरुपम रुपु
> श्रवणिहि ससिरविमंडल कुण्डल, कंठिहि हारु
> भुजयुगि रंगद अंगद, अंगुलि मुद्रियभारु ।

इस फागु में राजमती [राजुल] के सौन्दर्य वर्णन तथा विरह-वर्णन दोनों ही उच्च कोटि के हैं । इसमें कवि ने राजमती के सौन्दर्य को बहुत ही अनुपम बताया है और कहता है उस अद्वितीय सुन्दरी के श्रृंगार का वर्णन कैसे करूँ ? वह पीतवर्ण वालों के चन्दन का लेप है, देह पर सुन्दर साड़ी पहने है,

माथे पर कुमकुम, तिलक और सिर पे सिन्दूर की रेखा कानों में कुण्डल, आँखों में काजल, मुँह में पान, गले में हार, सीने पर जरीदार कंचुक और हाथों में मणियों की चूड़ियाँ उसके सौन्दर्य द्विगणित कर रही हैं। करधनी तथा नूपुर की झंकार सुनाई देती है :-

किम किम राजलदेवि तणउ सिणगारु भणेवउ,
चंपइ गोरी अध घोइ अंगि चंदन लेवउ ।
खुंपु भरविउ जाइकुसुम कस्तूरी सारी,
सीमान्त सिन्दूर रेह मोती सरि सारी ।
नवरंगी कुंकुमितिलय किय रयणतिलउ तसु भाले,
मोती कुण्डल कन्नि थिय विबेलिय करजाले ।
अह नरतिय कज्जल रेह मुहकमलि तम्बोलो,
नागोदर कंठलउ कण्ठि अनुहार विरोलो ।
मरगद जादर कंचुयउ फुड फुल्लह माला ।
करि कंकण मणि वलय-चूड खलकावइ बाला ।
रुणुझुणु ए रुणझुण ए रुणझुण ए कडि घाघरियाति ।
रिमझिम रिमझिम रिमझिम ए पय नेउइ जुमालि ।।

{नेमिनाथ फागु पृ0 19-2}

"इस उद्धरण से स्पष्ट है कि मात्र धार्मिकता का आरोप होने से कोई कृति अविवेच्य नहीं हो जाती है।"[1] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उच्छ्वसित

---

[1] डा0 वासुदेव सिंह - हिन्दी साहित्य का उद्भवकाल, पृ0 224

भाव से नेमिनाथ फागु की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "जिस प्रकार राधा "सुधानिधि" में राधा की शोभा के वर्णन में कवित्व है और वह कवित्व उपास्य बुद्धि से चालित है, उसी प्रकार राजलदेवी की शोभा में भी कवित्व है और वह उपास्य बुद्धि से चालित भी है कौन कह सकता है कि इस शोभा वर्णन में केवल धार्मिक भावना होने के कारण कवित्व नहीं है ।"[1]

इसी प्रकार राजल के नखशिख का वर्णन कवि इन शब्दों में करता है :-

"किरी ससविंव कपोल कन्नहिंडोल फुरंता
नासा वंसा गरुड चंचु दाडिमफल दंत्ता ।
अहर पवाल तिरेह कंठ राजलसर रूडउ
जाणु ि वीणु रणरणइ जाणु कोइलटहकडलउ ।।"[3]

राजुल के विवाह अवसर पर वसन्त का वर्णन अत्यन्त प्रभावोत्पादक एवम् रमणीय बन पड़ा है --

अरे केइलि साद्दु सोहावणउ, मोरि मधुर वासन्ति,
अरे भमरा रणझण रूणु करइ, किरि किन्नरि गायन्ति ।
अरे हरि हरिखिउ मनि आपणइ वासुलडी वाजन्ति,
अरे सिंगा सबदहि गोपिय सोल सहस नाचन्ति ।।

---

[1]हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ0 13

[2]नेमिनाथ फागु, छन्द संख्या, 9

इस प्रकार श्रृंगार युक्त होकर राजमती रागमयी आँखों से अपने मन-रस प्रिय को रह निरख रही है जब उसे यह मालूम होता है कि प्रिय नेमिनाथ ने इस असार संसार से वैराग्य धारण कर लिया है, तो विलाप का करुणा से भरा दृश्य अत्यधिक मार्मिक एवम् हृदय-द्रावक हो जाता है। "हे नाथ, तुम त्रिभुवन की आशा पूरी करने वाले हो, मुझे इस प्रकार हताश मत करो। मैं तुम्हारी दासी हूँ, हे नाथ, मेरे ऊपर दया करो। यदि अपना स्वामी ही पालन-पोषण नहीं करेगा तो किससे क्या कहा जाय।"[1] परन्तु नेमिनाथ अपने निर्णय पर दृढ़ है। इस प्रकार श्रृंगार रस की एक श्रेष्ठ कृति का पर्यवसान शान्त रस में होता है।

अतः नेमिनाथ फागु में श्रृंगार-शोभा, नखशिख वर्णन, विरह निवेदन के दृश्य सरस तथा मार्मिक है। यह कृति रचना विधान की दृष्टि से "स्थूलिभद्र फागु" से अनोखा साम्य रखती है दोनों की भाषा और उसकी ध्वन्यात्मकता तथा शब्द-विन्यास में समानता है। स्थूलिभद्र फागु का रचना-काल सं० 1400 है और राजशेखर सूरि ने सं० 1405 के लगभग प्रबन्ध कोश की

---

[1] नेमिनाथ फागु, छन्द संख्या 26

रचना की थी । अतः "नेमिनाथ फागु" इसके समीप की ही रचना होगी ।

बीसल देव रासो — नरपति नाल्ह (14 वीं शती उत्तरार्ध)

बीसल देव रासो हिन्दी का महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता रहा है इसके अन्तर्गत एक साफ-सुथरे प्रेम की कथा निहित है । इसकी सर्वप्रथम खोज नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा 1900 में की गई । इसके पश्चात् श्री सत्य जीवन वर्मा को अपने पिता जी से इसकी एक प्रति मिली । उसके आधार पर उन्होंने ग्रन्थ का सम्पादन सम्वत 1982 में किया । इसका एक संस्करण डा० माता प्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित होकर प्रकाश में आया ।[1] बीसलदेव रासो की 17 हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हो चुकी है इसके कर्ता नरपति नाल्ह का विवरण कुछ अधिक नहीं मिलता है ।" मालूम होता है नाल्ह कोई बहुत पढ़ा-लिखा हुआ कवि नहीं, बल्कि एक साधारण योग्यता का रमता-फिरता भाट था जो अपनी तुकबंदियों द्वारा जन-साधारण को प्रभावित कर अपनी उदर-पूर्ति करता था जन्मसिद्ध काव्य प्रतिभा उसमें न थी ।"[2] परन्तु कुछ लोग इन्हें राजा बताते हैं । शुक्ल जी के अनुसार —

---

[1]बीसलदेव रासो - प्र० हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय, सन् 1953

[2]बीसलदेव रासो - डा० माता प्रसाद गुप्त तथा अगर चन्द नाहटा सम्पादकीय टिप्पणी, पृ० 3

"कदाचित यह राजकवि था ।"[1] कवि ने अपने को "व्यास", "रासायण" आदि कहा है, जैसे —

> व्यास वचन इम उच्चरई, दिन दिन प्रीतिपे पोसलराई ॥1/69॥
>
> x x x x
>
> नरपति व्यास कहइ करि जोडि ॥1/84॥
>
> x x x x
>
> नाल्ह रसायण रस भरि गाई । ॥1/2॥
>
> x x x x

इससे पता चलता है कि वह व्यास उपजाति का ब्रह्मण था । व्यास नामक ब्रह्मण अब भी राजस्थान में पाये जाते हैं । फिर भी नाल्ह का नाम हिन्दी साहित्य में इस ग्रंथ के लिए अमर रहेगा क्योंकि हिन्दी भाषा के आदि स्वरूप और उसकी अविकसित अवस्था का बहुत कुछ आभास हमें इसमें मिलता है ।

बीसलदेव के रचनाकाल के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है । काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित बीसलदेव रासो में रचनाकाल इस प्रकार दिया है :-

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ0 32

बारह से बहोतराहाँ मझारि । जेठ बदी नवमी बुधवार ।। नाल्ह रसायण आरम्भ

इसी को आधार मानकर सत्यजीवन ने ग्रन्थ का रचनाकाल संवत् 1212 और कवि को बीसल देव का समकालीन माना है[1] डॉ० माता प्रसाद गुप्त 14वीं शताब्दी का, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा संवत 1272 की रचना मानते हैं[2] मेनारिया जी को जो हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं उसमे सबसे प्राचीन प्रति संवत् 1669 की है । इसके अतिरिक्त अन्य प्रतियों में ग्रन्थ के भिन्न-भिन्न रचनाकाल दिये गये हैं । बीसलदेवरासो में वर्णित ऐतिहासिक घटनाएँ इतिहास सम्मत नहीं हैं इन सब के आधार पर मेनारिया जी ने इस ग्रन्थ का रचनाकाल 16वीं शताब्दी माना है उनके अनुसार "सोलहवीं शताब्दी में नरपति नाल्ह नामक एक कवि गुजरात में हुआ, जिसके चार ग्रन्थों का पता चलता है नन्द बत्तीसी (सं० 1545), विक्रम पंचदण्ड (सं० 1560), स्नेह परिक्रम और निःस्नेह परिक्रम अनुमान होता है कि इन ग्रन्थों का कर्ता नरपति और बीसलदेव का रचयिता दोनों एक हैं । इस अनुमान से बीसलदेव रासो का रचनाकाल भी सं० 1545-60 के आस-पास निकल आता है "अतः इस ग्रन्थ में मूल प्रक्षिप्त अंश भी पर्याप्त मात्र में जोड़ दिये गये हैं इसलिए स्पष्ट मूलरूप के अभाव में रचनाकाल का सही निर्णय कर पाना कठिन है । डॉ० माता प्रसाद गुप्त पाठानुसन्धान के विशेषज्ञ हैं । जब तक नये तथ्य प्रकाश में नहीं आ जाते, तब तक उनके द्वारा निश्चित

---

1. बीसलदेव रासो (ना०प्र०स०), पृ०- 6
2. नागरी प्रचारिणी पत्रिका (वर्ष 45, अंक2), पृ० 163 -171

रचनाकाल 14वीं शती का उत्तरार्ध ही मानना किसी सीमा तक सही लगता है ।

वीसलदेव रासो में चार खण्ड (सर्ग) हैं और सम्पूर्ण काव्य में 2000 चरण तथा 316 छन्दों में लिखा गया है इसके प्रथम सर्ग में राजमती और शाकम्भरी नरेश मालवा के भोज परमार की पुत्री का वीसल देव के साथ विवाह वर्णित है दूसरे सर्ग में राजमती और वीसलदेव में लौकिक विषयों पर वाद-विवाद, उड़ीसा पर चढ़ाई और उड़ीसा के राजा देवराज द्वारा उसके स्वागत का वर्णन है । तीसरे सर्ग में राजमती के वियोग-वर्णन तथा ग्यारहवें वर्ष पत्र पाकर वीसलदेव अजमेर लौटने का वर्णन है चौथे सर्ग में वीसलदेव के स्वदेश लौटने, अपने भतीजे का युवराज पद पर आसीन करने भोज को आमन्त्रित कर उससे मिलने, भोज का अपनी पुत्री को घर ले जाने और वीसलदेव से राजमती के पुनर्मिलन आदि का वर्णन हुआ है ।

वीसलदेव एक प्रेम काव्य है जिसकी रचना सम्भवतः लोक में गाने के लिए हुई थी नाल्ह ने इसके गये जाते तथा सुनने से अच्छे फल प्राप्ति की चर्चा की है काव्य का प्रारम्भ सरस्वती और गणेश की वन्दना से होता है । इस रचना का विषय वीसल देव की प्रवास की कथा है । जब वीसल

देव का विवाह भोज परमार की कन्या राजमती से होता है, तो उसे विवाह में दहेज स्वरूप अतुलित धन सम्पदा प्राप्त होती फलतः उसे घमण्ड हो जाता है वह गर्व पूर्वक राजमती से कहता है कि मेरे समान दूसरा भूपाल नहीं है, मेरे राज्य में नमक निकलता है जैसलमेर का थाना है, अरवो पर कवचे हैं मैं अजमेर गढ़ में राज्य करता हूँ ।

"गरब कि बोलियउ सईभरी बाल ।
मो सारिखउ नह' अवर भूवाल ।
म्हा घरि सईभरि उग्गहइ ।
चिंहु दिसइ थांणा रे जैसलमेर ।
लाख तुरीया पाखर पडइ ।
गोरी राजकउ बइसणउ गढ़ अजमेरि ।

राजमती उससे कहती है उसे गर्व नहीं करना चाहिए उसके समान अनेक नरेश हैं एक तो उड़ीसा का स्वामी है जिसके राज्य में वैसे हीरे की खाने हैं जैसे तुम्हारे राज्य में नमक की । वीसल देव को यह बात बुरी लग जाती है वह जाने की ठान लेता है राजमती बहुत रोकती है तरह-तरह से मनाती है साथ चलने को कहती है वह नहीं मानता । वह कहती मुझे या मार डाल या साथ ले चल -

"पालियउ उलगाणउ धण जाण न देइ ।

भो नइ पारि कइ सखिसोय लेइ ।

अंचल ग्रहि धण इम कहइ ।

दूइ दुख सालइ हो सामीय साँइ ।

जीवन मुरडोय मारिस्यइ

दोस किसउ जइ साधण बाँइ । 42

राजमती को सहेलियाँ उसे उलाहना देती हुई कहती है कि यदि स्त्री में

गुण हों तो स्वामी बाहर नौकरी को क्या जाएँ ? राजमती उस सीमा तक जाती

है जहाँ सामान्य स्त्री नहीं जा सकती फिर भी वीसल देव अपने निर्णय पर

अडिग रहता है तो राजमती उसे मूर्ख और मोहित पाल कहती है ।

सात सहेलीय सुणउ म्हाराय बात ।

कंपूउ धोलि दिखाडिया गात्र ।

जा दोठा मुनिवर चलइ ।

म्हाकउ मूरख राव न जाणइ सार ।

श्रीयाँ चरित मइ लख्यि लिया ।

राउ नहीं सखी भइंस पोगर । 53

स्त्री जन्म पर फींखती है तो कभी रानी होने पर —

अस्त्रीय जनम कांइ दीधउ महेस

अवर जनम धारइ घणा रे नरेश ।

✗ x x x

आजणी काई न सिर जोय करतार ।

खेत कमावली स्यउं भरतार । 82

इसी के अनन्तर कवि को बारहमासे का वर्णन करने का विस्तार मिल जाता है जो कार्तिक मास से आरम्भ होता है जिस मास में बीसल देव गया है । चैत्रमास के वर्णन देखिए जब सभी स्त्रियाँ रंगीन वस्त्र धारण करें सखियाँ होली खेलने के लिए बुला रहीं —

चैत्र मासइ चतुरंगी हे नारि ।

प्रीय विण जीविजइ किसइ अधारि ।

कंचूयउ भीजइ जण हसइ ।

सात सहेलीय बइठी छइ आई ।

देत कवाड्या नइ नह रंग्या ।

चालउ सखी आपे खेलण जाइ ।

आज दीसइ सु काल्हे नहीं ।

उतभाण्र को गोरडो ।

म्हांको आंगुली काढता निगली तइ बोह । 72

पंडित द्वारा संदेशा कहलवाती है । अपनी विरहावस्था का वर्णन करती है :-

---

पंडिया कोहज्यो म्हारइ प्रोय नरइजाइ ।।

हावां हाथ पड मूंदडउ ।

ढीलक कार आवइ हो जोमणो बोह ।। 85

बारह वर्ष के विरह का अंत होता है । बीसल देव वापस आता है दोनों का मिलन होता है ।

बारां बरता धण मिलियो नाह ।

हियडलइ हाथ गला माहे बांह ।

अबली सबली चूंबणो ।

अतिरंग थी राजा लोधउ रोप ।

सही सहेली माहि लाजसुं ।

म्हाकउ भइञ कंचूमउ भीलउ छक पोक ।। 123 ।।

इस मिलन के अवसर पर भी राजमती पति को उलाहना देती है

"नाह भरोसउ कांइ करउ ।

नइ तउ बारह बरिस किउं मेल्लोप नाह ।। 124 ।।

इस पूरी रचना में प्रारम्भ से अंत तक एक ही छन्द में है । अलग-अलग प्रतियों में मिला कर कुल 500 छन्द मिलते हैं लेकिन 128 छन्द ही प्रमाणिक माने जाते हैं ।

बीसलदेव रास अपने नाम से ऐसी प्रतीत होती है कि यह कोई चरित काव्य होगा जो राज्याश्रय में लिखा गया होगा, लेकिन इसके विपरीत "बीसल देव रास" शुद्ध लोक रंजक काव्य है, जो गेय रूप में है । रचना के आदि में ही राग का निर्देश दिया गया है । प्रत्येक छन्द मुक्त गीत है जो केदार राग में गाने के लिए लिखा गया है । इस रचना में जितनी सरसता वास्तविकता व्यंजित होती है वैसे अन्य किसी रचना में अनुपलब्ध है । इसके साथ-साथ जैसी विनोद-प्रियता बीसल देव रास में है वैसी हिंदी साहित्य में अत्यन्त अल्प रूप में मिलती है । अतः "बीसल देव" अपने ढंग की अनोखी रचना है ।

इसकी भाषा पश्चिमी हिन्दी का प्राचीनतम रूप है । इस पर राजस्थानी, गुजराती का प्रभाव है तथा खड़ी बोली के क्रिया, कारक-चिन्हों

तथा लिंग आदि का प्रयोग हुआ है । इस पर अपभ्रंश की छाप भी दृष्टव्य होती है । इसके साथ-साथ कुछ अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग भी हुआ । जैसे- नेजा, इनाम, खुरासान, महल चाबुक इत्यादि ।

"बुद्धि रास"

यह एक श्रृंगारिक काव्य है जिसके रचनाकार "जल्ह" है । इसमें 140 छन्द हैं । इसकी सूचना डॉ0 मोती लाल मेनारिया ने "राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज भाग-1 में दी है । इसकी एक प्रति जो हस्तलिखित है, उदयपुर के "सरस्वती भण्डार" में है ।

इस नाम की एक अन्य रचना बुद्धिरास जो "भारतेश्वर बाहुबलि रास" के प्रणेता "शालिभद्र सूरि" द्वारा रचित मिलती है । जो स्फुट धर्मोपदेश काव्य है ।

डॉ0 मेनारिया ने इस ग्रंथ का रचनाकाल संवत 1625 के आस-पास स्वीकार किया है ।[1] लेकिन डॉ0 माता प्रसाद गुप्त का मत मेनारिया जी से पृथक है, वे इसे संवत 1450 के आसपास की रचना मानते हैं । डॉ0 गुप्त लिखते हैं कि "पृथ्वी राज के पूरक कृतित्व वाले जल्ह का समय पृथ्वीराज रासो की रचना सं0§1400 के लगभग§के बाद और पुरातन प्रबंध संग्रह में पृथ्वीराज प्रबन्ध

1• राजस्थानी भाषा और साहित्य पृ0 161

का सम्पादन किया गया है, उनमें एक संवत् 1528 की है । अत: जल्ह का समय 1400 तथा सं0 1528 के बीच संवत् 1450 के आसपास होनी चाहिए । यदि वही जल्ह बुद्धिरासो का रचयिता हो तो बुद्धिरासो का समय 1450 के लगभग माना जा सकता है ।"[1]

यह एक श्रृंगारिक काव्य है जिसकी कथा का विषय प्रेम है । इसकी कथा इस प्रकार है कथा का नायक चंपावती नगरी का राजकुमार कुछ दिनों हेतु नायिका जलधितरंगिनी के साथ समुद्र तट पर किसी स्थान पर रहता है, किसी राज्य कार्य के लिए राजधानी चला जाता है और एक माह में लौट आने का वचन देता है लेकिन कई माह बाद भी वह नहीं लौटता । उसके वियोग में जीवन से विरक्त हो आभूषण इत्यादि त्याग देती है उसकी माँ उसे इस संसार के वैभव तथा शारीरिक सुख की महत्ता बतलाती है । इतने में ही राजकुमार आ जाता है, और एक श्रृंगारिक काव्य का सुखान्त दोनों के सुखद मिलन द्वारा होता है । इस ग्रंथ का एक उदाहरण दृष्टव्य है :-

धीरधीर कुसुम वास औरव्यंदा ।
अलि लुट्टहि अहि निशि तजि न्चंदा ।
जलधि तरंगिनी कीन वनंदा ।

---

1. रासो साहित्य विमर्श, पृ0 14

किय षोड्स जनु पूरण चंदा ।

चंदमुखो मुख चंद किये ।

चखि कज्जल अम्बर हार लिये ।

घण घंटिव छिद्र नितम्ब भरे ।

मधमत्त सुधा मन मछ्छ करें ।

इसमें दोहे, छप्पय, गाहा, पाध्धरी, मोतादाम, मुडिल्ल इत्यादि छन्द है ।

विद्यापति को पदावली

मैथिल कोकिल विद्यापति का हिन्दी साहित्य में आदि काल में विशिष्ट स्थान है । आदिकाल के अन्य कवियों से इनके व्यक्तित्व में पर्याप्त भिन्नता है । इन्होंने तीन भाषाओं-संस्कृत, अवहट्ट और मैथिली में रचनाएँ लिखीं । इनकी पदावली "मैथिली-हिन्दी" में रचित हिन्दी की अत्यन्त सरस, श्रृंगारिक एवम भक्ति रचना है । जो विद्यापति को एक सरस, सहृदय कवि के रूप में स्थापित करता है ।

हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ के इतिहास कारों ने विद्यापति को "फुटकल" खाते में डालकर भूल की । इसके कारण कई परम्पराओं की श्रृंखलाएँ जुड़ न सकी । विद्यापति के काव्य में वीर श्रृंगार तथा भक्ति का अनोखा संगम दिखता है । विद्यापति की "पदावली" मैथिली भाषा में लिखित है, इसी

"पदावली" ने विद्यापति को लोक प्रिय बनाया । इसमें राधाकृष्णा व शिव-गौरी के भक्ति विषयक पद हैं । "विद्यापति के पदों में राधा-कृष्ण नाम अवश्य आए हैं, मगर उनके राधा-कृष्ण सर्व-सुलभ-उपस्करण-मंडित स्त्री पुरुष मात्र हैं । रासो काव्यों की दाम्पत्य रति का सामन्तीय रंग चढ़ गया था । विद्यापति की गीतपयस्विनी ने उसे धो दिया । उनके काव्य में दाम्पत्य रति अपने सहज एवम् अकृत्रिम रूप में अभिव्यक्त हुई है ।"[1] राधाकृष्ण की प्रेम लीला का वर्णन करते समय विद्यापति ने युवावस्था के समस्त क्रिया कलापों तथा अनुभावों का वर्णन किया है । कृष्ण की माधुर्य भाव की भक्ति का जन्म भागवत से हुआ, आगे चल कर यही भाव जयदेव के "गीत गोविन्द" से मुखरित हुआ । गीत गोविन्द की यही सरसता, कोमलता, मधुर भावना विद्यापति की "पदावली" में फूटा । पदावली में इनके राधाकृष्ण के श्रृंगार विषयक पद देख कर कुछ विद्वान इन्हें भक्त कवि के रूप में स्वीकार करते हैं । डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इनकी चर्चा भक्त कवि के रूप में की है ।

विशुद्ध गीत काव्य परम्परा का आरम्भ संस्कृत से हुआ । मेघदूत और ऋतुसंहार इसके वास्तविक उदाहरण हैं । हमारे देश में गीतों की सृष्टि वैदिक साहित्य "सामवेद" से ही आरम्भ हो गई थी । सामवेद के गीतों में

संगीतात्मकता, गेयता, भाव इत्यादि तो है परन्तु उनमें वैयक्तिकता नहीं है ।

विद्यापति के पदलीला गान की परम्परा वाले हैं । इनसे पूर्व भी गीत परम्परा की तीन शाखाएँ देखने को मिलती हैं ।

1. जयदेव व चण्डी दास की साहित्यिक पद परम्परा ।
2. सिद्धों की लोकाश्रित परम्परा ।
3. कृष्ण भक्तों की राधा-कृष्ण के लीलागान की परम्परा ।

विद्यापति की पद शैली का चलन कृष्ण-भक्ति काव्य में हुआ, साथ ही उनकी श्रृंगारिक भावना रीति काल में काफी विकसित हुई । विद्यापति पर पूर्ववर्ती कवियों कालिदास, माघ, श्री हर्ष, भारवि, अमरुक का विशेष प्रभाव था उन्होंने नायिका भेद तथा नख-शिख वर्णन किया । उन्होंने राधा का वयःसन्धि से आरम्भ कर के कृष्ण व राधा का पूर्व युवक-युवती के रूप में चित्रण किया है । "गाथा सप्तशती तथा आर्या सप्तशती की श्रृंगारिक परम्परानुरूप विद्यापति ने मुक्तक काव्य शैली में राधाकृष्ण को माध्यम बनाकर श्रृंगारिक भावना की अभिव्यक्ति की । सौन्दर्य चित्र खींचने में विद्यापति का मन बहुत रमा है उन्होंने अपनी पदावली में वय: सन्धि, नख-शिख, सद्य-स्नाता, प्रेम प्रसंग, दूती, नोंक-झोंक, सखी-शिक्षा, मिलन, सखी सम्भाषण, कौतुक,

अभिसार, छलना, मान, मानभंग, विदग्ध-विलास, वसन्त, विरह, भावोल्लास का वर्णन किया है सद्यः स्नाता का एक वर्णन देखिए —

कामिनी करए सनाने ।
हेरितहि हृदय हनए पँच बाने ।।

x x x

जाइत देखलि नहाएलि गोरी ।
कति सय रूप धनि आनलि चोरी ।।
केस निगारि इत बह जल-धारा ।
चमर गरए जनि मोतिम-हारा

विद्यापति के पदों में आलम्बन का रूप कभी छिप नहीं पाता । उन्होंने सादृश्य मूलक अलंकारों के द्वारा पाठक के मन में कहीं भ्रम नहीं उत्पन्न किया है । बल्कि उन्होंने रूप की थोड़ी छवि दिखा कर उत्सुकता पैदा की है ।

आधे आँचर खसि बदन हँसि आधहिं नयन तरंग ।
आधे उरज हेरि आध आँचर भरि तब धरि दगध अनंग ।।

"कवि के रूप वर्णन का क्षेत्र कटि से कच तक है, जिसमें कुचों को अपेक्षाकृत अधिक महत्व मिला है । विद्यापति ने श्रृंगार के विशद चित्र दिए हैं, लेकिन आलम्बन का

अंग-प्रत्यंग निरावृत करके नहीं रक्खा है । उनके विरह में नमाजिकता है, वह विरह एकांतिक विरह नहीं है । विद्यापति की नायिका स्वकीया है, अतः श्रृंगारी चित्र अस्वस्थ नहीं हुए हैं । उन्हें घोर श्रृंगार मय कहा जा सकता है । लेकिन वे अश्लीलता के अपराधीनहीं हैं ।"[1]

विद्यापति की यह पदावली मैथिली भाषा मैथिली में है । ग्रियर्सन ने मैथिली को हिन्दी से स्वतन्त्र भाषा के रूप में स्वीकार किया है । डॉ० उमेश मिश्र, डॉ० जयकान्त मिश्र ने इनकी पदावली की भाषा को शुद्ध मैथिली माना है । सांस्कृतिक परम्परा की दृष्टि से विद्यापति बंगाली की अपेक्षा हिन्दी से अधिक जुड़े प्रतीत होते हैं । मैथिली भाषा हिन्दी से अधिक निकट है यह बात भाषा वैज्ञानिकों ने तर्क सहित सिद्ध कर दी है ।

मैथिली भाषा में पूर्वी हिन्दी की तरह सामान्य भूत का लकारान्त प्रयोग है जैसे चलल, हरल, सुनल इत्यादि । पूर्वी हिन्दी के शुद्ध अइ व अय रूप मैथिली में भी इसी भाँति आए हैं जैसे - निरजन उरज हेरइ कत बेरि, अंगद वरुण टइइ नादें टारे ।

पूर्वी हिन्दी के समान मूल धातु में "ब" लगा कर उसे वर्तमान या भविष्य

---

1. डॉ० मोहन अवस्थी: हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास पृ० 94।

का रूप बनाने की प्रवृत्ति मैथिली में मिलती है ।

"सखि कि कहब कहइते लाज ।"

मैथिली की सभी विभक्तियाँ, सर्वनाम व क्रिया रूप हिन्दी से साम्य रखते हैं ।

डॉ० शिव प्रसाद सिंह ने पदावली की भाषा पर ब्रजभाषा का प्रभाव लक्षित माना है ।

ओकारान्त प्रवृत्ति की ब्रज भाषा के समान पदावली की भाषा में अनेक शब्द ओकारान्त प्रधान मिलते हैं। अनेक परसर्गों के प्रयोग भी ब्रज भाषा से प्रभावित हैं । वाक्य विन्यास सम्बन्धी कुछ विशेषताएँ ब्रज भाषा से साम्य रखती हैं । कुछ संज्ञा, सर्वनाम तथा विशेषण भी ओकारान्त प्रधान है ।

पदावली की भाषा पर पूर्वी हिन्दी व ब्रजभाषा का प्रभाव तो है लेकिन इसकी भाषा पुरानी मैथिली है जिसकी अपनी कुछ खास विशेषताएँ हैं ।[1]

विद्यापति आदि काल के गौरवपूर्ण कवि हैं । उनकी भाषा व सांस्कृतिक परम्परा हिन्दी से अधिक निकट है, जो उन्हें हिन्दी के सम्मानित कवि रूप में स्थापित करता है । हिन्दी साहित्य की कई परम्पराएँ उनसे विकसित होकर परवर्ती काल में छा गई । उन्होंने आदिकाल में प्रचलित तत्कालीन भाषाएँ संस्कृत, अपभ्रंश और लोक भाषा तीनों में साहित्य सृजन

लिये दूसरी ओर भक्त आदि हैं जिनके पद गाते गाते चैतन्य महाप्रभु बेहोश होकर गिर जाते थे । चैतन्य पूज्यनीय हैं । उनकी पदावली से "राम कृष्ण परमहंस जैसे को भावावेश हो जाता था । उनके काव्य में श्रृंगार व भक्ति एक रूप हो गये हैं । जो आगे चल कर भक्ति काल व रीति काल में दो परम्पराओं में विकसित हुआ । हिन्दी में गीति काव्य की परम्परा का चलन इन्हीं से हुआ । गीतों में कोमल-कान्त-प्रशस्ति में उन्हें हम हिन्दी के प्रथम कवि के रूप में पाते हैं । उन्होंने अपने समय में प्रचलित इन तीनों काव्य रूपों में रचना की ।

अध्याय - 7

स्फुट काव्य

पूर्व वर्णित अध्यायों में विभिन्न काव्य प्रवृत्तियों के अतिरिक्त आदिकाल में कुछ स्फुट रचनायें भी मिलती हैं । इस युग में खड़ी बोली से सम्बन्धित प्राचीन साहित्य के अभाव की बात कही जाती है परन्तु यह सत्य नहीं है । सामग्री इतनी पर्याप्त है, जिससे इसका पुन: निर्माण किया जा सकता है । "खड़ीबोली" के साहित्यिक रूप का विकास आधुनिक काल में हिन्दी गद्य-पद्य की विभिन्न विधाओं में हुआ है । खड़ी बोली को आज राष्ट्रभाषा हिन्दी के रूप में मान्यता मिली है । साहित्य और व्यवहार के क्षेत्र में उसका सर्वत्र बोलबाला है । सामान्य अर्थ में उसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है ।

"खड़ी बोली" का उद्भव शौरसेनी अपभ्रंश से माना गया है 11 वीं शताब्दी में लिखित "राउरवेल" रचना में नायिकाओं के सौन्दर्य तथा नखशिख का वर्णन अपने क्षेत्र की भाषा में हुआ है । उसमें एक टक्की रमणी का वर्णन है यह वर्णन कुछ पंक्तियों में ही है । किन्तु भाषा की दृष्टि से इसका महत्व है, इसमें खड़ी बोली के प्राचीन रूप के दर्शन होते हैं । 12 वीं शताब्दी के अपभ्रंश काव्य में भी हमको खड़ी बोली के कुछ क्रिया पदों

के रूप मिलते हैं । हेमचन्द के दोहों में खड़ी बोली की प्रवृत्ति के स्पष्ट रूप में दर्शन होते हैं — इस सम्बन्ध मे हेमचन्द्र का प्रसिद्ध दोहा उद्धृत किया जाता है —

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु ।
लज्जेजंतु वयंसिअहिं जे भग्गा घर अंतु ।।

इसके अतिरिक्त नाथ पंथियों की रचनाओं में खड़ी बोली के प्रारूप दृष्टव्य होते हैं । डा० शिव प्रसाद सिंह के अनुसार — "गोरखबाणी" में संकलित रचनाएं यदि प्रमाणिक मानी जांय तो हम कह सकते हैं कि गोरखनाथ की भाषा खड़ी बोली का आरम्भिक रूप है जो अभी संक्रान्ति काल से गुजर रही थी । जिसमें स्थिरता नहीं आयी थी ।

सन्तों की भाषा का अध्ययन करने पर मालूम होता है कि ये कवि क्रान्तिकारी, ओजस्वी उपदेशों, रूढ़ि-खण्डन, पाखण्ड-विरोधी या उसी प्रकार के अन्य परम्परा-प्रथित विचारों का विच्छेद करने के लिए जिस भाषा का प्रयोग करते थे वह नवोदित खड़ी बोली थी ।"[1] मराठी सन्तों की रचनाओं मे भी खड़ी बोली का प्रभाव परिलक्षित होता है । सूफी

---

[1]सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य - पृ० 137

कवियों द्वारा भी खड़ी बोली प्रयुक्त की गयी जिसे दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। पहला उत्तर भारत के कवियों द्वारा प्रयुक्त बोली, दूसरा दक्षिण भाषा के कवियों द्वारा प्रयुक्त बोली। उत्तर भारत की बोली "खड़ी बोली" तथा दक्षिण की "दक्खिनी हिन्दी" कहलायी।

दक्खिनी हिन्दी का मूलतः विकास उत्तर की आर्य भाषाओं के माध्यम से हुआ है। दक्षिण की द्रविण भाषा से इसका कोई सम्बन्धी नहीं है। "दक्खिनी हिन्दी" का सर्वप्रथम उल्लेख डा० बाबू राम सक्सेना ने किया जिसे "हिन्दी", "हिन्दवी", नाम से भी जाना जा सकता है। डा० भोलानाथ, शंकर व्यास, डा० सुनीत कुमार चाटुर्ज्या और धीरेन्द्र वर्मा आदि भाषा वैज्ञानिकों ने इसे खड़ी बोली का प्राचीन रूप माना है। दक्षिण के कवियों ने अपनी भाषा के लिए हिन्दी या हिन्दवी शब्द का ही प्रयोग किया है —

दक्खिनी में जूं दक्खिनी मिट्ठी बात का,
अदा ने किया कोई इस धात का।
— वजही, कुतुब मुश्तरी

किया तरजुम्मा दक्खिनी होर दिल पजीर,
बोला मुअज्जम यूं कमाल खान व बीर।
— रूस्तमी, खावरनामा

अतः खड़ी बोली या हिन्दवी उत्तर की भाषा थी । किन्तु उसे "दक्खिनी" नाम से पुकारा गया । हिन्दवी के अनेक कवियों ने अपनी भाषा को "दक्खिनी" कहा है ।

दक्षिणी भू-भाग जो दक्षिणापथ के नाम से जाना जाता था इसी भू-भाग को मुसलमानों ने "दक्खिन" कहा ।

भौगोलिक दृष्टि से उत्तर-दक्षिण नाम होते हुए भी साहित्यिक, धार्मिक, दार्शनिक, राजनैतिक, सामाजिक दृष्टि से उत्तर-दक्षिण जैसी कोई सीमा रेखा नहीं रही है । उत्तर के आचार्य सन्त और मत प्रवर्तक दक्षिण में अपने-अपने मतों और सिद्धान्तों का प्रसार करते रहते थे । दक्षिण के आचार्यों ने उत्तर भारत में भक्ति की प्रेरणा दी थी । [इसका विस्तृत विवरण "धार्मिक आध्यात्मिक काव्य" शीर्षक के अन्तर्गत दिया जा चुका है ।]

प्राचीन काल में संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश भाषा और साहित्य का जो सम्बन्ध उत्तर दक्षिण में था वही सम्बन्ध हिन्दी के समय भी विद्यमान था मुसलमानों के दक्षिण विजय अभियानों ने भी हिन्दी के प्रसार

मे सहयोग प्रदान किया, जिसमे मुस्लिम शासक अलाउद्दीन खिलजी, मुहम्मद तुगलक के दक्षिण अभियान प्रमुख है । मुहम्मद तुगलक का दिल्ली से देवगिरि का नाम बदलकर दौलताबाद रखा और राजधानी परिवर्तन का आदेश दिया । जब वह असफल रहा तो उसने पुन: दिल्ली लौटने को कहा । इसी समय बहुत से परिवार दिल्ली वापस लौट गये किन्तु कुछ वहीं बस गये । ये लोग अपनी भाषा और संस्कृति को दक्षिण ले गये इस प्रकार उत्तर की भाषा दक्षिण पहुँची । वहाँ के लोग इस भाषा से परिचित हुए साथ ही यह शासक वर्ग की भाषा थी इसलिए वहाँ के निवासियों ने उसे सीखना आरम्भ कर दिया । इस प्रकार दक्षिण मे जिस भाषा का प्रचार-प्रसार हुआ उसे दक्खिनी हिन्दी कहा जाता है । दक्षिण मे हिन्दी को प्रतिष्ठित होने मे बहमनी वंश की स्थापना का भी महत्वपूर्ण योगदान है । अत: दक्षिण मे हिन्दी के प्रसार के दो रूप दृष्टव्य होते है । पहला दक्षिणी राज्यों द्वारा हिन्दी का अपनाया जाना व दूसरा उत्तर भारत के सन्तों व धर्म प्रचारकों द्वारा दक्षिण मे अपने मत व सिद्धान्तों का प्रतिपादन ।

खड़ी बोली से ही विकसित होने पर भी इस दक्खिनी हिन्दी की कुछ भिन्न व्याकरणिक संरचना है । अवधी, ब्रज, राजस्थानी तथा पंजाबी

बोलियों का मिश्रण है, फिर भी इस इन सब से भिन्न इसकी कुछ निजी विशेषताएँ हैं । जैसे —

॥1॥ सभी कारकों से बहुवचन के रूप अकारान्त से अंकारान्त हो जाते हैं तथा ईकारान्त संज्ञाओं का "यां-कारान्त" में परिवर्तन हो जाता है ।

॥2॥ कर्मवाचक को के स्थान पर सानुनासिक "कों" का प्रयोग मिलता है ।

॥3॥ "से" परसर्ग जो कारण व अपादान में प्रयुक्त होता है, के स्थान पर "सों" का प्रयोग अधिक मिलता है यथा – सब सों, तुम सों ।

॥4॥ सम्प्रदान कारक के लिए लई तथा खातिर शब्दों का प्रयोग मिलता है ।

॥5॥ सम्बन्ध परसर्ग का, की, के के स्थान पर केरा, केरी, केरे रूप मिलते हैं ।

॥6॥ अधिकरण के लिए में के स्थान पर मैं का प्रयोग मिलता है ।

॥7॥ सहायक क्रियाओं में हैगा, हैगी जैसे नये रूप भी मिलते हैं ।

§8§ "सक" धातु के साथ संयुक्त क्रिया बनाते समय क्रियार्थक संज्ञा के प्रयोग की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है जैसे - कर सके के स्थान पर "करने सके" ।

इसके अतिरिक्त भी कुछ अन्य निजी पन भी इस बोली में है । इसकी व्याकरणिक संरचना पर दृष्टि डालने के उपरान्त डा0 नामवर सिंह लिखते हैं — "इस प्रकार तथाकथित "दक्खिनी हिन्दी" की भाषा सम्बन्धी प्रवृत्तियों का विश्लेषण करने से पता चलता है कि उसमें अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली तथा राजस्थानी, पंजाबी आदि दूसरी अनेक बोलियों का मिश्रण है । निःसन्देह उस भाषा की प्रवृत्ति मुख्यतः खड़ी बोली की ओर उन्मुख है, लेकिन उसमें खड़ी बोली के आरम्भिक, अस्थिर तथा अव्यवस्थित रूप का ही पता चलता है ।"[1]

दक्खिनी के प्रमुख कवि - इसके प्रमुख कवि ख्वाजा बन्दे नवाज गेसू दराज, शाह मीराँजी शम्सुलउश्शाक, अशरफ, फिरोज, शाह बुरहानुद्दीन जानम, मुहम्मद कुली कुतुबशाह, वजही, गवासी मुहम्मद अमीन अयागी, नुसरती, अली आदिलशाह §द्वितीय§ इब्ने निशाती आदि के उल्लेखनीय

---

[1]हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ0 105

नाम है इनका समय 14 वीं से 18 वीं शताब्दी तक का है इसमें से आलोच्य काल में ख्वाजा बन्दे नवाज गेसू दराज ही आते हैं। जिनका विस्तृत "सूफी" काव्य शीर्षक के अन्तर्गत दिया जा चुका है।

उत्तर भारत के खड़ी बोली के कवि - इसके प्रमुख कवि मसऊद कवि शेख फरीदुद्दीन शकर गंजी और शेख शरफुद्दीन बू अली कलन्दर के नाम आते हैं जिसका विवरण "सूफी काव्य" शीर्षक के अन्तर्गत दिया जा चुका है। इसके अतिरिक्त "कुतुब शतक" रचना और अमीर खुसरो कवि आते हैं जो खड़ी बोली के प्रतिनिधि कवि कहलाते हैं। कुतुब शतक रचना का समय तथा रचनाकार दोनों के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट विवरण प्राप्त नहीं हुआ है। कुछ विद्वान ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर "कुतुब शतक" का रचनाकाल खुसरो से पूर्ववर्ती ठहराते हैं। लेकिन किसी ठोस आधार के अभाव में इसके सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह आलोच्य काल के अन्तर्गत आती है।

कुतुब शतक

"कुतुब शतक" नामक एक अधूरा काव्य प्राप्त हुआ है, जिसके रचनाकार के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं। इस कृति की हस्तलिखित प्रतियाँ

राजस्थान के विभिन्न पुस्तकालयों में प्राप्त हुई हैं। डा० माता प्रसाद गुप्त ने इसका संपादन किया है — "कुतुब शतक और उसकी हिन्दुई" नाम से। इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में भी कोई प्रामाणिक तथ्य नहीं उपलब्ध हैं, फिर भी भाषा की दृष्टि से इस कृति का विशेष महत्व है क्योंकि इसमें हिन्दी खड़ी बोली के प्राचीन रूप के प्रमाण मिलते हैं और साथ ही खड़ी बोली परम्परा की एक कड़ी और मिल जाती है। इसके रचनाकार के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यह कोई कुशल कवि होगा, शायद इसका सम्बन्ध सूफी परम्परा से रहा हो। इस कृति की प्राचीनतम प्रति जो प्राप्य है वह संवत् 1633 की है इसके आधार पर डा० माता प्रसाद गुप्त ने इसके रचनाकाल का अनुमान 1500 ई० के आस-पास किया है।[1]

इस काव्य में दिल्ली शहर के सुलतान फिरोजशाह के पुत्र कुतुब शाह और दाबर की कन्या के प्रेम का वृतान्त मिलता है। यह रचना तुकान्त पद्य रूप में है। दादिनी देवर के प्रयत्न से साहिबा फन्दे में आ जाती है और उनका विवाह हो जाता है। इतिहास में कुतुबुद्दीन नाम के ऐतिहासिक

---

[1]कुतुब शतक और उसकी हिन्दुई, पृ० 5

चरित्रों का तो पता चलता है किन्तु फिरोज शाह और कुतुब शाह का इतिहास में वर्णन नहीं मिलता है । डा० कैलाश चन्द्र भाटिया ने ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर इन्हें फिरोजशाह तुगलक से जोड़ा है । फिरोजशाह तुगलक का समय 1309 से 1388 ई० तक रहा । ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर इस कृति का रचनाकाल 14 वीं शताब्दी ठहरता है । प्रस्तुत कृति का स्वरूप भी हमको 14 वीं शताब्दी से पूर्व का लगता है ।[1] इससे यह अमीर खुसरो से पूर्ववर्ती ठहरते हैं ।

इस रचना की भाषा दिल्ली के आस-पास बोली जाने वाली भाषा है इसकी भाषा का "राउरवेल" दोहाकोश और गोरखबाणी की भाषा से बहुत साम्य है । अपभ्रंश के कुछ प्रयोग मिलते हैं लेकिन इसका मूल स्वरूप खड़ी बोली का है । इसकी भाषा के कुछ उदाहरण देखिए --

दिल्ली सहर सुरताणी पेरोज साहि थाना ।
साहिजादा कुथबदी जुआणी ।
बरस नव तीनि तेगइ पवाणा ।
बीबियाँ लाजलो धइ बंधाना । पृ० 126
x x x x

पूछतइ पूछतइ जमाराति आई ।
बीबियाँ हरम दार धाई ।।
सुलताण बाराय बारी आया ।

अमीर खुसरो

खुसरो बहुमुखी व्यक्तित्व तथा बहुमुखी महत्व के स्वामी थे। आचार्य शुक्ल ने उन्हें हिन्दी साहित्येतिहास में महत्वपूर्ण स्थान देते हुए फुटकल खाते में रखा है। खुसरो की रचनाएँ मौखिक रूप से प्रचलित होने के कारण अपनी मौलिकता को संजोये रखने में कुछ असमर्थ रही, परन्तु फिर भी खुसरो हिन्दी कविता के साहित्येतिहास में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। खुसरो के भाषा शास्त्रीय महत्व पर प्रकाश डालते हुए शुक्ल जी ने लिखा है - इनके पहले की जो कुछ संदिग्ध असंदिग्ध सामग्री मिलती है उस पर प्राकृत की रूढ़ियों का थोड़ा या बहुत प्रभाव अवश्य पाया जाता है, लिखित साहित्य के रूप में ठीक बोल-चाल की भाषा या जनसाधारण के बीच कहे-सुने जाने वाले गीत, पद्य आदि रक्षित रखने की ओर मानों किसी का ध्यान ही नहीं था, जैसे - पुराना चावल बड़े आदमियों के खाने योग्य समझा जाता है वैसे ही अपने समय से कुछ पुरानी पड़ी हुई परम्परा के गौरव से युक्त भाषा ही पुस्तक रचने वालों के व्यवहार योग्य समझी जाती थी, पश्चिम की बोल-चाल, गीत, मुखप्रचलित पद्य आदि का नमूना जिस प्रकार खुसरो की

कृति में हम पाते हैं, उसी प्रकार बहुत पूरब का नमूना विद्यापति की पदावली में, उसके पीछे भक्तिकाल के कवियों ने प्रचलित देश भाषा और साहित्य के बीच पूरा-पूरा सामंजस्य घटित कर दिया[1] यदि खुसरो के सम्पूर्ण कृतित्व का अवलोकन किया जाय तो उन्हें सूफी काव्य धारा के अन्तर्गत स्थान मिलना चाहिए, परन्तु उनकी कविताएँ सूफी-पद्धति पर न होकर शुद्ध लोक रंजक रचनाएँ हैं। इसलिए उनका स्थान विशिष्ट और अलग माना जाना चाहिए।

अमीर खुसरो के जीवन के सम्बन्ध में स्पष्ट जानकारी मिलती है इनके पिता सैफुद्दीन महमूद तुर्किस्तान में एक कबीलें के सरदार थे। कुछ इतिहासकारों ने उन्हें "बलख" का अमीर बताया है। 13वीं शताब्दी के प्रारम्भ में सैफुद्दीन भारत आ गये, और एटा जिले के पटियाली नामक गाँव में बस गये, इसी गाँव में सैफुद्दीन के तृतीय पुत्र अबुल हसन का जन्म 651 हि० अर्थात् सन् 1253 में हुआ था, जो बाद में अमीर खुसरो के नाम से प्रसिद्ध हुआ। खुसरो की माँ बलबन के राज्य के उच्च पदाधिकारी एमादुलमुल्क की पुत्री थी। विभिन्न विद्वानों के मतानुसार इनका समय इस प्रकार था —

(1) डा० श्रीराम शर्मा ने इनकी जन्मतिथि 651 हि० (सन् 1193 ई०) और मृत्यु 1326 ई० दी है।

---

[1]हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 55

(2) ब्रजरत्नदास ने इनका जन्म सन् 1255 और मृत्यु सन् 1324 ई0 माना है ।

डा0 शर्मा की दी हुई तिथि ठीक नहीं ठहरती है क्योंकि उनके अनुसार अमीर खुसरो 133 वर्ष तक जीवित रहे, जो सही नहीं है । अन्य लेखकों ने भी खुसरो का जन्म सन् 1255 के आस-पास माना है ।

अमीर खुसरो को बचपन से ही साहित्य, संगीत, अध्यात्म और दर्शन में अभिरूचि थी । उन्होंने अपने विषय में लिखा है - "किन्तु मेरी यह भूल थी, क्योंकि यदि आप इस विषय पर अच्छी तरह से विचार करें तो आप हिन्दी भाषा को फारसी से किसी भी प्रकार हीन न पायेंगे, वह भाषाओं की स्वामिनी अरबी से कुछ हीन अवश्य है पर राय और रूम में जो भाषा प्रचलित है वह हिन्दी से हीन है, यह मैंने बहुत विचारपूर्वक निर्धारित किया है ।"[1] डा0 रामकुमार वर्मा ने अरबी हिन्दी के महत्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है "हिन्दी अरबी के समान है, क्योंकि इन दोनों में से कोई भी मिश्रित नहीं है, यदि अरबी में व्याकरण और शब्द विन्यास है तो हिन्दी में भी एक अक्षर कम नहीं है, यदि आप पूछे कि उसमें काव्यशास्त्र है, तो हिन्दी किसी भी प्रकार इस क्षेत्र में हीन नहीं है, जो व्यक्ति तीनों

1. वहीद मिर्जा, दीवाचा गुर्रतुल्कमाल - पृ0 20

भाषाओं का ज्ञाता है, वह समझ लेगा कि मैं न तो भूल कर रहा हूँ और न अतिशयोक्ति ही "।

खुसरो ने कइ बादशाहों का उत्थान-पतन देखा था, बलबन के दरबार में उसके पुत्र मुहम्मद के काव्य विनोद के लिए इन्हें नोकर रखा गया था, बलबन को मृत्यु के बाद वे उसके भतीजे अलाउद्दीन के दरबार में नोकर हो गये, गुलामवंश तुगलग वंश का आरम्भ खुसरों ने देखा था खिलजी वंश का शासन-काल तो इनके जीवन का मध्य युग था जलाउद्दीन खिलजी तथा अलाउद्दीन खिलजी दोनों के समय में दरबार में इन्हें सम्मान प्राप्त रहा और इस समय इन्होंने कई मसनवियों की रचना की, गयासुद्दीन तुगलक के गद्दी पर बैठने पर खुसरों का उसके जीवन द्वारा जीविका एवम् सम्मान दोनों ही प्राप्त होते रहें । खुसरों बाल्यकाल से ही निजामुद्दीन औलिया के शिष्य हो गये थे, इसीलिए इनकी मसनवियों एवम् रचनाओं पर सूफी-धर्म का काफी गहरा प्रभाव पड़ा था, इस समय खुसरों ने जो भी लिखा वह ही अच्छी रचनाएँ सिद्ध हुई निजामुद्दीन औलिया को ये बहुत प्रिय थे इन्हें शायरी के मुल्क का बादशाह कहा करते थे । खुसरों को भी औलिया से अत्यधिक स्नेह था, यही कारण था जब निजामुद्दीन औलिया की मृत्यु

1. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - पृ0 126 पर

हो गयी, तब ये बहुत दु:खी हो गये इसी शोक में कुछ दिनों बाद 72 वर्ष की आयु में सन् 1375 में इनकी मृत्यु हो गई इस प्रकार एक विशाल राजनैतिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि ने खुसरों के व्यक्तित्व का निर्माण किया था उन्होंने तीन राजवंशों तथा ग्यारह बादशाहों का समय देखा था ।

खुसरों के साहित्य की तत्कालीन परिस्थिति अपभ्रंश मिश्रित काव्य की रचनाओं तक सीमित थी पूर्व में उस समय गम्भीर धर्म की भावना गोरखनाथ के शिष्यों द्वारा प्रचारित हो रही थी, उस समय अमीर खुसरों ने साहित्य के लिए एक नवीन मार्ग का अन्वेषण किया और वह था जीवन को संग्राम और आत्म-शासन की सुदृढ़ और कठोर श्रृंखला से मुक्तकर आनन्द और विनोद के स्वच्छन्द वायुमण्डल में विहार करने की स्वतन्त्रतादेना यही अमीर खुसरों का मौलिकता है।

अमीर खुसरो के समय में काव्य की दो भाषाएं मान्य थी एक तो राजस्थानी जिसमें डिंगल काव्य की रचना हो रही थी, दूसरी अपभ्रंश से निकली हुई हिन्दी जिसमें सिद्ध और जैन कवियों की रचनाएं थी । ये दोनों साहित्यिक भाषाएं हो गई थी । अमीर खुसरो जन-साधारण की भाषा खड़ी बोली को साहित्यिक रूप देने में सबसे पहले सफल हुए इस सम्बन्ध

में इतिहासकारों के सामने इनकी रचना पर्याप्त मात्रा में है खुसरों की एक अन्य विशेषता यह थी कि उन्हें अपने देश से प्रेम था । सम्पूर्ण देश के रूपों स्वरूपों को उन्होंने बहुत ही सूक्ष्मता से निरीक्षित करके आत्मसात किया था, जिसका प्रतीक उनकी हिन्दी रचनाएं हैं भले ही भाषा की प्राचीनता के विवाद ने खुसरों के साहित्य पर प्रश्न चिन्ह लगा दिये हो परन्तु खुसरो ने जन भाषा में मनोरंजक कविता करना दुष्कर चुनौती पूर्ण कार्य को पूर्ण किया और उसमें अपूर्व सफलता भी प्राप्त की । डॉ0 ईश्वरी प्रसाद ने खुसरों के सम्बन्ध में लिखा है —— खुसरो केवल कवि ही नहीं थे, वह योद्धा भी थे और साथ ही क्रियाशील मनुष्य भी, उसने अनेक चढ़ाइयों में भाग लिया था, जिसका वर्णन उसने अपने ग्रन्थों में किया है, उसके ग्रन्थों की विस्तृत समालोचना करना यहाँ असम्भव है क्योंकि उसके लिए तो एक ग्रन्थ अलग ही चाहिए, इतना कहना पर्याप्त होगा कि वह एक प्रतिभावान कवि और गायक था, जिसकी कल्पना की उड़ान भाषा के साधन से विषयों की विविध रूपावली लिए हुए हैं जिस चकित कर देने वाली सरलता और सौन्दर्य से वह मानवी उद्वेगों और रागात्मक प्रवृत्तियों का वर्णन करता है तथा प्रेम और युद्ध की चित्रावली प्रस्तुत करता है वह उसे सर्वकालीन महाकवियों की पंक्ति

में बिठलाने में समर्थ है वह गद्य लेखक भी था, यद्यपि हम उसकी शैली में मार्दव नहीं पाते, क्योंकि "खजायन-उल्फ़ुतूह" में अर्थ कल्पनातीत हो गया है, तथापि वह गद्य-शास्त्र का आचार्य कहा जा सकता है, वह संगीत शास्त्र का ज्ञाता था, जैसा कि 14वीं शताब्दी के गायक गोपालनायक के साथ उसके वाद-विवाद से ज्ञात होता है ।[1]

ख़ुसरों विनोदी तथा सहृदय व्यक्ति थे । जनजीवन ख़ुसरो के साथ घुल-मिलकर काव्य रचना करने वाले कवियों में ख़ुसरों का महत्वपूर्ण स्थान है, उन्होंने जनता के मनोरंजन के लिए पहेलियाँ और मुकरियाँ लिखी थीं, जामी के अनुसार इन्होंने 92 ग्रन्थों की रचना की । इनमें से 22 ग्रन्थ उपलब्ध हैं । बरनी ने लिखा है कि "गद्य पद्य के रूप में ख़ुसरों ने एक पूरा पुस्तकालय लिख डाला है ।"[2]

---

1. डॉ० ईश्वरी प्रसाद, मिडैवल इन्डिया, पृ० 616
2. The incomparable Amir Khusrau Stands unequalled for the volume of his writings and the originality of his ideals for, while other great masters of prose and verse have excelled in one on two branches, Amir Khusrau was conspicuous in every department of letters. A man such mastery over all the forms of poetry has never existed in the part and may perhaps not come into existence before the day of Judgement.
- Mohammad Habid - Hazrat Amir, Khusrau of Delhi P.2.

इनका कथन इस बात की पुष्टि करता है कि खुसरो का बहुत सा साहित्य विलुप्त हो गया है, परन्तु खुसरो की प्राप्त रचनाएँ प्रभूत है ।

खुसरो की हिन्दी कविता

खुसरो की रचनाओं के संग्रह विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रूपों में संकलित करके प्रकाशित कराये हैं जो निम्न प्रकार है —

1· अमीर खुसरो की हिन्दी रचनाओं का एक संग्रह अलीगढ़ से "जवाहरे खुसरो" नाम से प्रकाशित हुआ है ।" इसके प्रथम खण्ड में "खालिक बारी" है और दूसरे खण्ड में बूझ और अनबूझ पहेलियाँ, कह-मुकरियाँ, दो सुखने अनमेलियाँ या ढकोसले आदि, तीसरे खण्ड में एक गजल है जिसका एक चरण फारसी में और दूसरा खण्ड हिन्दी में । चौथे खण्ड में हिन्दी के दोहे और पाँचवे खण्ड में एक गीत है ।"[1]

2· अमीर खुसरो की हिन्दी कविताओं का एक संग्रह बाबू ब्रजरत्न दास ने नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित कराया था । इस संग्रह में बूझ-पहेलियाँ, बिन बूझ-पहेलियाँ, कह-मुकरियाँ, दो-सुखना हिन्दी, निसबतें अर्थात् सम्बन्ध बराबरी, दो सुखना फारसी और हिन्दी, अनमेलियाँ

1· अमीर खुसरो कृत खालिक बारी- सं० डॉ० श्री रामशर्मा पृ० 10 से उद्धृत, प्र० काशी ना०प्र०सभा ।

या ढकोसला, बसंत और फुटकर पद्य संकलित है ।

3. डा0 श्री राम शर्मा ने इसका सम्पादन करके काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित कराया है ।

इस प्रकार खुसरो रचित पहेलियाँ, मुकरियाँ, दो सखुना, निसबतें (सम्बन्ध या बराबरी) अनमेलियाँ या ढकोसले, इतिहास, कोष, गजल तथा संगीत के क्षेत्र में किये गये कार्य अमूल्य धरोहर है, जो हिन्दी साहित्य की सम्पदा वृद्धि करने में अपूर्व योग देता है —

1- कोश :- अमीर खुसरो ने फारसी, अरबी, हिन्दी का एक कोश भी लिखा है । परन्तु अब उस विशाल कोश का केवल संक्षिप्त रूप ही मिलता है, जो "खालिक बारी" के नाम से प्रसिद्ध है । कुछ विद्वान खालिक बारी को अमीर खुसरो का रचना नहीं मानते । एक खुसरो नाम के कवि "जहाँगीर" के समय में भी हुए थे, कुछ विद्वान इस तरह की सम्भावना व्यक्त करते हैं कि खालिक बारी के रचियता ये दूसरे खुसरो रहे होंगे ।

खालिक बारी के सम्बन्ध में उर्दू के आलोचक "मसऊद हुसैन रिजवी" ने लिखा है कि - "खालिक बारी गालिबन बच्चों के लिए नहीं

लिखी गई थी । अमीर खुसरो के जमाने में चंगेजियों की ताकत व तराज ने ईरान व तूरान को जेरब जबर कर दिया । उनकी मार-काट से तंग आकर हजारहा ईरानियों और तूरानियों ने हिन्दुस्तान में पनाह ली थी । इन लोगों को हिन्दुस्तानियों से बातचीत करने में बड़ी दिक्कत होती थी । न वह इनकी बात समझते थे न ये उनकी । क्यास कहता है कि इसी दिक्कत को दूर करने के लिए अमीर खुसरो ने फारसी और हिन्दी के जरूरी हममानी [समानार्थी] यकजा करके नज्म कर दिए होंगे ।[1]

खालिक बारी में फारसी शब्दों के पर्याय दिए गये हैं । इसमें हिन्दी के जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं, वे दिल्ली और उसके आस-पास बोली जाने वाली भाषा के हैं । यह अकारान्त भाषा है, जो खड़ी बोली की प्रमुख विशेषता है । खालिक बारी के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं --

कुव्वत नीरू जोर बल आन ।
सारिक दुज्द चोर है जान ।। 7

मर्द मनुज जन है इस्तरी ।
कहत काल बबा है मरी ।। 8

वालिद बाप बेटा फर्जन्द ।
दुखतर बेटी सिख है पन्द ।। 9

x x x x

खालिक बारी सिरजन हार
वाहिद एक बदा करतार
रसूल पैगम्बर जान बसीठ
यारो दोस्त बोलो जो ईठ

× × ×

क्या विरादर आव रे भाई ।
बन शान मादर बैठ री भाई ।
मुश्क काफूर अस्त कस्तूरी कपूर
हिन्दवी आनन्द शादा और सरूर
मूश चूहा गुर्व: बिल्ली मार जार
सो जनो रिश्त: वाहिन्दी ।।

2- गजल :- अमीर खुसरो का नाम जनमानस में पहेलियों के लिए सर्वाधिक प्रसिद्ध है । शायद उन्होंने गजल भी लिखी होगी, लेकिन उनकी अन्य प्रकार की रचनाएँ सुरक्षित रूप में नहीं मिलती । उनकी विरह वर्णन की एक गजल अवश्य प्राप्त है, जिसमें स्त्री का व्याकुल हृदय चित्र है, उस गजल में एक पंक्ति फारसी में तथा दूसरी पंक्ति ब्रज भाषा मिश्रित खड़ी बोली में रखी हुई है, इससे इस गजल में भी विनोद का पुट आ जाता है । अमीर खुसरो ने शायद ही गम्भीर प्रकृति की रचनाएँ की होंगी । उनकी

रचनाएँ लोक रंजक रूप लिए हुए हैं । उनकी गजल दृष्टव्य है —

जे हाल मिस्कीं मकुन तगाफुल दुराय नैना बनाए बतियाँ ।
कि ताबे हिजराँ न दारम ए जाँ न लेहु काहे लगाए छतियाँ ।।
शबाने हिजराँ दराज चूँ जुल्फ व रोजे वसलत चु उम्र कोताही ।
सखी पिया को जो मैं न देखूँ तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ ।।
यकायक अज दिल दो चश्मे जादू बसद फरेब म बेबुद तसकीं ।
किसे पड़ी है जो जा सुनावे पियारे पी को हमारी बतियाँ ।।
चु शम्अ सोजाँ चु जर्रः हैराँ हमेशः गिरियाँ बइश्क आँ मेह ।
न नींद नैना न अंग चैना न आप आए न भेजो पतियाँ ।।
बहक्क रोजे विसाल दिलवर कि दाद मारा फरेब खुसरो ।
स पीत मन की दुराए राखूँ जो जान पाऊँ पिया की गतियाँ ।।

3— <u>इतिहास</u> :- खुसरो ने अपने जीवन काल में कई राजवंश तथा कई बादशाहों का उत्थान और पतन देखा था । गुलाम वंश, खिलजी वंश में इन्हें बहुत मान सम्मान मिला । इस समय में उन्होंने कई मसनवियों की रचना की । खुसरों पर निजामुद्दीन औलिया के शिष्य होने के कारण सूफी धर्म का उनके साहित्य पर विशेष प्रभाव पड़ा । खुसरो ने फारसी भाषा में इतिहास लिखा । उन्होंने मसनवियों में वर्णनात्मक ढंग से तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं पर प्रकाश डाला है । हिन्दी में इस प्रकार की कोई भी रचना उपलब्ध नहीं है ।

4- संगीत :- अमीर खुसरो अनेक भाषाओं को जानने वाले, रससिद्ध कवि होने के साथ-साथ संगीत के भी ज्ञाता थे। ऐसा कहा जाता है कि "बरवा राग" में लय रखने की रीति का विकास किया। "कव्वाली" में इन्होंने नये रागों का अन्वेषण किया, जिसका प्रचार आज भी है। इनके बसंत के पद बहुत लोकप्रिय हैं।

5- पहेलियाँ :- अमीर खुसरो हिन्दी साहित्य में पहेलियों के लिए ही प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपनी पहेलियों को अनेक रूपों में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार की पहेली और मुकरी कहने वाला हिन्दी साहित्य में उनके अलावा दूसरा कोई नहीं है। इस क्षेत्र में ये अद्वितीय है। इन पहेलियों में रसिकता है, कौतूहल है व भरपूर विनोद है। ये पहेलियाँ छः प्रकार की हैं —

§अ§ अन्तर्लापिका :- यह वह पहेली होती है जिसमें उसका उत्तर छिपा रहता है। इन्हें बूझ पहेलियाँ भी कहते हैं —

उदाहरण :-

§1§ खड़ा भी लोटा पड़ा भी लोटा।
है बैठा और कहे हैं लोटा।
खुसरो कहे समझ का टोटा। - "लोटा"

§2§ सावन भादों में बहुत चलत है,
माघ पूस में थोरी ।
अमीर खुसरो यों कहैं तू बूझ पहेली मोरी ।
"मोरी"

§3§ बीसों का सिर काट लिया,
ना मारा ना खून किया ।
"नाखून"

§4§ एक नार वह दाँत दँतीली, पतली दुबली छैल छबीली ।
जब बा तिरियहिं लागे भूख, सूखे हरे चबावे रूख ।
जो बताय वाही बलिहारी, खुसरो कहे बरे को आरी ।
"आरी"

§आ§ <u>बहिर्लापिका</u> :- बहिर्लापिका या बिन बूझ पहेलियाँ वे होती हैं जिनमें उत्तर अलग से सोच कर दिया जाता है, पहेली में उत्तर नहीं होता है ।

उदाहरण :-

§1§ झिलमिल का कुँआ, रतन की क्यारी ।
बताओ तो बताओ, नहीं दूँगी गारी । "दर्पण"

§2§ सर पर जटा गले में झोली, किसी गुरु का चेला है,
भर-भर झोली घर को धावे, उसका नाम पहेला है ।

"भुट्टा"

(3) एक पुरुष जब मद पर आए, लाखों नारी संग लपटाय,
जब वह नारी मद पर आए, तब वह नारी नर कहलाय ।

"आम"

(4) है वह नारी सुन्दर नार, नार नहीं पर वह है नार,
दूर से सबको छवि दिखलावे, हाथ किसी ने कभू न आवे ।

"बिजली"

(ड) कहमुकरियाँ :- खुसरो की पहेलियों में कहमुकरियाँ या मुकरी अधिक प्रसिद्ध है । इनका शाब्दिक अर्थ होता है कह कर मुकर जाना । प्राय: इनमें "ए सखि साजन" शब्द आता है । यह लोक प्रचलित पहेलियों का ही एक रूप है, जिसका लक्ष्य मनोरंजन के साथ-साथ बुद्धिचातुरी की परीक्षा लेना होता है । इसमें जो बातें कही जाती हैं, वे द्वयर्थक या श्लिष्ट होती हैं, पर उन दोनों अर्थ में से जो प्रधान होता है, उससे मुकर कर दूसरे अर्थ को उसी छन्द में स्वीकार किया जाता है, किन्तु यह स्वीकारोक्ति स्वाभाविक नहीं होती है ।[1] फिर इसमें सखि के माध्यम से प्रश्न पूछा जाता है और समस्त बातें साजन पर घटित होते हुए भी अन्य सखि उससे मुकर जाती है । उदाहरण देखिए —

§1§ सोभा सदा बढ़ावन हारा । आँखों ते छिन होत न न्यारा ।
आए फिर मेरे मन रंजन । ऐ सखि साजन नासखि अंजन ।।

§2§ आँख चलावे भौं मटकावे, नाच कूद के खेल दिखावें,
मन में आवे ले जाऊँ अन्दर, ऐ सखि साजन ना सखि ।

"बन्दर"

§3§ मोरे मोसे सिंगार करावत, आगे बैठके मान बढ़ावत,
वासे चिक्कन कोई न दीसा, ऐ सखि साजन ना सखि सीसा ।।

§ई§ दो सुखना :- इस प्रकार की पहेलियों में दो या उससे
अधिक प्रश्नों का एक ही उत्तर रहता है । जैसे --

§1§ रोटी जली क्यों ? घोड़ा अड़ा क्यों ?
पान सड़ा क्यों ? §फेरा न था§

§2§ पानी क्यों न भरा, हार क्यों न पहना - §गढ़ा न था§

§3§ सितार क्यों न बाजा, औरत क्यों न नहाई ?

§परदा न था§

§4§ घर क्यों अँधियारा, फकीर क्यों बिड़ारा --

§दिया न था§

§उ§ निसवतें :- निसवत में दो शब्द देकर उनके समान गुण
के आधार पर बात बतलाई जाती है । इसमें अर्थ कौतूहल
के साथ घटित होता है, इसे ही निसवतें कहते हैं ।

जैसे -

(1)	आदमी और गेहूँ में क्या निसबत है ?	बाल
(2)	बादशाह और मुर्गी में क्या निसबत है ?	ताज
(3)	मकान और पायजामें में क्या निसबत है ?	मोरी

(ङ)

(ऊ) अनमेलियां या ढकोसला :- अनमेलियाँ या ढकोसला उन पहेलियों को कहते हैं जिनमें निरर्थक शब्दों का प्रयोग होता है ।

जैसे -

(1) खीर पकाई जतन से चरखा दिया चलाय
आया कुत्ता खा गया, तू बैठी ढोल बजा । ला पानी पिला ।

(2) भैंस चढ़ी बिटोरी, और लपलप गूलर खाय ।
उतर आय मेरी सांड को कहीं दूपज न फट जाए ।।

अतः अमीर खुसरो आदिकाल में खड़ी बोली को काव्य की भाषा बनाने में वे पहले कवि थे । ये मनोरंजन साहित्य के भी प्रणेता थे, मनोरंजन और जीवन पर गहरे व्यंग्य एक साथ इनकी रचनाओं में देखने को मिलते हैं अमीर खुसरों की रचनाओं में भाव को गहराई को दृष्टि से भले ही महत्त्व

न दिया जाय, किन्तु भाषा की दृष्टि से उनकी पहेलियाँ हिन्दी साहित्य के इतिहास का सदा एक महत्वपूर्ण अंग रहेंगी । उनके काव्य में खड़ी बोली काव्य-भाषा बनने का सफल प्रयास कर रही थी । खुसरो की पहेली रचना की इस शैली का हिन्दी काव्य में आगे विस्तार नहीं हुआ । किन्तु रहस्य - प्रवृत्ति के विकास पर उसका प्रभाव अवश्य पड़ा । खुसरो की प्रेरणा से चमत्कार और कूतुहल की प्रवृत्तियाँ भी खुसरो की प्रेरणा से हिन्दी काव्य में विशेष स्थान प्राप्त करने लगी ।

-----0000-----

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1- अलबेरूनी का भारत (अनु० संत राम) तीन भाग इं० प्रे०लि० प्रयाग ।

2- अपभ्रंश भाषा और साहित्य डा० देवेन्द्र कुमार जैन, प्र० भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, कलकत्ता - 27

3- अर्द्ध कथानक, सं० नाथू राम "प्रेमी", हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई सन् 1957

4- अपभ्रंश काव्य त्रयी, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, बड़ौदा - 1927

5- अपभ्रंश का अध्ययन - डा० वीरेन्द्र श्रीवास्तव 1963 ई०

6- अपभ्रंश साहित्य - डा० हरिवंश कोछड़, भारती विद्या मन्दिर दिल्ली

7- अपभ्रंश पाठावली - सं० मधु सूदन मोदी

8- अपभ्रंश भाषा और साहित्य - डा० देवेन्द्र कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, कलकत्ता - 27

9- अंगविज्जा - सं० मुनि पुण्यविजय

10- अमीर खुसरो कृत खालिकबारी - सं० श्री राम शर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा काशी

11- असली पृथ्वीराज रासो, सम्पादक, पं० मथुरा प्रसाद दीक्षित मोती लाल बनारसी दास बनारस 1952

12- आदिकालीन हिन्दी साहित्य शोध - डा० हरीश, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद ।

13- आदिकाल के अज्ञात रास काव्य - डा० हरिशंकर शर्मा "हरीश" मंगल प्रकाशन जयपुर ।

14- आदिकालीन हिन्दी साहित्य - डा० शम्भू नाथ पाण्डेय, विश्व विद्यालय प्रकाशन, वाराणसी 1970

15- आदिकाल की भूमिका - पुरुषोत्तम प्रसाद असोपा, सूर्य प्रकाशन मंदिर बीकानेर 1973

16- आचार्य राम चन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना - डा० राम विलास शर्मा

17- आपणा कविता भाग-1 श्री केशव राम काशी राम शास्त्री

18- आदिकालीन साहित्य की सांस्कृतिक पीठिका - डा० राममूर्ति त्रिपाठी

19- इस्तवार दला लितरेत्यूर ऐन्दुई ऐन्दुस्तानी - सं० डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय हिन्दुस्तान एकेडमी प्रयाग 1952

20- इतिहास और आलोचना - डा० नामवर सिंह
इब्तदाई नशोबनुमा में सूफियाय कराम का काम - मौ० अब्दुल हक

21- उत्तर भारत की संत परम्परा - परशुराम चतुर्वेदी

22- उक्ति व्यक्ति प्रकरण - भारतीय विद्या भवन बम्बई संवत् 2010

23- उर्दू साहित्य का इतिहास - डॉ० एजाज हुसैन राज कमल प्रकाशन 1957

24- ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह - अगर चंद नाहटा संवत् 1994

25- कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, 1947 ई०

26- कबीर ग्रंथावली सं० श्याम सुन्दर दास ना०प्र०सभा काशी

27- कीर्ति लता और अवहट्ट भाषा - डॉ० शिव प्रसाद सिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय 1955 तथा द्वितीय संस्करण 1964

28- कबीर की विचार धारा - डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, सा० निकेतन कानपुर द्वितीय संस्करण सं० 2014

29- कबीर बीजक- सं० डॉ० शुकदेव सिंह, नीलाभ प्रकाशन इलाहाबाद

30- कुतुब शतक और उसकी हिन्दुई डॉ० माता प्रसाद गुप्त,
भारतीय ज्ञान पीठ सन् 1967

31- कीर्ति लता - वासुदेव शरण अग्रवाल

32- कीर्ति पताका - सं० डॉ० उमेश मिश्र अखिल भारतीय मैथिली साहित्य
समिति, तीरभुक्ति इलाहाबाद 1960

33- खुसरो की हिन्दी कविता - ब्रजरत्न दास, ना०प्र० सभा काशी 2014

34- गीतावली - तुलसी दास - गीता प्रेस, गोरखपुर

35- गोरखनाथ और उनका हिन्दी साहित्य - कमल सिंह, सुधा कमल
प्रकाशन मुजफ्फर नगर 1983

36- गोरखबानी (सं०) डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल सं० 1999

37- गुजराती साहित्य खण्ड-5, श्री क०मा०मुंशी बम्बई 1929 ई०

38- गुरु ग्रंथ साहब

39- गोरखनाथ और उनका युग - डॉ० रांगेय राघव

40- गोरखनाथ दर्शन - केशव चंद्र सिन्हा

41- चन्दबरदाई और उनका काव्य, डॉ० विपिन बिहारी त्रिवेदी 1952

42- चन्दायन - माताप्रसाद गुप्त

43- चन्दायन - डॉ० परमेश्वरी लाल गुप्त, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर प्रा०लि० बम्बई

44- जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्य संग्रह (सं०) मुनि जिन विजय, श्री जैन आत्मानंद
सभा, भावनगर 1927

45- जैन भक्ति काव्य और कवि - प्रेम सागर जैन

46- जैन भक्ति काव्य की भूमिका, प्रेम सागर जैन

47- जैन साहित्य और इतिहास, पं० नाथू राम प्रेमी, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर बम्बई 1956 ई०

48- डिंगल साहित्य - डॉ० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव, हिन्दुस्तान एकेडमी उ०प्र० इलाहाबाद 1960

49- डिंगल में वीर रस - डॉ० मोती लाल मेनारिया सं० 2008

50- ढोला मारू रा दूहा - ना०प्र० सभा काशी सं० 2011

51- ढोला मारू रा दूहा में काव्य सौष्ठव - डॉ० भगवती लाल वर्मा

52- तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य - डॉ० नागेन्द्र उपाध्याय ना०प्र० सभा काशी

53- तबका त शुअरा, मौलवी करीमुद्दीन, दिल्ली कालेज दिल्ली 1848 ई०

54- दक्खिनी हिन्दी काव्यधारा - सं० राहुल सांकृत्यायन, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना सं० 2015

55- दक्खिनी हिन्दी पद्य और गद्य - सं० श्री राम शर्मा

56- दक्खिनी हिन्दी का उद्भव और विकास- डॉ० श्री राम शर्मा हिन्दी सा०स० प्रयाग

57- दक्खिनी के सूफी लेखक - विमल वाघरे

58- दक्खिनी हिन्दी - डॉ० बाबू राम सक्सेना, हिन्दुस्तानी एकेडमी उ०प्र० इलाहाबाद सन् 1952

59- दोहाकोश - सं० राहुल सांकृत्यायन, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद ।

60- नाथ सम्प्रदाय- हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडमी उ0प्र0 इलाहाबाद 1950 ई0 ।

61- नाथ और सन्त साहित्य- डॉ0 नागेन्द्र उपाध्याय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी ।

62- नाथ सिद्धों की बानियाँ, सं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ना0प्र0 सभा काशी, प्र0 संस्करण संवत् 2014

63- निर्गुण काव्य पर सूफी प्रभाव- डा0 रामपति राय शर्मा, पुस्तक संस्थान कानपुर 1977

64- पउम चरिउ- स्वयंभू प्र0 भारतीय ज्ञान पीठ काशी सन् 1958

65- पुरातन प्रबंध संग्रह सं0 मुनिजिनविजय, सिन्धी जैन विद्यापीठ कलकत्ता सन् 1936

66- पुरानी हिन्दी, चंद्रधर शर्मा गुलेरी ना0प्र0 सभा ।

67- पृथ्वी राज रासो की विवेचना, सं0 मोहन लाल व्यास शास्त्री साहित्य संस्थान, राजस्थानी विद्यापीठ उदयपुर

68- पृथ्वीराज रासउ - माता प्रसाद गुप्त

69- पृथ्वी राज रासो भाग 1, (सं0) कवि राव मोहन सिंह साहित्य संस्थान, उदयपुर

70- पृथ्वी राज रासो की भाषा, डॉ0 नामवर सिंह 1956 ई0

71- पाहुड़ दोहा - मुनि राम सिंह, सं0 डॉ0 हीरा लाल जैन कारंजा जैन सिरीज, कारंजा

72- प्राकृत और उसका साहित्य, डॉ0 हरदेव बाहरी, राजकमल प्रकाशन

73- प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य डॉ0 रामसिंह तोमर

74- पुरातत्व निबन्धावली - राहुल सांकृत्यायन इण्डियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग

75- प्रबन्ध चिन्तामणि, सिन्धी जैन ग्रंथ माला, शान्ति निकेतन 1933 ई0

76- प्रबन्ध कोश - राजशेखर, सिन्धी जैन ग्रंथ माला, शान्ति निकेतन सन् 1935

77- परमात्म प्रकाश- योगीन्दु मुनि - सं0 श्री ए0एन0 उपाध्ये, परमश्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई 1937 ई0

78- प्राकृत पैंगलम् भाग 1-2, सं0 डॉ0 भोला शंकर व्यास, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी 1959 ई0

79- प्रबन्ध चिन्तामणि, डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवदी {अनु0}

80- प्राचीन गुर्जर ग्रंथ माला, सं0 डॉ0 भोगी लाल सांडेसरा सं0 2011

81- प्राचीन काव्यों की रूप परम्परा- अगर चंद नाहटा

82- प्राचीन भारत- राजबली पाण्डेय

83- प्राचीन भारत का इतिहास- विद्याधर महाजन

84- प्राचीन फागु संग्रह, सं0 डा0 भोगी लाल सांडेसरा

85- प्राचीन भारतीय संस्कृति कला एवम् दर्शन - एम0पी0 श्रीवास्तव एवम् श्रीमती शारदा अग्रवाल

86- प्राचीन भारत का राजनैतिक एवम् सांस्कृतिक इतिहास, रतिभानु

87- फार्बस गुजराती सभा ग्रंथावली - सं0 डा0 मायाणी

88- बौद्ध गान औ दोहा- हरप्रसाद शास्त्री, बंगीय साहित्य परिषद कलकत्ता

89- बोसल देव रास, सं0 डॉ0 माता प्रसाद गुप्त, अगर चंद नाहटा, हिन्दी परिषद प्रकाशन 1953 ई0

90- बोसल देव रासो- सं0 सत्यजीवन वर्मा, प्र0 ना0प्र0 सभा काशी

91- भविष्यत कहा - धनपाल

92- भारतीय दर्शन, डॉ0 बलदेव उपाध्याय, 1948 ई0

93- भरतेश्वर बाहुबलि रास, सं0 लालचंद भगवान चंद गांधी, प्राच्य विद्या मंदिर बड़ोदरा

94- मिश्र बन्धु विनोद - मिश्रबन्धु इण्डियन प्रेस इलाहाबाद 1913

95- मध्ययुग का इतिहास - डॉ0 ईश्वरी प्रसाद

96- मध्ययुगीन धर्म साधना, डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, सा0 भवन लिमिटेड इलाहाबाद 1962

97- मुस्लिम कालीन भारत- विद्याधर महाजन

98- मध्य देश - डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद पटना

99- मराठी का भक्ति साहित्य - प्रो0 भी0गो0 देशपाण्डे

100- राजस्थानी भाषा और साहित्य - डॉ0 हीरालाल माहेश्वरी

101- राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा - श्री मोती लाल मेनारिया हि0सा0 सम्मेलन प्रयाग

102- राजस्थानी साहित्य की कुछ प्रवृत्तियाँ- डॉ0 नरेश भानावत, रोशन लाल जैन एण्ड सन्स जयपुर

103- रासो साहित्य विमर्श - डा० माता प्रसाद गुप्त साहित्य भवन लि० प्रयाग 1962

104- रास और रासान्वयी काव्य - डा० दशरथ ओझा और डा० दशरथ शर्मा

105- राउरवेल और उसकी भाषा - सं० माता प्रसाद गुप्त मित्र प्रकाश प्रा० लि० इलाहाबाद

106- राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज [प्रथम भाग] - सं० डा० मोती लाल मेनारिया विद्यापीठ, उदयपुर

107- रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ - डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ना०प्र० सभा काशी

108- रणमल्ल छन्द, सं० मूल चंद प्राणेश, भारतीय विद्यामन्दिर शोध प्रतिष्ठान बीकानेर, सन् 1972

109- राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज [तृतीय भाग]
सं० डा० उदय सिंह भटनागर, सा० संस्थान राजस्थान विश्वविद्यालय

110- राजस्थानी साहित्य की गौरवपूर्ण परम्परा - अगर चंद नाहटा, राधा कृष्ण प्रकाशन 1967

111- राजस्थानी साहित्य का इतिहास - डा० पुरुषोत्तम लाल मेनारिया मंगल प्र० जयपुर 1947

112- राजस्थान के जैन शास्त्र भाण्डारों की ग्रंथ सूची [भाग-4]
सं० डा० कस्तूर चंद कासली वाल

113- वर्ण रत्नाकर - सं० सुनीति कुमार चटर्जी और बाबू मिश्र रायल सोसायटी आफ बंगाल 1940

114- बसंत विलास - सं० के० बी० व्यास

115- बसंत विलास फागु - सं० डा० माता प्रसाद गुप्त

116- विद्यापति - डा० शिव प्रसाद सिंह, लोक भारती प्र० इला०

117- विद्यापति की पदावली - सं० श्री राम वृक्ष बेनीपुरी, लहेरिया सराय

118- वीर काव्य - डा० उदय नारायण तिवारी संवत् 2005

119- साहित्येतिहास आदिकाल - डा० सुमन राजे

120- शिव सिंह सरोज - शिव सिंह सेंगर, नवल किशोर, प्रेस लखनऊ 1878 ई०

121- संस्कृति के चार अध्याय - डा० रामधारी सिंह दिनकर,
प्र० राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, 1936

122- संक्षिप्त पृथ्वी राज रासो, हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० नामवर सिंह,
सा०भ०प्रा० लि० इलाहाबाद

123- सन्त साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि - ओम प्रकाश शर्मा

124- साहित्य का इतिहास दर्शन - नलिन विलोचन शर्मा

125- साहित्य के रूप - डा० राम अवध, भारतीय भण्डार, लीडर प्रेस,
इलाहाबाद, सं० 2018

126- सिद्धों की काव्य भाषा का अध्ययन - किशोरी लाल शर्मा

127- संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर - ना० प्र० सभा काशी.

128- सूर पूर्व ब्रजभाषा और साहित्य - डा० शिव प्रसाद सिंह,
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी

129- सिद्ध साहित्य - डा० धर्म वीर भारती, किताब महल, इलाहाबाद 1955

130- समराइच्च कहा - सं० डा० हर्मन याकोबी

131- सूफी मत साधना और साहित्य - डा० रामपूजन तिवारी ज्ञान मण्डल
लि० बनारस सं० 2013

132- सन्देश रासक - सं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा विश्वनाथ त्रिपाठी

133- श्रीमद्भागवत [द्वि0 खण्ड] गीता प्रेस - गोरखपुर

134- हिन्दी काव्य धारा - राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद

135- हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, डा0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल सं0 2007

136- हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, श्री नामवर सिंह 1954 ई0

137- हिन्दी के स्वीकृत शोध प्रबन्ध - डा0 उदय भानु सिंह, 1959 ई0

138- हिन्दी भाषा का इतिहास, डा0 धीरेन्द्र वर्मा, 1953

139- हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, डा0 उदय नारायण तिवारी, सं0 20.12

140- हिन्दी वीर काव्य, डा0 टीकम सिंह तोमर

141- हिन्दी साहित्य, डा0 श्याम सुन्दर दास, 1953 ई0

142- हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास - अनु0 किशोरी लाल गुप्त, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी

143- हिन्दी साहित्य का इतिहास - राम चन्द्र शुक्ल, ना0प्र0 सभा

144- हिन्दी साहित्य का इतिहास - रमा शंकर शुक्ल "रसाल" इलाहाबाद सन् 1931

145- हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास [द्वि0 भाग] सं0 डा0 धीरेन्द्र वर्मा ना0प्र0 सभा काशी

146- हिन्दी काव्य की सामाजिक भूमिका - शम्भू नाथ सिंह

147- हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका - डा0 रामनरेश वर्मा ना0प्र0 सभा काशी

148- हिन्दी साहित्य का इतिहास - सं० डा० नगेन्द्र

149- हिन्दी संतों का उलट वासी साहित्य - डा० रमेश चंद्र मिश्र

150- हिन्दी साहित्य का अतीत (भाग-1) आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी वितान प्र0, ब्रह्मनाल, वाराणसी

151- हिन्दी भाषा और साहित्य - श्याम सुन्दर दास, इण्डियन प्रेस, प्रयाग सं० 1987

152- हिन्दी साहित्य आलोचनात्मक इतिहास - डा० राम कुमार वर्मा, रामनारायण लाल, इलाहाबाद

153- हिन्दी साहित्य का आदिकाल - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना-3 1952

154- हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास - डा० गणपति चन्द्र गुप्त, भारतेन्दु भवन, चण्डीगढ़-2

155- हिन्दी साहित्य का नया इतिहास - डा० राम खिलावन पाण्डेय, अनुपम पटना 1969

156- हिन्दी साहित्य कोश (भाग-1) सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा तथा अन्य ज्ञान मण्डल, वाराणसी

157- हिन्दी साहित्य भूमिका - हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई 1950

158- हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास (भाग-4) सं० परशुराम चतुर्वेदी ना०प्र० सभा, काशी

159- हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, कामता प्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, फरवरी 1947

160- हिन्दी शब्द सागर (भाग-3,6,7) ना०प्र०सभा काशी

161- हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास - डा० शम्भू नाथ सिंह, हि०प्र०

पत्र पत्रिकाएँ

1- अनेकान्त

2- आलोचना

3- आजकल

4- भारतीय साहित्य

5- नागरी प्रचारिणी पत्रिका

6- राजस्थान भारती

7- विश्व भारती

8- वीर वाणी

9- शोध पत्रिका

10- हिन्दुस्तानी पत्रिका

11- हिन्दी अनुशीलन

1. A History of Indian literature (Vol. II)
Winternith University of Calcutta, 1933

2. An Introduction of Tourtnic Buddism - Dr. Shashi
Bhushan Das Gupta, University of Calcutta 1950

3. Grains of Gold - R. S. Desikan

4. Gujrat and its literature - K. M. Munshi

5. History of Mediaeval India - Dr Ishwari Prasad.

6. Journal of the Bhagalpur University.

7. Journal of Asiatic Society of Bengal (Vol. 55 Part-I)

8. Liuguistic survey of India (IX)

9. Mediaeval mysticism of India - Kshiti Mohan Sen

10. Sanskrit - English Doctionary - V. S. Apte.

11. The Journal of the Kaniga lubtorical research society